



THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

जैनागम सूक्ति-सुधा

प्रथम भाग

२३

संग्राहक:

जैन दिवाकर, वाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक

स्वर्गीय जैनाचार्य श्री १००८ श्री अमोलक

ऋषि जी महाराज के सुशिष्य

मुनि श्री कल्याण ऋषि जी

टीका, अनुवाद, पारिभाषिक-कोष, व्याख्या आदि के

कर्त्ता और संपादक.

रतनलाल संघवी

न्यायतीर्थ-विशारद

१

श्रीराम २४७७

अमोल स ११

सर्वाधिकार सुरक्षित हैं

दीपमालिका २००७

ता. ९-११-१९५०

पुस्तक प्राप्ति-स्थान

(१) श्री अमोल जैन ज्ञानालय,
तेली गली, पो० घूलिया
(पश्चिम खानदश)

(२) प० रतनलाल सघवी
पो० छोटी सादड़ी,
वाया-नीमच (सी. आई)

Copy-Right.

प्रथम आवृत्ति १५००

मूल्य २।।।)

मुद्रक

कन्हैयालाल पृ शाह, दी ओरिएण्ट प्रिंटिंग हाउस, नईवाड़ी.

दादी मेठ अग्यारी लेन, बम्बई न. २

समपण

तपो निधि, बाल ब्रह्मचारी, साहित्य सेवी,
आचार्य प्रवर, पूज्य गुरु देव श्री १००८ श्री;

स्वर्गीय अमोलक ऋषि जी महाराज के

पुनीत चरण कमलो में—

परम आराध्य देव !

आप ही की सत् कृपा से मेरी यह आत्मा मोक्ष-पथ की पथिक बन सकी है, सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र की आराधना करने वाली हो सकी है, दुर्लभ मुनि पद और वीतराग-वाणी को प्राप्त कर सकी है, इस प्रकार आप जैसे महान् सन्त और गुरु देव के अनन्य उपकार और सात्विक प्रेम से आकर्षित होकर श्री सघ तथा जनता की सेवा के लिए आप के पवित्र चरण कमलो में श्रद्धा के साथ यह ग्रंथ समर्पित हूँ ।

रायचूर
दीपमालिका २००७

}

लघु-सेवक
मुनि कल्याण ऋषि.

धन्यवाद

इन प्रेमी सज्जनो ने उदारता पूर्वक ज्ञान प्रचार के लिये और धार्मिकता के विकास के लिये इस ग्रंथ के प्रकाशन के लिये निम्न प्रकार से आर्थिक सहायता प्रदान की है, जिसके लिये धन्यवाद के साथ अपना आभार प्रकट करता हूँ ।

- ६२५) श्री बोहरा ब्रदर्स, रायचूर,
- ३७५) श्री माणकचंद जी पूसालालजी, रायचूर.
- ३७५) श्री जैन सघ, सिंधनूर (जिला-रायचूर)
- २५०) श्री बस्तीमलजी मूथा की धर्म पत्नी श्री पतासा बाई की ओर से, रायचूर.
- २५०) श्री राजमलजी खेमराजजी भंडारी, रायचूर,
- २५०) ,, तेजमलजी उदयरजजी रूणवाल, रायचूर
- २५०) ,, गुलाब चन्दजी, चौथमलजी बोहरा रायचूर
- २५०) ,, जैन सघ, गजेन्द्रगढ (जिला धारवाड़)
- २५०) श्री रवीवराजजी चौरडिया की धर्मपत्नी श्री भंवरी-बाई की ओर से, मद्रास.
- २५०) श्री सलहराजजी राका की धर्मपत्नी श्री दाखाबाई की ओर से, मद्रास.
- २५०) श्री जयवतमलजी चौरडिया के सुपुत्र श्री मोहन-लालजी, मद्रास
- १२५) श्री कालुरामजी चाँदमलजी मूथा, रायचूर.
- १२५) ,, नेमिचंद जी हीरालाल जी, रायचूर
- ६२॥) ,, लालचंद जी वाघमार की धर्मपत्नी श्री सूरजबाई की ओर से, रायचूर
- ६२॥) श्री सज्जनराजजी किशनलालजी, रायचूर.

निवेदक
संपादक.

प्रतियां—परिचय और सूचना

[जिन आगम-प्रतियों से ये सूक्तियाँ सकलित की गई हैं, उनका परिचय और तत्सम्बन्धा सूचनाएँ इस प्रकार हैं]

१—दशवैकालिक सूत्र और २ उत्तराध्ययन सूत्र

पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा संपादित और लाला ज्वाला प्रसाद जी तथा जैन शास्त्र माला कार्यालय लाहौर द्वारा क्रम से प्रकाशित ।

३—सूयगडाङ्ग सूत्र.

स्वर्गीय आचार्य श्री जवाहिरलाल जी महाराज द्वारा संपादित और श्री सध राजकोट द्वारा प्रकाशित ।

४—आचाराङ्ग सूत्र.

सिद्ध-चक्र साहित्य प्रचारक समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित ।

५—उववाइ सूत्र, ६ ठाणाङ्ग सूत्र और ७ नंदी-सूत्र:

स्वर्गीय आचार्य श्री अमोलख ऋषि जी महाराज द्वारा अनुवादित और लाला जैन-शास्त्र भंडार हैदराबाद द्वारा प्रकाशित ।

सूचनाएँ

१—सूयगडाङ्ग-सूत्र की सूक्तियाँ केवल प्रथम श्रुत स्कंध में से ही और उत्तराध्ययन सूत्र की सूक्तियाँ प्रथम से वतीस अध्ययन में से ही सकलित की गई हैं ।

२—आचाराङ्ग सूत्र की सूक्तियाँ, बम्बई की प्रति में जिस क्रम से रख दिया गया है, उसी क्रम से सत्यानुसार उद्धृत की गई हैं ।

३—उववाई-सूत्र की सूक्तियाँ केवल सिद्ध-वर्णन में से ही ग्रहण की गई हैं ।

४—नदी सूत्र की केवल प्राथमिक मंगलाचरण की राथाओं में से ही कुछ एक सूक्तियाँ ली हैं ।

५—ठाणाङ्ग सूत्र की सूक्तियाँ स्थूल दृष्टि कोण से ही एकत्र की गई हैं ।

६—इन सात सूत्रों में संग्रहित सूक्तियों के अलावा আর भी बहूत सूक्तियाँ हैं, जिन्हें यथा समय सुविधानुसार अन्य सूत्रों की सूक्तियों के साथ द्वितीय भाग में सकलित करने की भावना है ।

संकेत-परिचय

इ.	दशवैकालिक	सूत्र
उ.	उत्तराध्ययन	"
सू.	सूयगडाङ्ग	"
आ.	आचाराङ्ग	"
उव	उववाइ	"
ठाणा	ठाणाङ्ग	"
न-	नदी	"

‘सूत्र वाचक’ ‘अक्षर’ के आगे पहली संख्या “अध्ययन” का नंबर बताती है और दूसरी संख्या उसी अध्ययन का गाथा का नंबर समझाता है ।

उ	उद्देशा
उ. १ =	उद्देशा पहला
उ. २ =	उद्देशा दूसरा
उ. ३ =	उद्देशा तीसरा
उ. ४ =	उद्देशा चौथा
उ. ५ =	उद्देशा पाचवा
उ. ६ =	उद्देशा छठा

इसी प्रकार ‘उ’ के आगे “उद्देशा” के नंबर के आगे की संख्या उसी उद्देशा के उस सूत्र का क्रम नंबर समझाती है ।

= गद्य

संख्या = नदी सूत्र की प्रारम्भिक गाथाओं के क्रम नंबर को समझाती है ।

= उववाइ सूत्र का सिद्ध वर्णन ।

मिद्ध. संख्या = उववाइ सूत्र के सिद्ध-वर्णन सबही गाथाओं के क्रम नंबर समझता ।

ग० संख्या = ठाणांग सूत्र के ठाणों का क्रम नंबर समझता ।

श० संख्या-संख्या = ठाणाङ्ग सूत्र के ठाणों के सूत्रों का क्रम नंबर है ।

मेरा निवेदन

—०—

सम्माननीय पाठक गण !

आज आपकी सेवा में यह जैन-गम सूक्ति सुधा प्रथम भाग प्रस्तुत करते
अपूर्व आनन्द अनुभव हो रहा है ।

पुस्तक का प्रमुख और सर्वोत्तम ध्येय जनता का नैतिक धरातल ऊँचा
उठाना और वास्तविक आत्म-शांति का अनुभव कराना है । जिससे कि
चारित्र्य शीलता के साथ जन साधारण की सेवा-प्रवृत्ति का विकास हो ।

और जैन दर्शन की मान्यता है कि बिना चारित्र्य शीलता के
जनता की सेवा वास्तविक अर्थ में नहीं हो सकती है । चारित्र्य-शीलता, अनु-
शासन-प्रियता, और सेवा-वृत्ति ही किसी भी राष्ट्र की स्थायी नाव होती है,
जिसके आधार पर ही राष्ट्र की सभ्यता, संस्कृति, शांति और समुन्नति का
सर्वतोमुखी विकास हो सकता है । नैतिक धरातल के अभाव में राष्ट्र का
पतन ही होता है, उन्नति नहीं हो सकती । आज भारतवर्ष का जो नाना-
विध आर्थिक, सामाजिक और अन्य कठिनाइयों का गंभीर अनुभव हो रहा
है, उसके मूल में नैतिकता का और सात्विकता का अभाव ही कारण है ।
जैन धर्म निवृत्ति का जो उपदेश देता है, उसका तात्पर्य जीवन में निष्क्रियता
या अकर्मण्यता से नहीं है, बल्कि अनासक्तता और सात्विकता पूर्ण नैतिकता
वाला जीवन व्यतीत करते हुए जनता की सर्व-धिवि सेवा करना जैन धर्म
के अनुसार सच्ची प्रवृत्ति है, और ऐसी प्रवृत्ति ही आत्म-शांति प्रदान कर
सकती है । ऐसी प्रवृत्ति वाले के लिए कहा गया है कि:—

“जे आसवा ते परिस्सवा” और “समिय ति मत्तमाणस्ससमिया वा असमिया वा समिआ होई ।” अर्थात् जिन्हें साधारण तौर पर आश्रव कहा जाता है और जिसे मिथ्यात्व माना जाता है, वे ही कार्य और प्रवृत्ति “अनासक्त और नैतिकता” वाले के लिये सवर तथा सम्भवत्व बन जाया करते हैं। अतएव जैन धर्म की निवृत्ति का अर्थ अकर्मण्यता एवं निष्क्रियता नहीं माना जाय।

महात्मा गाँधी का जीवन अनासक्त और निवृत्ति वाला होता हुआ भी महती प्रवृत्ति वाला ही था, इसी तरीके से जीवन का व्यतीत करना, जीवन में उच्च से उच्च गुणों को स्थायी रूप से विकसित करना, नैतिकता तथा सात्विकता को आधार बना कर जीवन को आदर्श बनाना, यही इस पुस्तक का तात्पर्य और उद्देश्य है। आशा है कि पाठकगण इससे समुचित लाभ उठावेंगे।

पुस्तक-रचना के समय यह दृष्टिकोण रक्खा गया है कि बालक, विद्यार्थी, अध्यापक, श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी, व्याख्याता, उपदेशक, लेखक और जन साधारण सभी के लिये पुस्तक उपयोगी हो। इसीलिए टीका, छाया और पारिभाषिक शब्द कोष (व्याख्या-कोष)—की रचना की गई है। प्राकृत शब्द कोष मूल और मूल सूक्तियों की संस्कृत—छाया भी देने का पूरा विचार था। परन्तु पुस्तक की पृष्ठ-संख्या आशा में अधिक बढ़ जाने के कारण यह विचार अभी स्थगित ही रखना पड़ा है। प्राकृत-शब्द कोष तैयार किया जाकर प्रेस में दिया ही जाने वाला था, परन्तु अन्तिम समय में उसे रोक देना पड़ा।

सभी सूक्तियाँ अकार आदि क्रम से—कोष पद्धति से—परिशिष्ट न. १ में दी हैं जिससे कि स्वाध्याय करने वालों के लिये और अनुसंधान करने वालों के लिए सुविधा रहे।

मूल शाब्दिक स्वरूप समझाने के लिये शब्दानुलक्षी अनुवाद भी दिया है। टीका को व्यवस्थित समझाने के लिए टीका में आये हुए पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या भी दी है।

इस प्रकार जन साधारणके लिये यह पुस्तक उपयोगी प्रतीत हुई तो दूसरों सस्करणमें—संस्कृत छाया और प्राकृत शब्द कोष भी जोड़ने-का विचार है । सूक्तियों की प्रामाणिकता के लिये और मूल स्थान का अनुसंधान करने के लिये प्रत्येक सूक्ति के नीचे आगम—नाम, और अध्ययन का नंबर तथा गाथा का नंबर तक दे दिया गया है । जिससे कि व्याख्यान देते समय और निबन्ध—लेख आदि लिखते समय सूक्तियों का समुचित उपयोग किया जा सके ।

पुस्तक में अनेक स्थानों पर विषय का पिष्ट-पेषण सा प्रतीत होता है, इसका कारण अनेक सूक्तियों की सदृश स्थिति है, जिससे कि विवशना है ।

पुस्तक के निर्माण करने में श्री वीर वर्धमान श्रमणसभ के प्रधान जैनाचार्य पंडितवर श्री आनन्द ऋषिजी महाराज के आज्ञानुवर्ती मुनिश्री कल्याण ऋषिजी महाराज और मुनिश्री मुलतान ऋषिजी महाराज और महासतीजी प्रवर्तिनीजी श्री सायर कुवर महाराज का सहयोग और सहानुभूति प्राप्त रही है, अतएव इन सत्तों का मैं आभारी हूँ ।

यदि इनका कृपा—पूर्ण सहयोग नहीं होता तो पुस्तक इस रूप में शायद ही उपलब्ध हो सकती थी । मुनि श्री कल्याण ऋषिजी महाराज वाल ब्रह्मचारी हैं, विनयी हैं, साहित्यानुरागी हैं और भद्र प्रकृति के साधु हैं ।

इसी प्रकार मुनि श्री मुलतान ऋषिजी महाराज याग्य सलाहकार, दीर्घ-दर्शी, विवेकी और व्यवहार कुशल हैं ।

जैनाचार्य कविवर श्री नागचन्द्रजा महाराज की भी समय समय पर उत्तम सलाहें प्राप्त होती रही हैं, अतएव उन्हें भी धन्यवाद है ।

‘पुस्तक की छपाई सम्बन्धी सभी प्रकार की व्यवस्था करनेके
 “‘जैनप्रकाश वर्मन्वई” के सहसपादक श्रीयुत रत्नकुमारजी ‘रत्नेश’ ने काफी
 श्रम उठाया है, इसके लिये उनका भी आभार प्रदर्शित करता हूँ ।

‘जिन सात आगमोंकी प्रतियों से ये सूक्तियाँ संग्रहित की गई हैं उनके
 सपादकों का और प्रकाशकों का भी मैं कृतज्ञ हूँ ।

कलापूर्ण छपाई और शुद्धि की ओर मेरा खास ध्यान रहा है, और इसके
 लिये प्रयत्न तथा अपेक्षाकृत अधिक खर्च भी किया है, फिर भी त्रुटियों का
 रह जाना स्वाभाविक है, इसके लिये पाठक गण क्षमा करे, और उन्हें सुधार
 कर पढ़नेकी कृपा करे ।

पुस्तक की त्रुटियों और अशुद्धियों के सवधमें पाठक गण मुझे लिखने की
 कृपा करेंगे तो मैं उनका परम कृतज्ञ रहूँगा, तथा सूचनानुसार दूसरी आवृत्ति
 में सुधारने का प्रयत्न करूँगा ।

अन्तमें यही निवेदन है कि यदि इस पुस्तक से पाठकों को कुछ भी लाभ
 पहुँचा तो मैं अपना यह श्रम साध्य सारा प्रयत्न सफल समझूंगा । ॐ शान्ति ।

विजयदशमी, }
 सवत् २००७ }

विनीत

विषय-सूची

(सूक्तियाँ-संबंधी)

— ० —

संख्या	नाम	सूक्ति-संख्या	पृष्ठ संख्या
१	प्रार्थना-मंगल-सूत्र	२१	१
२	आत्म-वाद "	१८	८
३	दुर्लभ-शिक्षा "	१८	१५
४	ज्ञान "	२०	२०
५	दर्शन "	१२	२७
६	चारित्र्य "	६	३१
७	तप "	२६	३३
८	मोक्ष "	१९	४१
९	धर्म "	३७	४८
१०	अहिंसा "	२३	५९
११	सत्य आदि भाषा "	४७	६५
१२	शील-ब्रह्मचर्य सूत्र	३२	७८
१३	अपरिग्रह "	२	८८
१४	वैराग्य "	२४	८९
१५	कर्त्तव्य "	२१	९७
१६	सद्गुण "	२५	१०३
१७	क्षमा "	८	१११
१८	सात्त्विक-प्रवृत्ति "	२२	११४

संख्या	नाम	सूक्ति संख्या	पृष्ठ संख्या
१९	उपदेश	सूत्र ९४	१२०
२०	श्रमण-भिक्षु	" ५४	१४६
२१	महापुरुष	" ४९	१६२
२२	प्रशस्त	" २५	१७७
२३	योग	" ४	१८५
२४	अनित्यवाद	" २८	१८७
२५	कर्म-वाद	" २८	१९६
२६	कषाय-सूत्र	३७	२०४
२७	कामादि दुर्वासना	" ३९	२१४
२८	क्रोध	" ७	२२६
२९	हिंसा	" ८	२२८
३०	लोभ	" १६	२३१
३१	अधर्म	" २	२३६
३२	भोग-दुष्प्रवृत्ति	" १५	२३७
३३	अनिष्ट प्रवृत्ति	" ४०	२४२
३४	वाल जन	" ३८	२५४
३५	ससार-स्थिति	" १४	२६५
३६	प्रकीर्णक	" ४६	२७०

नोट —कुल सूक्तियों की संख्या ९२५ है ।

परिशिष्ट

- १ सूक्तिया-कोप पद्धति से (शब्दानुलक्षी अनुवाद सहित) २८७
- २ पारिभाषिक शब्द सूची ४०७
- ३ पारिभाषिक शब्दों का व्याख्या कोष ४१४

शुद्धि-पत्र

सूचना .—१—पुस्तक में ध्यान पूर्वक प्रुफ सशोधन करने पर भी कई एक त्रुटियाँ रह गई हैं, अतएव कृपालु पाठक सुधार कर पढ़ने की कृपा करें ।

२ :—छपते समय चलती मशीन में भूमिका भाग में और पुस्तक में “काना, मात्रा अनुस्वार, रेफ, ऋ,” आदि कई एक चिह्न अत्यधिक मात्रा में अनेक स्थानों पर टूट गये हैं, यदि इन त्रुटित-मात्राओं का शुद्धि पत्र तैयार किया जाता तो बहुत बड़ा शुद्धिपत्र तैयार हो जाता, इसलिये ध्यान पूर्वक मात्राओंको यथा स्थान पर जोड़ते हुए सुधार कर पढ़ने का प्रार्थना है ।

३:—शुद्धि-पत्र में नीचे पृष्ठ की पक्तियों की गणना में “ पृष्ठ सत्या, सूत्र सत्या, और सबध निर्देश भी” एक एक पक्ति के रूप में गिने हैं, यह बात ध्यान में रहे ।

भूमिका भाग

पृष्ठ संख्या	पक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२	८	वज्ञान	विज्ञान
४	२२	आसाधारण	असाधारण
५	२	वर्ग	वर्ग
६	२	विश्व	विश्व
८	५	दाव	दान
९	२३	प्रेमा	प्रेमी
९	२३	बखूवा	बखूवी

आ

पृष्ठ सख्या	पवित्र सख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१०	२७	रूपान्तर	रूपान्तर है
११	१२	अनतनत	अनंतानत
११	२९	वकाम	विकाम
१२	७	अ त	अनत
१२	२३	मवत	मुवत
१२	२५	होती	होती हैं
१४	१	४१	१४
१४	१८	जता	जाता
१६	१५	इम	इस
१६	२३	सहचरी	सहचारी
१६	२६	अनित्य	अनित्यत्व
१७	४	जता	जाता
२०	२०	पराक्षण	परीक्षण
२३	२	दृश्यमान	दृश्यमान
२४	२६	सा	सी
२४	२७	जावन	जीवन
२५	२४	शली	शैली
२६	३	में	मे
२६	१७	२००९	२००७

— — —

पुस्तक-भाग

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
३	८	सट्ठे	सेट्ठे
४	१२	वधू	वधू
४	२५	णदो	णदो
५	२२	मुणा	मुणी
८	१३	कृति	आकृति
२८	१२	सासार	ससार
२९	२०	लसएज्जा	लूसएज्जा
३६	२५	विइं	विरइ
३९	१०	स्थिति	स्थित
४२	१९	सिद्ध	सिद्धे
५१	१६	विदित्तण	विदित्ताण
५१	२३	रज्जमण	रज्जमाण
५१	२३	वरज्जइ	विरज्जइ
५५	२	अणुत्तर	अणुत्तरे
५७	३	लभज्जा	लभेज्जा
६३	११	एभूहि	भूएहि
६४	१६	अणयाण	अणियाण
७५	३	स	मुस
७७	३	आलाव	आलावे
७७	११	पोलना	वोलना
८०	८	ज०	द०
८३	११	काया	मन, वचन, काया
८४	१०	इत्थाण	इत्थीणं

पृष्ठसंख्या	पक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
८४	१८	मुवयति	मुवयति
८५	२२	तो	तो भी
८६	१३	आहार	आहार
८९	३	म	मे
९०	२२	निवइय	निवइय
९३	१२	हुवन्ति	हवन्ति
९४	८	तमं	तुम
९४	२३	अभिपत्थएज्ज	अभिपत्थएज्जा
९५	२४	कर्त्तव्य	कर्त्तव्य
१०६	१८	वेयवी	वेयवी
१०६	२५	धम्म	धम्म
१११	३	सविज्ज	सेविज्ज
११४	१६	अवह	अवराह
१२२	३	सव	सव्व
१२४	९	धितिम	धितिम
१२४	१९	सवएज्जा	सवएज्जा
१२७	१९	अससत्त	अससत्तं
१२९	३	मव	मेव
१३२	१७	अत्तामण	अत्ताण
१३४	३	वण्ण	वण्ण
१३४	२३	माइवट्टेज्ज	माइ वट्टे ज्जा
१३५	११	घौर	और
१३५	१३	सणे	सेणे
९३५	२२	म	मे
१३९	१५	अभिसघए	अभिसघए
१४१	२६	ठाण	ठाणं

वृष्ठ संख्या	पक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१४२	१०	धर्म ध्यान	धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान
१४३	२२	मार्यादा	मर्यादा
१४३	२६	एगत	एगंत
१४३	२७	वज्जिज्ज	वुज्जिज्ज
१४३	२७	लायस्स	लोयस्स
१४४	१५	रीतो	रोत्ति
१४४	२४	आर्त्तध्यान	आर्त्तध्यान आर रौद्र ध्यान
१४५	३	गच्छिज्जा	गच्छिज्जा
१४५	७	भावनाओ से	भावनाओं से से दूर रहो
१४५	१०	अप्पग	अप्पमं
१४७	२४	अणुक्कसई	अणुक्कसाई
१४८	२१	असक्ति	आसक्ति
१५४	४	समाहिपत्त	समाहि पत्ते
१५४	१८	सधए	सधए
१६०	४	सजमे	सजमे
१६५	५	अपनी	अपने
१६६	२४	हरिम	हिरिम
१६६	२४	पडिसंलणे	पडिसंलीणे
१६७	१७	श्रद्धावान्	श्रद्धावान्
१६८	२२	मेहाबी	मेहाबी
१७०	५	रय	रय
१७१	६	कम्महि	कम्मेहि
१७३	२४	सया	सया

पृष्ठ संख्या	पक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१७५	२४	पडा समाने	पडाग समाने
१८१	२५	पणाए	पणए
१८२	१३	माहिय	माहिय
१८७	३	स्व	स्व
१८८	२४	वचन को	वचन और काया को
१९१	२७	जा	जो
१९१	२८	अकलिय	अकालिय
१९३	१०	समहि	ममाहि
१९९३	१८	इदिए	इदिए
१९३	१९	स्व	खु
१९८	२०	मुल	मूल
१९८	२१	कर्त्त	कर्त्ता
२००	१०	पर	पर
२०१	१४	मध्य	मध्यम और उत्कृष्ट
२०१	२४	वदति	वेदति
२०४	९	अमणुन्ना	अमणुन्न
२०४	९	महु	माहु
२०४	२३	कुत्ता	वुत्ता
२०४	२५	उ, २३,	उ, २३; ५३,
२०६	३	वेराणु बधीणि	वेराणु बधीणि
२०७	३	पडिग्घाओ	पडिग्घाओ
२०८	३	दसी	दसी
२०८	१४	आत्तणं	अत्ताण
२०८	१४	समुक्कस	समुक्कसे
२१०	२२	दसा	दसी
२१०	२४	मी	मी

पृष्ठ सख्या	पक्ति सख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२१०	२६	अविना भाव	अबिना भाव
२१६	८	इम	इमे
२१९	५	काम भोगणु	काम भोगाणु
२१९	१९	इत्थसु	इत्थिसु
२२०	३	फला	फला
२२०	२८	जत	जति
२२२	१९	कलुमार	कलुसाहमा
२२४	१३	यम्मा	यम्भा
२२६	१५	उ, १ ३४,	उ, १, १४,
२२८	६	पहुचना	पहुँचाना
२२८	८	चरमाणो	चरमाणे
२२९	१७	मल	मूल
२३१	१८	वभव	चैभव
२३३	७	तप्णा	तृष्णा
२३३	१२	लोभ	लोभ
२३७	७	समारम	समारभ
२३७	१९	भोगण	भोगाण
२४०	१६	परियट्टइ	परियट्टई
२४१	१३	भोगा	भोगो
२४५	३	परिभवइ	परिभवई
२४५	१०	पावया	पाविदा
२४५	१७	वत्ति	वृत्ति
२४८	२५	दिट्ठो	दिट्ठी
२५२	७	महारभयाए	महारभयाए
२५२	९	कुणिम	कुणिमा
२५४	१४	मढे	मूढे
२५५	८	लुप्पन्ति	लुप्पन्ति

पृष्ठ संख्या	पवित्र सख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२५५	१५	नइतुट्टति	नाइतुट्टति
२५६	५	मढे	मूढे
२५६	१६	तिस्कार	तिरस्कार
२५६	१८	वाहरिय	वाहिरिय
२५७	२१	सू०, २१	सू०, २, २१
२५८	४	त	त
२५८	११	मरणहि	मरणोहि
२५८	२६	बद्धामो	बुद्धामो
२५९	२२	उज्जाणसि	उज्जाणसि
२६०	२०	पकुव्वमाणे	पकुव्वमाण
२६१	२७	इन्द्रीय	इन्द्रिय
२६२	१३	सू, १, ११७,	सू०, १, १७,
२६२	२६	उ०, १०,	सू०, १०,
२६४	२४	सू, १, २२,	सू, १, २३,
२६५	१०	दुक्ख	दुक्खे
२६६	३	उज्झमाणं	उज्झमाण
२६७	३	नाएसु	नरएसु
२७१	२३	असविभागी	असविभागी
२७४	१३	उ, २३, ३६,	उ; २३, २६
२७९	१४	कुग्गाहिए	बुग्गाहिए
२८१	४	साध्वियो	साध्वियो
२८२	१०	विकट्ठाओ	विकट्ठाओ
२८२	१७	झाण	झाणे
२८२	२२	कव्वे	कव्वे
२८५	३	लोग	लोग



भूमिका



मानव संस्कृति में

जैन-दर्शन

का

योग-दान



भूमिका की विषय सूची



१. विषय-प्रवेश.
२. अहिंसा की प्रतिष्ठा.
३. जैन धर्म का मानव-व्यवहार.
४. आत्मतत्त्व और ईश्वरवाद.
५. स्याद्धाद.
६. कमवाद और गुणस्थान
७. भौतिक विज्ञान और जैन खगोल आदि.
८. साहित्य और कला.
९. युग कृत्य और उपसंहार

मानव संस्कृति में जैन दर्शन का योग-दान

विषय-प्रवेश :

विशाल विश्व के विस्तृत साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रागण में आज दिन तक अनेक विचार धाराएँ और विविध दार्शनिक कल्पनाएँ उत्पन्न होती रही हैं, और पुनः काल क्रम से अनन्त के गर्भ में विलीन हो गई हैं। किन्तु कुछ ऐसी विशिष्ट, शांतिप्रद, गंभीर तथा तथ्य युक्त विचार धाराएँ भी समय समय पर प्रवाहित हुई हैं, जिनसे कि मानव-संस्कृति में सुख-शांति, आनन्द-मगल, कल्याण और अभ्युदय का विकास हुआ है।

इन दार्शनिकता और तात्त्विकता प्रधान विचार धाराओं में जैन दर्शन तथा जैन-धर्म का अपना विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है। इस जैन-विचार धारा ने मानव-संस्कृति में और दार्शनिक जगत् में महान् कल्याणकारी और क्रांति-युक्त परिवर्तन किये हैं। जिससे मानव-इतिहास और मानव-संस्कृति के विकास की प्रवाह-दिशा ही मुड़ गई है। जैन-धर्म ने मानव-धर्मों के आचार-क्षेत्र और विचार-क्षेत्र, दोनों में हा मौलिक क्रांति की है, दोनों ही क्षेत्रों में अपनी महानता की विशिष्ट और स्थायी छाप छोड़ी है।

चौबीस तीर्थंकरों सवधी जैन-परंपरा के अनुसार जैन धर्म की प्राचीन मीमांसा और समाक्षा नहीं करते हुए आधुनिक इतिहास और विद्वानों द्वारा मान्य दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर स्वामी कालीन इतिहास पर विचार पूर्वक दृष्टिपात करे तो प्रामाणिक रूप से पता चलता है कि उस युग में भारत की संस्कृति वैदिक रीति-नीति प्रधान थी। उत्तर भारत

और दक्षिण भारत के अधिकांश भाग में वैदिक यज्ञ-याग करना, वेद-मंत्रों का उच्चारण करके जीवित विभिन्न पशुओं को ही अग्नि में होम देना, वलिदान किये हुए पशुओं के मांस को पका कर खाना और इसी रीति से पूर्वजों का यज्ञ के मांस द्वारा तर्पण करना ही धर्म का रूप समझा जाता था। ईश्वर के अस्तित्व को एक विशिष्ट शक्ति के रूप में कल्पना करके उसे ही सारे विश्व का नियामक, कर्त्ता, हर्त्ता और स्रष्टा मानना, वर्ण-व्यवस्था का निर्माण करके शूद्रों को पशुओं से भी गया बीता समझना, इस प्रकार की धर्म-विकृति महावीर-युग में हो चली थी।

समाज पर और राज्य पर ब्राह्मण-संस्कृति का प्राधान्य हो चला था, वेदानुयायी पुरोहित वर्ग राजा-वर्ग पर अपना वर्चस्व स्थापित कर चुका था, और इस प्रकार समाज में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय ही सर्वस्व थे। धर्म-मार्ग “वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति” के आधार पर कलुषित तथा उन्मार्ग गामी हो चला था। ऐसी विषम और विपरीत परिस्थितियों में दीर्घ तपस्वी महावीर स्वामी ने इस तपोपूत ऋषि-भूमि भारत पर आज से २५०६ वर्ष पूर्व जैन-धर्म को मूर्त रूप प्रदान किया। चूँकि वर्तमान जैन-दर्शन की धारा भगवान महावीर-काल से ही प्रवाहित हुई है, अतएव इस निबन्ध की परिधि भी इसी काल से संबंधित समझी जानी चाहिये, न कि प्राक् ऐतिहासिक काल से।

महावीर स्वामी ने इस सारी परिस्थिति पर गभीर विचार किया और उन्हें यह तथाकथित धार्मिकता विपरीत, आत्म-घातक, पाप-पंक से कलुषित और मिथ्या-प्रतीत हुई। उन्होंने अपने आसाधारण व्यक्तित्व के बल पर मानव जाति के आचार-मार्ग में और विचार क्षेत्र में आमूल चूल ऐतिहासिक क्रांति करने के लिये अपना सारा जीवन देने का और राजकीय तथा गृहस्थ सबंधा भोगोपभोग जनित सुखों का वलिदान देने का दृढ़ निश्चय किया।

इनके मार्ग में भयंकर और महती कठिनाइयाँ थी, क्योंकि इन द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली क्रांति का विरोध करने के लिये भारत का तत्कालीन

सारा का सारा ब्राह्मण वर्ग और ब्राह्मण वर्ग का अनुयायी करोड़ों की सख्या वाला भारतीय जनता का जनमत था। राज्य-सत्ता और वैदिक अध-विश्वासों पर आश्रित अजेय शक्ति-युक्त जन-मत इनके क्रांति मार्ग पर, पग पग पर, काटे बिछाने के लिये तैयार खड़े थे।

निर्मम और निर्दय हिंसा प्रधान यज्ञों के स्थान पर आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक तप-प्रधान सहिष्णुता का उन्हें विधान करना था, मासाहार का सर्वथा निषेध करके अहिंसा को ही मानव-इतिहास में एक विशिष्ट और सर्वोपरि सिद्धान्त के रूप में प्रस्थापित करना था। ईश्वरीय विविध कल्पनाओं के स्थान पर स्वाश्रयी आत्मा की अनन्त शक्तियों का दर्शन कराकर वैदिक मान्यताओं में एव वैदिक विधि-विधानों में क्रांति लाना था। ईश्वर और आत्मा संबंधी दार्शनिक विचार धारा को आत्मा की ही प्राकृतिक अनन्तता में प्रवाहित करना था।

इस प्रकार असाधारण और विपमतम कठिनाइयों के बीच तप, तेज, और त्याग के बल पर भगवान महावीर स्वामी द्वारा प्रगति दिया हुआ विचार-मार्ग ही जैन-धर्म कहलाया।

इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी का महान् तपस्या पूर्ण बलिदान बतलाता है कि उन्होंने अपनी तपोपूत निर्मल आत्मा में धर्म का मौलिक स्वरूप प्राप्त किया, जिस के बल पर उनका आध्यात्मिक कृपा-कल्प हो गया। ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, आत्म विश्वास और भूतदया के अमूल्य तत्त्व उनकी आत्मा में परिपूर्णता को प्राप्त हो गये।

उनके महान् ज्ञान ने उन्हें संपूर्ण ब्रह्मांड के अनादि, अनन्त और अपरिमेय एवं शाश्वत् धर्म-सिद्धान्तों के साथ सयोजित कर दिया। जहां संसार के अन्य अनेक महात्मा इतिहास में खड़े हैं, वही हम प्रातः स्मरणीय महावीर स्वामी को अपने अलौकिक आत्म तेज से असाधारण तेजस्वी के रूप में देखते हैं। उनका तपस्या से प्रज्वलित जीवन, सत्य और अहिंसा के दर्शन के लिये किया हुआ एक अत्यंत और असाधारण शक्तिशाली सफल प्रयत्न दिखलाई पड़ता है। सत्य और अहिंसा की समस्या को उन्होंने अपने आत्म बलिदान द्वारा सुलझाया। आज के इस वैज्ञानिकता प्रधान

विश्व में हम में से प्रत्येक को उसे अपने लिये सुलझाना है। उनका आदर्श, उनकी कष्ट सहिष्णुता, और ध्येय के प्रति उनकी अविचल दृढ़ निष्ठा हमें बल और शक्ति प्रदान करती है। हमारे धर्म को सहारा देती है, और बतलाती है कि यही मार्ग सच्चा है। इसी मार्ग द्वारा हम अवश्य सफल हो सकते हैं, वरन् कि हमारे प्रयत्न भी मन्चे हों। अब हमें यह देखना है कि भगवान् महावीर स्वामी ने जैन-धर्म के रूप में विश्व-संस्कृति के आचार-क्षेत्र तथा विचार-क्षेत्र को क्या २ विशेषताएँ प्रदान की हैं।

अहिंसा की प्रतिष्ठा

मानव—जाति का आज दिन तक जितना भी प्रामाणिक और विद्वत् मान्य इतिहास का अनुसंधान पूर्ण पता चला है, उससे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर स्वामी द्वारा संचालित जैनधर्म के पूर्व इस पृथ्वी पर संपूर्ण मानव-जाति मांसाहार थी, विविध पशुओं का मांस खाने में न तो पाप माना जाता था और न मांसाहार के प्रति परहेज ही था। एव न घृणा ही। ऐतिहासिक उल्लेखानुसार सर्व प्रथम “मानव-जाति में से मांसाहार को परित्याग कराने की परिपाटी और परंपरा” प्रामाणिक रूप से तथा अविचल दृढ़ श्रद्धा के साथ जैन-धर्म ने ही प्रस्थापित की।

ज्ञान-बल पर और आचार-बल पर मानव-जाति को मांसाहार से मोड़ने का सर्व-प्रथम श्रेय जैन-धर्म को ही है। इस प्रकार विश्व-धर्मों की आधार-शिला एव प्रमुखतम सिद्धान्त अहिंसा ही है तथा अहिंसा ही हो सकती है। ऐसी महान् और अपरिवर्तनीय मान्यता मानव-जाति में पैदा करने वाला सर्व-प्रथम धर्म जैन-धर्म ही है, इस ऐतिहासिक तत्त्व को विश्व के गण्य मान्य निद्वानों ने सर्व सम्मत सिद्धान्त मान लिया है। जैनधर्म अहिंसा की इतनी सूक्ष्म, गंभीर और व्यवहार योग्य योजना प्रस्तुत नहीं करते हैं, जैसी कि जैन-धर्म करता है।

जैन धर्म ने अपने कठिन तप-प्रधान आचार-बल के आधार पर आर्य अकाट्य तर्क गुरुपुत्र ज्ञान-बल के आधार पर संपूर्ण हिन्दूधर्म वर्नाम वैदिक धर्म पर और महान् व्यक्तित्व श्रील बुद्ध धर्म पर ऐसी ऐतिहासिक अभिट छाप डाली

कि संदेव के लिये “अहिंसा ही धर्म की जननी है” यह सर्वोत्तम और स्थायी सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया। जैन धर्म की इस अमल्य और सर्वोत्कृष्ट देन के कारण ही ईसाई, मुस्लिम, आदि इतर धर्मों में भी अहिंसा की प्रकाश युक्त किरणें प्रविष्ट हो सकी हैं।

जैन-संस्कृति सदैव अहिंसावादिनी, सूक्ष्म प्राणी की भा रक्षा करने वाली और मानव-जीवन के विविध क्षेत्रों में भी अहिंसा का सर्वाधिक प्रयोग करने वाली रही है। इस दृष्टिकोण से जैन-धर्म ने जीव विज्ञान का अति सूक्ष्म और गभीर अध्ययन योग्य विवेचन किया है। जो कि विश्व साहित्य का एक सुन्दर, रोचक तथा ज्ञान-वर्धक अध्याय है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि जैन धर्म की अहिंसा सवधी देन की तुलना विश्व-साहित्य में बार विश्व-संस्कृति में इतर सभी धर्मों की देनों के साथ नहीं की जा सकती है। क्योंकि अहिंसा सवधी यह देन बेजोड़ है, अमाधारण और मौलिक है। यह उच्च मानवता एवं सरस सात्विकता को लाने वाली है। यह देन मानव को पशुता से उठा कर देवत्व की ओर प्रगति कराती है। अतः मानव इतिहास में यह अनुपम और सर्वोत्कृष्ट देन है।

आजके युग के महापुरुष, विश्व-विभूति, राष्ट्रपिता पूज्य गांधी जी के व्यक्तित्व के पीछे भी इसी जैन-संस्कृति से उद्भूत अहिंसा की शक्ति छिपी हुई थी, इसे कौन नहीं जानता है ?

जैन धर्म का मानव-व्यवहार

अहिंसा के महान् व्रत और असाधारण सिद्धान्त का मानव-जीवन के लिये व्यावहारिक तथा क्रियात्मक रूप देने के लिये दैनिक क्रियाओं सवधी और जीवन सवधी अनेकानेक नियमों तथा विधि विधानों का भी जैन-धर्म ने संस्थापन और समर्थन किया है। जिन्हें बारह व्रत एवं पंच महाव्रत भी कहते हैं। जिनका तात्पर्य यही है कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति में अच्छी वृत्तियों का, अच्छे गुणों का और उच्च गृहस्थ धर्म का विकास हो। इस प्रकार मानव-शांति बनी रहे और सभी को अपना अपना विकास करने का सुन्दर एवं समुचित-सयोग प्राप्त हो।

उपरोक्त ध्येय को परिपूर्ण करने के लिए इन्द्रियो पर निग्रह करने का, सत्य का आचरण करने का, स्वाद को जीतने का, ब्रह्मचर्य के प्रति निष्ठावान् बनने का, और पात्रता का ध्यान रख कर उदार बुद्धि के साथ विभिन्न क्षत्रो मे दाव आदि देने का जैन-धर्म में स्पष्ट विधान है ।

श्री महावीर स्वामी के युग मे लगाकर विक्रम की अठारहवा शताब्दि तक पूजीवाद जैसी अर्थमूलक और शोषक व्यवस्था पद्धति की उत्पत्ति नहीं हुई थी, अतएव आज के युग-धर्म रूप समाजवाद जैसी विशेष अर्थ-प्रणालि की व्यवस्था जैन-धर्म में नहीं पाई जाने पर भा समाजवाद का अर्थान्तर रूप से उल्लेख और व्यवहार जैन-धर्म मे अवश्य पाया जाता है, और वह पाँचवे व्रत में अपरिग्रह वाद के नाम से स्थापित किया गया है ।

अपरिग्रह वाद की रूप रेखा और इसके पीछे छिपी हुई भावना का तात्पर्य भी यही है कि मानव समाज में धन वाद का प्राधान्य नहीं हो जाय । जीवन का केन्द्र-चक्र केवल धन वाद के पीछे ही नहीं घूमने लग जाय । जीवन का मूल आधार धन ही नहीं हो जाय । धन वाद द्वारा मानव-समाज में नाना विध बुराइयाँ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रविष्ट नहीं हो, बल्कि मानव-समाज धन वाद की दृष्टि से एक ऐसे स्तर पर चलता रहे कि जिससे मानव-जाति अपनी पारमार्थिकता समझ सके और तृप्णा के जाल से दूर ही रह सके । अतएव जैन-धर्म मानव-जाति की वैकालिक मुब्यवस्था की ओर सुलक्ष्य देता हुआ महान् मानवता का प्रचार करता है । इस प्रकार प्रकारान्तर से धन वाद की विशेषता को धिक्कारता हुआ समाजवाद वनाम अपरिग्रह वाद पर खास जोर देता है । उपरोक्त कथन से प्रमाणित है कि जैन-धर्म परिपूर्ण अहिंसा की आधार शिलापर, नैतिकता द्वारा जीवन में अपरिग्रह वाद की वनाम समाजवाद की स्थापना करके अपने आपको विश्व-धर्म का अधिष्ठाता घोषित कर देता है । इस प्रकार मानव को आहार में निरामिष भोजी और व्यवहार मे समाज वादी एव विचार मे स्याद्वादी बनाकर यह धर्म ऐतिहासिक क्रानि करता हुआ विश्व धर्मों का केन्द्र स्थान अथवा बुरी-स्थान बन जाता है । यह है जैन धर्म की उदात्त और समुज्ज्वल देन, जो कि अपने आप में समाधारण और आदर्श है ।

जैन धर्म वर्ण व्यवस्था की विकृति को हेय-दृष्टि से देखता है, इसके विधान में मानव मात्र समान है। जन्म की दृष्टि से न तो कोई उच्च है और न कोई नीच, किन्तु अपने अपने अच्छे अथवा बुरे आचरणों द्वारा ही समाज में कोई नीच अथवा कोई उच्च हो सकता है। छूत-अछूत जैसी घृणित वर्ण-व्यवस्था का जैन-धर्म कट्टर शत्रु है। मानव-मात्र अपने आप में स्वयं एक ही है। मानवता एक और अखंड है। सभी प्रकार के सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक विधि-विधानों का मानव-मात्र समान अधिकारी है।

जाति, देश, रंग, लिंग, भाषा, वेश, नस्ल, वंश और काल का कृत्रिम भेद होते हुए भी मूल में मानव-मात्र एक ही है। यह है जैन-धर्म की अप्रतिम और अमर घोषणा, जो कि जैन-धर्म की महानता को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा देती है।

जा व्यक्ति जैन-धर्म को केवल निवृत्ति-प्रधान बतलाता है, वह अपरि-मार्जनीय भयकर भूल करता है। जैन-धर्म सात्त्विक और नैतिक प्रवृत्ति का विधान करता हुआ, संस्कृति तथा जीवन के विकास के लिये विविध पुण्य के कामों का स्पष्ट उल्लेख और आदेश देता है। कुशल शासक, सफल सेना-पति, योग्य व्यापारी, कर्मण्य सेवक, और आदर्श गृहस्थ बनने के लिये जैन धर्म में कोई रुकावट नहीं है। इसीलिये विभिन्न काल और विभिन्न क्षेत्रों में समय समय पर जैन-समाज द्वारा संचालित आरोग्यालय, भोजनालय, शिक्षा-णालय, वाचनालय, अनाथालय, जलाशय और विश्राम-स्थल आदि आदि-सत्कार्यों की प्रवृत्ति का लेखा देखा जा सकता है।

लावण्यता और रमणीयता सयुक्त भारतीय कला के सविकास में जैन-संस्कृति ने अग्र भाग लिया है, जिसे इतिहास के प्रेमा पाठक बखूबा जानते हैं।

आत्म तत्त्व और ईश्वरवाद

इस्वा सन् एक हजार वर्ष पूर्व से लगा कर इस्वी सन् बीसवीं शताब्दी तक के युग में यानी इन तीन हजार वर्षों में भारतीय साहित्य के ज्ञान-सम्पन्न प्रागण में आत्म तत्त्व और ईश्वरवाद के सम्बन्ध में हजारों ग्रंथों का निर्माण

किया गया। कुल मिलाकर लाखों ऋषि-मुनियों ने, तत्त्व-चिंतकों और मनी-
षियों ने, ज्ञानियों एवं दार्शनिकों ने इस विषय पर गम्भीर अध्ययन, मनन,
चिंतन और अनुसंधान किया है। इस विषयको लेकर भिन्न २ समयमें सैकड़ों
राज्य-सभाओं में घन-घोर और तुमुल शास्त्रार्थ हुए हैं। इसी प्रकार इस
विषय पर मत-भेद होने पर अनेक प्रगाढ़ पांडित्य संपन्न दिग्गज विद्वानों को
देश निकाला भी दिया गया है। शास्त्रार्थ में तात्कालिक पराजय हो जाने पर
अनेक विद्वानों को विविध रीति से मृत्यु-दंड भी दिया गया है। इस प्रकार
भारतीय दर्शन-शास्त्रों का यह एक प्रमुखतम और सर्वोच्च विचारणीय
विषय रहा है।

जैन दर्शन ईश्वरत्व को एक आदर्श और उत्कृष्टतम ध्येय मानता है,
न कि ईश्वर को विश्व का स्रष्टा आर नियामक। अतएव इस पर
अपेक्षाकृत अधिक लिखना अप्रासंगिक नहीं होगा।

जैन-दर्शन की मान्यता है कि संपूर्ण ब्रह्मांड में यानी अखिल लोक में
केवल दो तत्त्व ही हैं। एक तो जड़ रूप अचेतन पुद्गल और दूसरा चेतना
शील आत्म तत्त्व।

इन दो तत्त्वों के आधार से ही संपूर्ण विश्व का निर्माण हुआ है। सारे
ही ससार के हर क्षेत्र, हर स्थान, और हर अंग में ये दोनों ही तत्त्व भरे
पड़े हैं। कोई स्थान ऐसा नहीं है जहाँ कि ये दोनों तत्त्व घुले मिले न हो।
इनकी अनेक अवस्थाएँ हैं, इनके अनेक रूपान्तर और पर्याये हैं, विविध
प्रकार की स्थिति है, परन्तु फिर भी मूल में ये दो ही तत्त्व हैं। तीसरा
और कोई नहीं है।

जड़ पुद्गल अनेक शक्तियों में बिखरा हुआ है, इसकी संपूर्ण शक्तियों
का पता लगाना मानव-शक्ति और वैज्ञानिकों के भी बाहिर की बात है।
रेडियो, वायरलेस तार, टेली विजन, रेडार, वाष्पशक्ति और विद्युत-
शक्ति, अणुबम, कीटाणुबम, हाईड्रोजन बम, इथर तत्त्व, कास्मिक किरणें
आदि विभिन्न शक्तियाँ इस जड़ तत्त्व की ही रूपान्तर। इस प्रकार की
अनंतानंत शक्तियाँ इस जड़ तत्त्व में निहित हैं, जो कि रसाभाविक, प्राकृतिक

और कालातीत है। इसमें विपरीत चेतन तत्त्व है। यह भी सम्पूर्ण सासारिक के हर क्षेत्र, हर स्थान और हर अक्षर में अनन्त रूप से सन्न लोहे के परमाणुओं के समान पिंडीभूत है। जैसे समुद्र के तल्लेस लगाकर सतह तक जल ही जल भरा रहता है और तल-सतह के बीच में कोई भी स्थान ऐसा खाली नहीं रहता है, वैसे ही अखिल विश्व में कोई भी स्थान ऐसा खाली नहीं है, जहाँ कि चेतना तत्त्व अनतानत मात्रा में न हो। जैसे जल के प्रत्येक कण में जो कुछ तत्त्व और जो कुछ शक्ति है, वैसा ही तत्त्व और वैसे ही शक्ति समुद्र के सम्पूर्ण जल में है। इसी प्रकार समूह रूपेण पिंडीभूत सम्पूर्ण चेतन तत्त्व में जो जो शक्तियाँ अथवा वृत्तियाँ हैं, वे ही और उतनी ही शक्तियाँ एवं वृत्तियाँ भी एक एक चेतन कण में अथवा प्रत्येक आत्मा में हैं। ये वृत्तियाँ अनतानत हैं, स्वाभाविक या ना प्राकृतिक हैं, अनादि हैं, अक्षय हैं, और तादात्म्य रूप हैं।

ये शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा के साथ सहजात और सहचर धर्म वाली हैं, सासारिक अवस्था में परिभ्रमण करते समय आत्मा की इन शक्तियों के साथ पुद्गलो का अति सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतम आवरण अनिष्ट वासनाओं और सस्कारों के कारण समिश्रित रहता है। इस कारण से ये शक्तियाँ मलीन, विकृत, अविकसित, अर्ध विकसित और विपरीत विकसित आदि नाना रूपों में प्रस्फूटित होनी हुई देखी जाती हैं।

चेतन तत्त्व सामुहिक पिंड में सवद्ध होने पर भी प्रत्येक चेतन कण का अपना अपना अलग अलग अस्तित्व है। समूह से अलग होकर वह अपना पूर्ण और सागोपाग विकास कर सकता है। जैसा कि हम प्रति दिन देखते हैं कि मनुष्य, तिर्यच आदि अवस्थाओं के रूप में विभिन्न चेतन कणों ने अपना अपना विकास कर इन अवस्थाओं को प्राप्त किया है, और यदि विकास की गति नहीं रुके तो निरन्तर विकास करता हुआ प्रत्येक चेतन कण ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है, जो कि विकास और ज्ञान, पवित्रता एवं सर्वोच्चता का अंतिम श्रेणी है। “यह परम तम सर्व श्रेष्ठ विकास शील अवस्था” प्रत्येक चेतन-कण में स्वाभाविक है, परन्तु उसका विकास कर सकना अथवा विकास नहीं कर सकना यह प्रत्येक चेतन कण का अपने अपने प्रयत्न और

किया गया। कुल मिलाकर लाखों ऋषि-मुनियों ने, तत्त्व-चिंतकों और मनी-पियों ने, जानियों एवं दार्शनिकों ने इस विषय पर गम्भीर अध्ययन, मनन, चिंतन और अनुसंधान किया है। इस विषयको लेकर भिन्न २ समयमें सैकड़ों राज्य-सभाओं में घन-घोर और तुमुल शास्त्रार्थ हुए हैं। इसी प्रकार इस विषय पर मत-भेद होने पर अनेक प्रगाढ़ पांडित्य सपन्न दिग्गज विद्वानों को देश निकाला भी दिया गया है। शास्त्रार्थ में तात्कालिक पराजय हो जाने पर अनेक विद्वानों को विविध रीति से मृत्यु-दंड भी दिया गया है। इस प्रकार भारतीय दर्शन-शास्त्रों का यह एक प्रमुखतम और सर्वोच्च विचारणीय विषय रहा है।

जैन दर्शन ईश्वरत्व को एक आदर्श और उत्कृष्टतम ध्येय मानता है, न कि ईश्वर को विज्व का स्रष्टा और नियामक। अतएव इस पर अपेक्षाकृत अधिक लिखना अप्रासंगिक नहीं होगा।

जैन-दर्शन की मान्यता है कि संपूर्ण ब्रह्मांड में यानी अखिल लोक में केवल दो तत्त्व ही हैं। एक तो जड़ रूप अचेतन पुद्गल और दूसरा चेतना शील आत्म तत्त्व।

उन दो तत्त्वों के आधार से ही संपूर्ण विश्व का निर्माण हुआ है। सारे ही समार के हर क्षेत्र, हर स्थान, और हर अंग में ये दोनों ही तत्त्व भरे पड़े हैं। कोई स्थान ऐसा नहीं है जहाँ कि ये दोनों तत्त्व घुले मिले न हो। इनकी अनेक अवस्थाएँ हैं, इनके अनेक रूपान्तर और पर्यायें हैं, विविध प्रकार की स्थिति है, परन्तु फिर भी मूल में ये दो ही तत्त्व हैं। तीसरा और कोई नहीं है।

जड़ पुद्गल अनेक शक्तियों में विखरा हुआ है, इसकी संपूर्ण शक्तियों का पता लगाना मानव-शक्ति और वैज्ञानिकों के भी बाहिर की बात है। रेडियो, वायरलेस तार, टेली विजन, रेडार, वाष्पशक्ति और विद्युत-शक्ति, अणुबम, कीटाणुबम, हाईड्रोजन बम, इथर तत्त्व, कास्मिक किरणें आदि विभिन्न शक्तियाँ इस जड़ तत्त्व की ही रूपान्तर हैं। इस प्रकार की अनंतानन शक्तियाँ इन जड़ तत्त्व में निहित हैं, जो कि स्वाभाविक, प्राकृतिक

और कालातीत है। इसमें विपरीत चेतन तत्त्व हैं। यह भी सम्पूर्ण संसार के हर क्षेत्र, हर स्थान और हर अणु में अनन्तानन्त रूप से सन्न लोहे के परमाणुओं के समान पिंडीभूत है। जैसे समुद्र के तल्ले लगाकर सनह तक जल ही जल भरा रहता है और तल-सतह के बीच में कोई भी स्थान ऐसा खाली नहीं है, वैसे ही अखिल विश्व में कोई भी स्थान ऐसा खाली नहीं है, जहाँ कि चेतना तत्त्व अनन्तानन्त मात्रा में न हो। जैसे जल के प्रत्येक कण में जो कुछ तत्त्व और जो कुछ शक्ति है, वैसे ही तत्त्व और वैसे ही शक्ति समुद्र के सम्पूर्ण जल में है। इसी प्रकार समूह रूपेण पिंडीभूत सम्पूर्ण चेतन तत्त्व में जो जो शक्तियाँ अथवा वृत्तियाँ हैं, वे ही और उतनी ही शक्तियाँ एवं वृत्तियाँ भी एक एक चेतन कण में अथवा प्रत्येक आत्मा में हैं। ये वृत्तियाँ अनन्तानन्त हैं, स्वाभाविक याना प्राकृतिक हैं, अनादि हैं, अक्षय हैं, और तादात्म्य रूप हैं।

ये शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा के साथ सहजात और सहचर धर्म वाली हैं, सासारिक अवस्था में परिभ्रमण करते समय आत्मा की इन शक्तियों के साथ पुद्गलों का अति सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतम आवरण अनिष्ट वासनाओं और संस्कारों के कारण समिश्रित रहता है। इस कारण से ये शक्तियाँ मलीन, विकृत, अविकसित, अर्ध विकसित और विपरीत विकसित आदि नाना रूपों में प्रस्फुटित होती हुई देखी जाती हैं।

चेतन तत्त्व सामुहिक पिंड में सबद्ध होने पर भी प्रत्येक चेतन कण का अपना अपना अलग अलग अस्तित्व है। समूह से अलग होकर वह अपना पूर्ण और सागोपाग विकास कर सकता है। जैसा कि हम प्रति दिन देखते हैं कि मनुष्य, तिर्यच आदि अवस्थाओं के रूप में विभिन्न चेतन कणों ने अपना अपना विकास कर इन अवस्थाओं को प्राप्त किया है, और यदि विकास की गति नहीं रहे तो निरन्तर विकास करता हुआ प्रत्येक चेतन कण ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है, जो कि विकास और ज्ञान, पवित्रता एवं सर्वोच्चता का अंतिम श्रेणी है। “यह परम तम सर्व श्रेष्ठ विकास शील अवस्था” प्रत्येक चेतन-कण में स्वाभाविक है, परन्तु उसका विकास कर सकना अथवा विकास नहीं कर सकना यह प्रत्येक चेतन कण का अपने अपने प्रयत्न और

परिरिथति पर निर्भर है। प्रत्येक चेतन कण में वनाम प्रत्येक आत्मा में यह स्वाभाविक शक्ति है कि वह अपने स्वरूप को ईश्वर रूप में परिणित कर सकता है, एवं अपने में विकसित अखंड परिपूर्ण और विमल ज्ञान द्वारा विश्व की सम्पूर्ण अवस्थाओं का आर उससे हर अंश को देख सकता है।

प्रत्येक आत्मा अनादि है, अक्षय है, नित्य है, शाश्वत है, अचिन्त्य है, शब्दातीत है, अगोचर है, मूलतः ये ज्ञान स्वरूप हैं, निर्मल हैं, अन्तः सुखमय हैं, सभी प्रकार की सासारिक मोह माया आदि विकृतियों से पूर्णतया रहित हैं। प्रत्येक आत्मा अनन्त शक्तिशाली और अनन्त सात्विक सद्गुणों का पिंड मान है। वास्तविक दृष्टि से ईश्वरत्व और आत्मतत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। यह जो विभिन्न प्रकार का अन्तर दिखलाई पड़ रहा है, उनका कारण वासना और सम्कार हैं, और इन्हीं से विकृति मय अन्तर अवस्था की उत्पत्ति होती है। वासना और सम्कारों के हटते ही आत्मा का मूल स्वरूप प्रगट हो जाया करता है, जैसे कि बादलों के हटने ही सूर्य का प्रकाश और वृक्ष निकल आती हैं, वैसे ही यहाँ भाग्य लेना चाहिये। अखिल विश्व में यानी सम्पूर्ण ब्रह्मांड में अनन्तानन्त आत्माएँ पाई जाती हैं, इनकी गणना कर सकना ईश्वरीय ज्ञान के भी बाहर की बात है। परन्तु गुणों की समानता के कारण जैन-दर्शन का यह दावा है कि प्रत्येक आत्मा सात्विकता और नैतिकता के बल पर ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार आज दिन तक अनेकानेक आत्माओं ने ईश्वरत्व की प्राप्ति की है। ईश्वरत्व प्राप्ति के पश्चात् ये आत्माएँ-ईश्वर में ही ज्योतिमे ज्योति के समान एकत्व और एक रूपत्व प्राप्त कर लेती हैं। इस प्रकार अनन्तानन्त काल के लिये, सदैव के लिये इस ससार से परिमुक्त हो जाती हैं। ऐसी मर्त्य और ईश्वरत्व प्राप्त आत्माएँ पूर्ण वीतरागी होने से ससार के स्रजन, विनाशन, रक्षण, परिवर्तन और नियमन आदि प्रवृत्तियों में सर्वथा परिमुक्त होत वीतरागता के कारण सासारिक-प्रवृत्तियों में भाग लेने का उनके लिये कोई कारण शेष नहीं रह जाता है। यह है जैन-दर्शन की "आत्मतत्त्व और ईश्वरत्व" विषयक मौलिक दार्शनिक दैन, जो कि हर आत्मा में पुरुषार्थ, स्वाश्रयता, कर्मण्यता, नैतिकता, सेवा, परोपकार, एवं सात्विकता की उच्च और उदात्त लहर पैदा करती है।

ससार में जो विभिन्न विभिन्न आत्मतत्त्व की श्रेणियाँ दिखाई दे रही हैं, उनका कारण मूल गुणों में विकृति की न्यूनाधिकता है। जिस जिस आत्मा में जितना जितना सात्विक गुणों का विकास है, वह आत्मा उतनी ही ईश्वरत्व के पास है और जिसमें जितनी जितनी विकृति की अधिकता है, उतनी-उतनी ही वह ईश्वरत्व से दूर है। सांसारिक आत्माओं में परस्पर में पाई जाने वाली विभिन्नता का कारण सात्विक, तामसिक, और राजसिक वृत्तियाँ हैं, जो कि हर आत्मा के साथ कर्म रूप से, सस्कार रूप से और वासना रूप से संयुक्त हैं। वेदान्तदर्शन सम्बन्धी “ब्रह्म और माया” का विवेचन, सांख्य दर्शन सम्बन्धी “पुरुष और प्रकृति” की व्याख्या, और जैन-दर्शन सम्बन्धी “आत्मा और कर्म” का सिद्धान्त मूल में काफी समानता रखते हैं। शब्द-भेद, भाषा-भेद, और विवेचन-प्रणालि का भेद होने पर भी अर्थ में भेद प्रतीत नहीं होता है, तात्पर्य में भेद विदित नहीं होता है।

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि जैन-दर्शन की मान्यता वैदिक धर्म के अनुसार एक ईश्वर के रूप में नहीं होकर अपने ही प्रयत्न द्वारा विकास की सर्वोच्च और अन्तिम श्रेणि प्राप्त करने वाली, निर्मलता और ज्ञान की अखण्ड और अक्षयधारा प्राप्त करने वाली और इस प्रकार ईश्वरत्व प्राप्त करने वाली अनेकानेक आत्माओं का ज्ञान, ज्योति के रूप में सम्मिलित होकर प्राप्त होने वाले परमात्मवाद में है।

अतएव इस स्रष्टि का कर्त्ता हर्त्ता, धर्त्ता और नियामक कोई एक ईश्वर नहीं है, परन्तु इस स्रष्टि की प्रक्रिया स्वाभाविक है। हर आत्मा का उत्थान और पतन अपने अपने कृत कर्मों के अनुसार ही हुआ करता है। इस प्रकार की सैद्धान्तिक और मौलिक दार्शनिक क्रांति भगवान् महावीर स्वामी ने तत्कालीन वैदिक मान्यता के अधिनायक रूप प्रचंड और प्रवल प्रवाह के प्रतिकूल निडर होकर केवल अपने आत्म बल के आधार पर प्रस्थापित की, जो कि अजेय और सफल प्रमाणित हुई। वैदिक मान्यता झुकती हुई निर्वलता की ओर बढ़ती गई। तत्कालीन बड़े-गण राज्य, राजा गण, जनता और मध्यम वर्ग तेजा के साथ वैदिक

मान्यताओं का परित्याग करते हुए और भगवान् महावीर-स्वामी के शासन-चक्र में प्रविष्ट होते हुए देखे गये ।

यज्ञ-प्रणालि में, हिंसा-अहिंसा की मान्यता में, वर्ण-व्यवस्था में, और दार्शनिक-सिद्धान्तों में आमूल-चूल परिवर्तन देखा गया, यह सब महिमा केवल ज्ञातपुत्र, निर्ग्रन्थ, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की कडक तपस्या, और गभीर दार्शनिक सिद्धान्तों की है ।

वैदिक सभ्यता ने मध्य-युग में भी जैन धर्म और जैन दर्शन को खत्म करने के लिये भारी प्रयत्न किये, किन्तु वह असफल रही । इस प्रकार हर आत्मा की अखंडता का, व्यापकता का, परिपूर्णता का, स्वतंत्रता का और स्व-आश्रयता का विधान करके जैन दर्शन विश्व-साहित्य में “अस्मद्वाद और ईश्वरवाद” सबधी अपनी मौलिक विचार-धारा प्रस्तुत करता है, जो कि मानव-संस्कृति को महानता की ओर बढ़ाने वाली है । अतएव यह शुभ, प्रशस्त और हितावह है ।

स्याद्वाद

दार्शनिक सिद्धान्तों के इतिहास में स्याद्वाद का स्थान सर्वोपरि है । स्याद्वाद का उल्लेख सापेक्षवाद, अनेकान्तवाद अथवा सप्तभगीवाद के नाम से भी किया जाता है । विविध और परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओं का और विपरीत तथा विघातक विचार-श्रेणियों का समन्वय करके सत्य की शोध करना, दार्शनिक संकलेश को मिटाना, और सभी धर्मों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को मोतियों की माला के समान एक ही सूत्र में अनुस्यूत कर देना अर्थात् पिरो देना ही स्याद्वाद की उत्पत्ति का रहस्य है । निस्संदेह जैन-धर्म ने स्याद्वाद सिद्धान्त की व्यवस्थित रीति से स्थापना करके और युक्ति सगत विवेचना करके विश्व-साहित्य में विरोध और विनाश रूप विविधता को सर्वथा मिटा देने का स्तुत्य प्रयत्न किया है ।

विश्व के मानव-समूह ने सभी देशों में, सभी कालों में और सभी परिस्थितियों में-नैतिकता तथा सुख-शांति के विकास के लिये समयानुसार

आचार-शास्त्र एव नीति-शास्त्र के भिन्न भिन्न नियम और परंपराएँ स्थापित की हैं, वे ही धर्म के रूप में विख्यात हुई और तत्कालिक परिस्थिति के अनुसार उनसे मानव-समूह ने विकास, सभ्यता एव शांति भी प्राप्त की, किन्तु कालान्तर में वे ही परंपराएँ अनुयायियों के हठाग्रह से सांप्रदायिकता के रूप में परिणित होती गई, जिससे धार्मिक-क्लेश, मताधर्ता, अदूरदर्शिता, हठाग्रह आदि दुर्गुण उत्पन्न होते गये और अखंड मानवता एक ही रूप में विकसित नहीं होकर खंड खंड रूप में होती गई, और इसीलिये नये नये धर्मों का, नये नये आचार-शास्त्रों की और नये नये नैतिक नियमों की आवश्यकता होती गई एव तदनुसार इनकी उत्पत्ति भी होती गई। इस प्रकार सैकड़ों पथ और मत मतान्तर उत्पन्न होगये, और इनका परस्पर में द्वंद्व युद्ध भी होने लगा। खंडन्-मण्डन के हजारों ग्रंथ बनाये गये। सैकड़ों वार शास्त्रार्थ हुए और मानवता धर्म के नाम पर कदाग्रह के कीचड़ में फँसकर सक्लेश मय हो गई। ऐसी गभीर स्थिति में कोई भी धर्म अथवा मता-मतान्तर पूर्ण सत्य रूप नहीं हो सकता है, सापेक्ष सत्य मय हो सकता है, इस सापेक्ष सत्य को प्रकट करने वाली एक मात्र वचन-प्रणालि स्याद्वाद हो सकती है। अतएव स्याद्वाददर्शनिक जगत् में आर, मानवता के विकास में असाधारण महत्त्व रखता है, और इसी का आश्रय लेकर पूर्ण सत्य प्राप्त करते हुए सभ्यता और संस्कृति का समुचित विकास किया जा सकता है।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ सत् रूप है। जो सत् रूप होता है, वह पर्याय शील होता हुआ नित्य होता है। पर्याय शीलता और नित्यता के कारण से हर पदार्थ अनन्त धर्मों वाला और अनन्त गुणों वाला है, और अनन्त धर्म गुण शीलता के कारण एक ही समय में और एक ही साथ उन सभी धर्म-गुणों का शब्दों द्वारा कथन नहीं किया जा सकता है। इसलिये स्याद्वाद मय भाषा की और भी अधिक आवश्यकता प्रमाणित हो जाती है। "स्यात्" शब्द इसीलिये लगाया जाता है, जिससे पूरा पदार्थ उसी एक अवस्था रूप नहीं समझ लिया जाय, अन्य धर्मों का भी और अन्य

मान्यताओं का परित्याग करते हुए और भगवान महावीर-स्वामी के शासन-चक्र में प्रविष्ट होते हुए देखे गये ।

यज्ञ-प्रणालि में, हिंसा-अहिंसा की मान्यतामें, वर्ण-व्यवस्था में, और दार्शनिक-सिद्धान्तों में आमूल-चूल परिवर्तन देखा गया, यह सब महिमा केवल ज्ञातपुत्र, निर्ग्रन्थ, श्रमण भगवान महावीर स्वामी की कडक तपस्या, और सभी दार्शनिक सिद्धान्तों की है ।

वैदिक सभ्यता ने मध्य-युग में भी जैन धर्म और जैन दर्शन को स्वीकृत करने के लिये भारी प्रयत्न किये, किन्तु वह अमफल रही । इस प्रकार हर आत्मा की अर्थज्ञता का, व्यापकता का, परिपूर्णता का, स्वतंत्रता का और स्व-आश्रयता का विधान करके जैन दर्शन विश्व-साहित्य में "आत्मवाद और ईश्वरवाद" सचची अपनी मौलिक विचार-धारा प्रस्तुत करना है, जो कि मानव-संस्कृति को महानता की ओर बढ़ाने वाली है । अनपेक्षित यह शुभ, प्रशस्त और हितावह है ।

स्याद्वाद

दार्शनिक सिद्धान्तों के इतिहास में स्याद्वाद का स्थान सर्वोपरि है । स्याद्वाद का उल्लेख सापेक्षवाद, अनेकान्तवाद अथवा सप्तभगीवाद के नाम से भी किया जाता है । विविध और परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओं का और विपरीत तथा विधानक विचार-श्रेणियों का समन्वय करके सत्य की खोज करना, दार्शनिक सन्देश को मिटाना, और सभी धर्मों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को मोतियों की माला के समान एक ही सूत्र में अनुस्यूत कर देना अर्थात् पिरो देना ही स्याद्वाद की उत्पत्ति का रहस्य है । निगमदेह जैन-धर्म ने स्याद्वाद सिद्धान्त की व्यवस्थित रीति से स्थापना करके और युक्ति रागत विवेचना करके विश्व-साहित्य में विरोध और चिन्ता रूप विविधता को सर्वथा मिटा देने का स्तुत्य प्रयत्न किया है ।

विश्व के मानव-समूह ने सभी देशों में, सभी कालों में और सभी परिस्थितियों में-नैतिकता तथा सुख-व्यार्ति के विकास के लिये समयानुसार

आचार-शास्त्र एव नीति-शास्त्र के भिन्न भिन्न नियम और परंपराएँ स्थापित की हैं, वे ही धर्म के रूप में विख्यात हुई और तत्कालिक परिस्थिति के अनुसार उनसे मानव-समूह ने विकास, सभ्यता एव शांति भी प्राप्त की, किन्तु कालान्तर में वे ही परंपराएँ अनुयायियों के हठाग्रह से सांप्रदायिकता के रूप में परिणित होती गई, जिससे धार्मिक-क्लेश, मताधर्मा, अदूरदर्शिता, हठाग्रह आदि दुर्गुण उत्पन्न होते गये और अखंड मानवता एक ही रूप में विकसित नहीं होकर खड खड रूप में होती गई, और इसीलिये नये नये धर्मों का, नये नये आचार-शास्त्रों की और नये नये नैतिक नियमों की आवश्यकता होती गई एव तदनुसार इनकी उत्पत्ति भी होती गई। इस प्रकार सैकड़ों पथ और मत मतान्तर उत्पन्न होगये, और इनका परस्पर में द्वंद्व युद्ध भी होने लगा। खंडन-मृन्दन के हजारों ग्रंथ बनाये गये। सैकड़ों बार शास्त्रार्थ हुए और मानवता धर्म के नाम पर कदाग्रह के कीचड़ में फसकर सकलेश मय हो गई। ऐसी गभीर स्थिति में कोई भी धर्म अथवा मत-मतान्तर पूर्ण सत्य रूप नहीं हो सकता है, सापेक्ष सत्य मय हो सकता है, इस सापेक्ष सत्य को प्रकट करने वाली एक मात्र वचन-प्रणालि स्याद्वाद हो सकती है अतएव स्याद्वाददर्शनिक जगत् में आर्य मानवता के विकास में असाधारण महत्त्व रखता है, और इसी का आश्रय लेकर पूर्ण सत्य प्राप्त करते हुए सभ्यता और संस्कृति का समुचित विकास किया जा सकता है।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ सत् रूप है। जो सत् रूप होता है, वह पर्याय शील होता हुआ नित्य होता है। पर्याय शीलता और नित्यता के कारण से हर पदार्थ अनन्त धर्मों वाला और अनन्त गुणों वाला है, और अनन्त धर्म गुण शीलता के कारण एक ही समय में और एक ही साथ उन सभी धर्म-गुणों का शब्दों द्वारा कथन नहीं किया जा सकता है। इसलिये स्याद्वाद मय भाषा की और भी अधिक आवश्यकता प्रमाणित हो जाती है। "स्यात्" शब्द इसीलिये लगाया जाता है, जिससे पूरा पदार्थ उसी एक अवस्था रूप नहीं समझ लिया जाय, अन्य धर्मों का भी और अन्य

अवस्थाओं का भी अस्तित्व उस पदार्थ में है, यह तात्पर्य “स्यात्” शब्द से जाना जाता है।

“स्यात्” शब्द का अर्थ, “शायद है, संभवतः है, कदाचित् है” ऐसा नहीं है, क्योंकि ये सब संशयात्मक हैं, अतएव “स्यात्” शब्द का अर्थ “अमुक निश्चित अपेक्षा से” ऐसा संशय रहित रूप है। यह “स्यात्” शब्द सुव्यवस्थित दृष्टिकोण को बतलाने वाला है। मताघात के कारण दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है और आज भी अनेक विद्वान् इसको बिना समझे ही कुछ का कुछ लिख दिया करते हैं।

“स्यात् रूपवान् पट” अर्थात् अमुक अपेक्षा से कपड़ा रूपवाला है। इस कथन में रूप से तात्पर्य है, और कपड़े में रहे हुए गंध, रस, स्पर्श आदि धर्मों से अभी कोई तात्पर्य नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि “कपड़ा रूप वाला ही है और अन्य धर्मों का निषेध है।” अतएव इस कथन में यह रहस्य है कि रूप की प्रधानता है और अन्य शेष की गौणता है न कि निषेधता है। इस प्रकार अनेक-विध वस्तु को क्रम से एवं मुख्यता-गौणता की शैली से बतलाने वाला वाक्य ही स्याद्वाद सिद्धान्त का अंश है। ‘स्यात्’ शब्द नियामक है, जो कि कथित धर्म को वर्तमान में मुख्यता प्रदान करता हुआ शेषधर्मों के अस्तित्व की भी रक्षा करता है। इस प्रकार ‘स्यात्’ शब्द कथित धर्म की मर्यादा की रक्षा करता हुआ शेष धर्मों का भी प्रतिनिधित्व करता है। जिस शब्द द्वारा पदार्थ को वर्तमान में प्रमुखता मिली है, वही शब्द अकेला ही सारे पदार्थत्व को घेर कर नहीं बैठ जाय, बल्कि अन्य सहचरी धर्मों की भी रक्षा हो, यह कार्य ‘स्यात्’ शब्द करता है।

‘स्यात् कपडा नित्य है’ यहाँ पर कपड़ा रूप पुद्गल द्रव्य की सत्ता के लिहाज से नित्यत्व का कथन है और पर्यायो के लिहाज से अनित्य की गौणता है। इस प्रकार त्रिकाल सत्य को शब्दों द्वारा प्रकट करने की एकमात्र शैली स्याद्वाद ही हो सकती है।

प्रतिदिन के दार्शनिक झगड़ों में फँसा हुआ सामान्य व्यक्ति न धर्म रहस्य की समझ सकता है और न आत्मा एवं ईश्वर सबधी गहन तत्त्व का ही अनुभव कर सकता है। उल्टा विभ्रम में फसकर कपाय का शिकार बन जाता है। इस दृष्टिकोण से अनेकान्तवाद मानव-साहित्य में बेजोड़ विचार-धारा है। इस विचार-धारा के बल पर जैन-धर्म विश्व-धर्मों में सर्वाधिक शांति-प्रस्थापक और सत्य के प्रदर्शक का पद प्राप्त कर लेता है।

यह अनेकान्तवाद ही सत्य को स्पष्ट कर सकता है। क्योंकि सत्य एक सापेक्ष वस्तु है।

सापेक्षिक सत्य द्वारा ही असत्य का अंश निकाला जा सकता है और इस प्रकार पूर्ण सत्य तक पहुँचा जा सकता है। इसी रीति से मानव-ज्ञान की भी श्रीवृद्धि हो सकती है, जो कि सभी विज्ञानों की अभिवृद्धि करती है। अद्वैतवाद के महान् आचार्य शंकराचार्य और अन्य विद्वानों द्वारा समय समय पर किये जाने वाले प्रचंड प्रचार और प्रबल शास्त्रार्थ के कारण बौद्ध दर्शन सरीखा महान् दर्शन तो भारत से निर्वासित हो गया और लंका, ब्रह्मा, (बर्मा), चीन, जापान एवं तिब्बत आदि देशों में ही जाकर विशेष रूप से पल्लवित हुआ, जब कि जैन-दर्शन प्रबलतम साहित्यिक और प्रचंड तार्किक आक्रमणों के सामने भी टिका रहा, इसका कारण केवल “स्याद्वाद” सिद्धान्त ही है। जिसका आश्रय लेकर जैन विद्वानों ने प्रत्येक मैद्वान्तिक-विवेचना में इसका मूल आधार बनाया।

स्याद्वाद जैन-सिद्धान्त रूपी आत्मा का प्रखर प्रतिभा सपन्न मस्तिष्क है, जिसकी प्रगति पर यह जैन-धर्म जीवित है और जिसके अभाव में यह जैन धर्म समाप्त हो सकता है।

मध्य-युग में भाग्यतीय क्षितिज पर होने वाले राजनैतिक तूफानों में और विभिन्न धर्मों द्वारा प्रेरित साहित्यिक—आधियों में भी जैन-दर्शन का हिमबल्य के समान अडोल और अचल बने रहना केवल स्याद्वाद सिद्धान्त का ही प्रताप है। जिन जैननेत्र दार्शनिकों ने इसे सशयवाद अथवा अनिश्चयवाद कहा है, निश्चय ही उन्होंने इसका गभीर अध्ययन किये बिना ही ऐसा लिख

दिया है। आश्चर्य तो इस बात का है कि प्रसिद्ध सभा दार्शनिकों ने एव महामति सीमामकाचार्य कुमारिल भट्ट आदि भारताय घुरघर विद्वानों ने इस सिद्धान्त का शब्द रूप से खडन करते हुए भा प्रकारान्तर से और भावान्तर से अपने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में विरोधों के उत्पन्न होने पर उनकी विविधताओं का समन्वय करने के लिये इसी सिद्धान्त का आश्रय लिया है।

दीर्घ तपस्वी भगवान महावीर स्वामी ने इस सिद्धान्त को 'मिया अत्थि' किया नत्थि, सिया अवत्तव्व' के रूप में फरमाया है, जिसका यह तात्पर्य है कि प्रत्येक वस्तु-तत्त्व किसी अपेक्षा से वर्तमान रूप होता है, और किसी दूसरी अपेक्षा से वही नाश रूप भी हो जाता है। इसी प्रकार किसी तीसरी अपेक्षा विशेष से वही तत्त्व त्रिकाल सत्ता रूप होता हुआ भी शब्दों द्वारा सवाच्य अथवा अकथनीय रूपवाला भी हो सकता है।

जैन तीर्थंकरों ने और भूज्य भगवान अरिहत्तो ने इसी सिद्धान्त को "उज्जे वा, विगए वा, धुवे वा" इन तीन शब्दों द्वारा "त्रिपदी" के रूप में समग्रित कर दिया है। इस त्रिपदी का जैन-आगमों में इतना अधिक महत्त्व और सर्वोच्चशीलता बतलाई है कि इनके श्रवण-मात्र से ही शत्रुओं को चौदह पूर्वों का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाया करता है। द्वादशांगी रूप बीतराग-वाणी का यह हृदय-स्थान कहा जाता है।

भारतीय साहित्य के सूत्र-युग में निर्मित महान् ग्रन्थ तत्त्वार्थ-सूत्र में इसी सिद्धान्त का 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत्' इस सूत्र रूप से उल्लेख किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो सत् यानी द्रव्य रूप अथवा भाव रूप है, उसमें प्रत्येक क्षण नवीन नवीन पर्यायों की उत्पत्ति होती रहती है, एव पूर्व पर्यायों का नाश होता रहता है, परन्तु फिर भी मूल द्रव्य की द्रव्यता, मूल सत् की सत्ता पर्यायों के परिवर्तन होते रहने पर भी ध्रौव्य रूप से बराबर काम्य रहती है। विश्व का कोई भी पदार्थ इस स्थिति से वंचित नहीं है।

भारतीय साहित्य के मध्य युग में तर्क-जाल-संगुफित घनघोर शास्त्रार्थ का मन्त्रमय समय में जैन साहित्यकारों ने इसी सिद्धान्त को "स्यात्

अस्ति, स्यान्नास्ति और स्यादवक्तव्य” इन तीन शब्द-समूहों के आधार पर सप्तमगी के रूप में सस्थापित किया है ।

इस प्रकार--

- (१) “उपन्ने वा, विगए वा, धुवे वा,” नामक अरिहत प्रवचन,
- (२) “सिया अत्थि, सिया नत्थि, सिया अवत्तव्व” नामक आगम वाक्य,
- (३) “उत्पाद व्ययधौव्य युक्त सत्” नामक सूत्र,
- (४) “स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य” नामक संस्कृत वाक्य, ये सब स्याद्वाद-सिद्धान्त के मूर्त वाचक रूप हैं, शब्द रूप कथानक हैं और भाषा रूप शरीर हैं । स्याद्वाद का यही वाह्य रूप है ।

स्याद्वाद के सबंध में विस्तृत लिखने का यहाँ पर अवसर नहीं है, अतएव विस्तृत जानने के इच्छुक अन्य ग्रंथों से इस विषयक ज्ञान-प्राप्त करे । इस प्रकार विश्व-साहित्य में जैन-दर्शन द्वारा प्रस्तुत अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद एक अमूल्य और विशिष्ट योगदान है, जो कि सदैव उज्ज्वल नक्षत्र के समान विश्व साहित्याकाश में अतिज्वलत ज्योति के रूप में प्रकाशमान होता रहेगा, और विश्व धर्मों के संघर्ष में चीफ जस्टिस यानी सौम्य प्रधान न्याय मूर्ति के रूप में अपना गौरव शील स्थायी स्थान बनाये रखेगा ।

कर्मवाद और गुणस्थान

जैन-दर्शन ईश्वरीय शक्ति को विश्व के कर्ता, हर्ता, और धर्ता के रूप में नहीं मानता है, जिसका तात्पर्य ईश्वरीय सत्ता का विरोध करना नहीं है । अपिन्तु आत्मा ही कर्ता है और आत्मा ही भोक्ता है, इसमें नियामक का कार्य स्वकृत कर्म ही करते हैं । कर्म का उल्लेख वासना शब्द से, संस्कार शब्द से और प्रारब्ध शब्द से एव ऐसे ही अन्य शब्दों द्वारा भी किया जा सकता है । ये कर्म अचेतन हैं, रूपी हैं, पुद्गलो के अति सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतम अंश से निर्मित होने हैं । ये विश्व-व्यापी होते हैं । कर्म-समूह अचेतन

और जट होने पर भी प्रत्येक आत्मा में रहे हुए विकारों और कपायों के बलपर “ओषधि के गुण दोषानुसार” अपना फल यथा समय में और यथा रूप में दिया करते हैं ।

इस कर्म-सिद्धान्त का विशेष स्वरूप कर्म-वाद के ग्रंथों से जानना चाहिए । यहाँ तो इतना ही पर्याप्त होगा कि कर्म-वाद के बलपर जैन-धर्म ने पाप-पुण्य की व्यवस्था का प्रामाणिक और वास्तविक सिद्धान्त कायम किया है । पुनर्जन्म, मृत्यु, मोक्ष आदि स्वाभाविक घटनाओं की सगति-कर्म-सिद्धान्त के आधार पर प्रतिपादित की है । सासारिक अवस्था में आत्मा सबही सभी दशाओं और सभी परिस्थितियों में कर्म-शक्ति को ही सब कुछ बतलाया है । फिर भी आत्मा यदि सचेत हो जाय तो कर्म-शक्ति को परास्त करके अपना विकास करने में स्वयं समर्थ हो सकती है ।

कर्म-सिद्धान्त जनता को ईश्वर-कर्तृत्व और ईश्वर-प्रेरणा जैसे अविश्वास से मुक्त करना है और इसके स्थान पर आत्मा की स्वतन्त्रता का, स्व-पुरुषार्थ का, सर्व-शक्ति संपन्नता का, और आत्मा की परिपूर्णता का ध्यान दिलाता हुआ इस रहस्य का उल्लेख करता है कि प्रत्येक आत्मा का अन्तिम ध्येय और अतिमंज्य विकास ईश्वरत्व प्राप्ति ही है ।

जैन-धर्म ने प्रत्येक सामारिक आत्मा की दोष-गुण सबही और ह्रास-विकास सबही आध्यात्मिक-स्थिति को जानने के लिये, निरीक्षण के लिए और पराक्षण के लिए “गुणस्थान” के रूप में एक आध्यात्मिक जाँच प्रणालि अथवा माप प्रणालि भी स्थापित की है, जिसका सहायता से समीक्षा करने पर और मीमांसा करने पर यह पता चल सकता है कि कौनसी सासारिक आत्मा कपाय आदि की दृष्टि से कितनी अविकास-माल है और कौनसी आत्मा चारित्र्य आदि की दृष्टि से कितनी विकास शील है ?

यह भी जाना जा सकता है कि प्रत्येक सामारिक आत्मा में मोह की, माया की, ममता की, तृष्णा की, क्रोध की, मात की और लोभ आदि वस्तुओं की क्या स्थिति है ? ये दुर्वृत्तियाँ कम मात्रा में हैं अथवा अधिक मात्रा में ? ये उदय अवस्था में हैं ? अथवा उपशम अवस्था में हैं ? इन वृत्तियों का क्षय,

हो रहा है ? अथवा क्षयोपशम हो रहा है ? इन वृत्तियों का परम्पर में उदीरणा और सक्रमण भी हो रहा है अथवा नहीं ? सत्ता रूप से इन वृत्तियों का खजाना कितना और कैसा है ? कौन आत्मा सात्त्विक है ? और कौन तामसिक है ? इसी प्रकार कौनसी आत्मा राजन् प्रकृति की है ? अथवा अमुक आत्मा में इन तीनों प्रकृतियों की समिश्रित स्थिति कैसी क्या है ? कौनसी आत्मा देवत्व और मानवता के उच्च गुणों के न दीक है ? और कौन आत्मा इन से दूर है ?

इस अति गम्भीर आध्यात्मिक समस्या के अध्ययन के लिये जैन-दर्शन ने 'गुणस्थान' वनाम आध्यात्मिक क्रमिक विकास शील श्रेणियाँ भी निर्धारित की हैं, जिनकी कुल मत्त्या चौदह है । यह अध्ययन योग्य, चिंतन-योग्य आर मनन योग्य सुन्दर एवं सात्त्विक एक विशिष्ट विचार-धारा है जो कि मनोवैज्ञानिक पद्धति के आधार पर मानस वृत्तियों का उपादेय और हितावह चित्रण है ।

इस विचार धारा का वैदिक दर्शन में भूमिकाओं के नाम से और बौद्ध-दर्शन में अवस्थाओं के नाम से उल्लेख और वर्णन पाया जाता है, किन्तु जैन-धर्म में इसका जन्म नूतन और विस्तृत वर्णन सुसयत और सुव्यवस्थित पद्धति से पाया जाता है, उसका अपना एक विशेष स्थान है, जो कि विद्वानों के लिये और विश्व-साहित्य के लिये अध्ययन और अनुसंधान का विषय है ।

भौतिक विज्ञान और जैन खगोल आदि

जैन साहित्य में खगोल-विषय के सबंध में भी इस ढंग का वर्णन पाया जाता है कि जो आज के वैज्ञानिक खगोल ज्ञान के साथ वर्णन का भेद, भाषा का भेद, और, रूपक का भेद होने पर भी अर्थान्तर में तथा प्रकारान्तर से बहुत कुछ सदृश ही प्रतीत होता है ।

आज के विज्ञान ने सिद्ध करके बतलाया है कि प्रकाश की चाल प्रत्येक सेकिंड में एक लाख छियासी हजार (१८६०००) माईल का है, इस हिसाब से (३६५ १/४ दिन × २४ घटा × ६० मिनट × ६० सेकिंड × १८६००० माईल) इतनी महती और विस्तृत दूरी को माप के लिहाज से 'एक आलोक वर्ष'

ऐसा सजा वैज्ञानिकों ने दी है। इतना कहना है कि इस आकाश में ऐसे-ऐसे तारे हैं, जिनका प्रकाश यदि यहाँ तक आसके तो उस प्रकाश को यहाँ तक आने में नकड़ो 'आलोक-वर्ष' तक का समय लग सकता है। ऐसे ताराओं की सख्या लौकिक भाषा में अरबों खरबों तक की खगोल-विज्ञान बतलाता है। आकाश-गंगा बनाम निहारिका नाम से ताराओं की जो अति सूक्ष्म शाकी एक लाइन रूप में आकाश में रात्रि के नीचे के बाद में दिखाई देती है, उन ताराओं की दूरी यहाँ से नकड़ो 'आलोक-वर्ष' जितनी वैज्ञानिक लोग कहा करते हैं।

जैन-दर्शन का कथन है कि $(३८११२९७० \text{ मन} \times १०००)$ इतने मत वजन का एक गोला पूरी शक्ति से फेंका जाने पर छ महीने, छ दिन, छ-पहण, छ घड़ी और छ. पल में जितनी दूरी वह गोला पार करे, उतनी दूरा का माप "एक राजू" कहलाता है। इस प्रकार यह सपूर्ण ब्रह्मांड यानी अखिल लोक केवल चौदह राजू जितनी लम्बाई का है। और चाडाई में केवल सात राजू जितना है।

अब विचार कीजिएगा कि वैज्ञानिक सैकड़ों और हजारों आलोक वर्षों नामक दूरी परिमाण में और जैन-दर्शन सम्मत राजू का दूरी परिमाण में कितनी सादृश्यता है ?

इसी प्रकार नकड़ो और हजारों आलोक वर्ष जितनी दूरी पर स्थित जो तारे हैं, वे परस्पर में एक दूसरे की दूरी के लिहाज से-करोड़ों और अरबों माइल जितने अन्तर वाले हैं और इनका क्षेत्रफल भी करोड़ों और अरबों माइल जितना है, उन वैज्ञानिक कथन की तुलना जैन-दर्शन सम्मत वैज्ञानिक देवताओं के विमानों की पारम्परिक दूरी और उनके क्षेत्रफल के साथ कीजियेगा, तो पता चलता है कि क्षेत्रफल के लिहाज से, परस्पर में कितना वर्णन भाग्य है।

वर्तमान देवताओं के विमान रूप क्षेत्र परस्पर की स्थिति की दृष्टि से एक दूसरे से अरबों माइल दूर होने पर भी मूल यानी मुख्य इन्द्र के विमान में आबगच्छना के समय "घंटा" की मुमुक्षु घोषणा होने पर जेप

संवर्धित लाखों विमानों में उसी समय बिना किसी भी दृश्यमान आघात के और किसी भी पदार्थ द्वारा सबंध रहित हाने पर भी तुमुल घोषणा, एवं घंटा निनाद शुरू हो जाता है, यह कथन “रेडियो और टेलीविजन तथा संपर्क साधक विद्युत-शक्ति” का ही समर्थन करता है। ऐसा वह “रेडियो सवन्धी” शक्ति-सिद्धान्त जैन-दर्शन ह जारो वर्ष पहिले, कह चुका है।

शब्द रूपी है, पौद्गलिक है, और क्षण मात्र में सारे लोक में फैल जाने की शक्ति रखते हैं, ऐसा विज्ञान जैन-दर्शन ने हजारों वर्ष पहले ही चिन्तन और मनन द्वारा बतला दिया था, और इस सिद्धान्त को जैन-दर्शन के सिवाय आज दिन तक विश्व का कोई भी दर्शन मानने को तैयार नहीं हुआ था, वही जैन दर्शन द्वारा प्रदर्शित सिद्धान्त अब “रेडियो-युग” में एक स्वयं सिद्ध और निर्विवाद विषय बन सका है।

पुद्गल के हर परमाणु में और अणु अणु में महान् स्रजनात्मक और स्थिति तथा संयोग अनुसार अति भयंकर विनाशक शक्ति स्वभावतः रहने लगी है, ऐसा सिद्धान्त भी जैन दर्शन हजारों वर्ष पहले ही समझा चुका है, वही सिद्धान्त अब “एटम बम, कीटाणु बम और हाइड्रोजन एलेक्ट्रीक बम” बनने पर विश्वसनीय समझा जाने लगा है।

आज का विज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर अनन्त ताराओं की कल्पनातात् विस्तीर्ण बलयाकारता का, अनुमानातीत विपुल क्षयफल का और अनन्त दूरी का जैसा वर्णन करता है और ब्रह्मांड की अनन्तता का जैसा बयान करता है, उस सब की तुलना जैन-दर्शन में वर्णित बौद्ध राजू प्रमाण लोक-स्थिति से और लोक के क्षेत्र फल से भाषा-भेद, रूप-भेद और वर्णन-भेद हाने पर भी ठाक ठीक गीति से की जा सकती है।

आज के भूगर्भ वेत्ताओं और खगोल वेत्ताओं का कथन है कि पृथ्वी किसी समय यानी अरबों और खरबों वर्ष पहले सूर्य का ही सम्मिलित भाग थी। “नीलो और पद्मो” वर्षों पहले इस ब्रह्मांड में किसी अज्ञात शक्ति से अथवा कारणों से खगोल वस्तुओं में आकर्षण और प्रत्याकर्षण हुआ, इस कारण से

भयकर से भयकर अकल्पनीय प्रचंड विस्फोट हुआ, जिससे सूर्य के कई एक बड़े बड़े भीमकाय टुकड़े छिटक पड़े। वे ही टुकड़े अरबों और खरबों वर्षों तक सूर्य के चारों ओर अनन्तानन्त पर्यायों में परिवर्तित होते हुए चक्कर लगाते रहे, और वे ही टुकड़े आज बुध, मंगल, गुरु, शुक्र, शनि, चन्द्र और पृथ्वी के रूप में हमारे सामने हैं। पृथ्वी भी सूर्य का ही टुकड़ा है और यह भी किसी समय आग का ही गोला थी, जो कि अमर्य वर्षों में नाना पर्यायों तथा प्रक्रियाओं में परिवर्तित होती हुई आज इस रूप में उपस्थित है। उपरोक्त वयान जैन-साहित्य में वर्णित “आरा परिवर्तन” के समय की भयकर अग्नि वर्षा, पत्थर वर्षा, अवड वर्षा, असहनीय और कल्पनातीत सतत जलधारा वर्षा, एवं अन्य कर्कश पदार्थों की कठोर तथा शब्दातीत रूप में अति भयकर वर्षा के वर्णन के साथ विवेचना की दृष्टि से कैसी समानता रखता है ? यह विचारणीय है।

ऐतिहासिक विद्वानों द्वारा वर्णित प्राक्ऐतिहासिक युग के, तथा प्रकृति के साथ प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा ही जीवन-व्यवहार चलाने वाले, मानव-जीवन का चित्रण और जैन साहित्य में वर्णित प्रथम तीन आराओं से सम्बन्धित युगल-जोड़ी के जीवन का चित्रण शब्दान्तर और रूपान्तर के साथ स्थितता और किस रूप में मिलता जुलता है ? यह एक खोज का विषय है।

जैन दर्शन हजारों वर्षों से वनस्पति आदि में भी चेतनता और आत्म तत्त्व मानता आ रहा है, माधारण जनता और अन्य दर्शन इस बात को नहीं मानने थे, परन्तु श्री जगदीश चन्द्र बोस ने अपने वैज्ञानिक तरीकों से प्रमाणित कर दिया है कि वनस्पति में भी चेतनता और आत्म तत्त्व है। अब विद्वक्तों द्वारा विद्वान् वर्ग इस बात को मानने लगा है।

साहित्य और कला

मगधान महावीर स्वामी के युग से लेकर आज दिन तक इन पच्चीस शताब्दियों में पन्ध्रों के समय जैन-समाज में उच्च कोटि के श्रम लेखकों का विपुल वर्ग और विद्वानों का गूँथ रहा है, जिनका सारा जीवन विज्ञान, मनन

मे, अध्ययन मे, अध्यापन में, और विविध विषयों में उच्च से उच्च काटि-
के ग्रंथों का निर्माण करने में ही व्यतीत हुआ है। खास तौर पर जैन-
साधुओं का बहुत बड़ा भाग प्रत्येक समय इस कार्य में सलग्न रहा है।
इसलिये अध्यात्म, दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, मन्त्र-तन्त्र, सगीत, सामाजिक, लक्ष-
णिक शास्त्र भाषा-शास्त्र, छंद, काव्य, नाटक, चरित्र, पुराण, अलंकार, कथा,
कला, स्थापत्य कला, गणित, नीति, जीवन-चारित्र्य, तर्क-शास्त्र, तात्त्विक
शास्त्र, आचार-शास्त्र, एवं सर्वदर्शन सम्बन्धी विविध और रोचक ग्रंथों का
हजारों की संख्या में निर्माण हुआ है।

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, तामिल, तेलगु, कन्नड़, गुजराती, हिन्दी, महा-
राष्ट्रीय, एवं इतर भारतीय और विदेशी भाषाओं में भी जैन-ग्रंथों का निर्माण
हुआ है।

जैन-साहित्य का निर्माण अविच्छिन्न धारा के साथ मौलिकता पूर्वक विपुल
मात्रा में प्रत्येक समय होता रहा है और इसी लिये जैन-वाङ्मय में “विविध
भाषाओं का इतिहास,” “लिपियों का इतिहास,” भारतीय साहित्य का इति-
हास” “भारतीय संस्कृति का इतिहास” “भारतीय राजनीतिक इतिहास,”
एवं “व्यक्तिगत जीवन चरित्र” आदि विभिन्न इतिहासों की प्रामाणिक सामग्री
भरी पड़ी है। जिसका अनुसंधान करने पर भारतीय संस्कृति पर उज्ज्वल
एवं प्रमाणपूर्ण प्रकाश पड़ सकता है।

जैन साहित्य के हजारों ग्रंथों के विनष्ट हो जाने के बावजूद भी आज भी
अप्रकाशित ग्रंथों की संख्या हजारों तक पहुँच जाती है। जोकि विविध भट्टारों
में संग्रहीत हैं।

जैन दर्शन कर्म-कर्त्तावादी और पुनर्जन्मवादी होने से इसका कथा-साहि-
त्य विलक्षण-मनोवैज्ञानिक गली वाला है, और आत्माकी वृत्तियों का विविध
शैली से विश्लेषण करने वाला है। अतएव इसका कथा-कोश विश्व साहित्य
का अमूल्य धन है। जो कि प्रकाश में आने पर ही ज्ञात हो सकता है।

जैन-कला का ध्येय “सत्य, शिव, और सुन्दर” की साधना करना ही
रहा है और इस दृष्टि से “कला केवल कला के लिए ही है” इस आदर्श का
जैन-कलाकारों ने पूरी तरह से पालन किया है।

युग-कर्त्तव्य और उपसंहार

आज जैन समाज में सैकड़ों करोड़पति और हजारों लखपति हैं, उनका नैतिक कर्त्तव्य है कि ये सज्जन आजके युग में जैनधर्म, जैन-दर्शन जैन-साहित्य और जैन-संस्कृति के प्रचार के लिये, विकास के लिये और कल्याण के लिये जैन साहित्य के प्रकाशन की व्यवस्था विपुल मात्रा में करे। यही युग कर्त्तव्य है।

बानेवाला युग साहित्य का प्रचार और साहित्य प्रकाशन ही चाहेगा, और इसी कार्य द्वारा ही जैन-दर्शन टिक सकेगा।

अनन्त गुणों के प्रतीक, भगलमय वीतराग देव से आज अक्षय तृतीया के शुभ दिवस पर यही पुनीत प्रार्थना है कि अहिंसा प्रधान आचार द्वारा और स्याद्वाद प्रधान विचारों द्वारा विश्व में शांति की परिपूर्ण स्थापना हो। एवं अखंड मानवता "सत्य, शिव, सुन्दर" की ओर प्रशस्त प्रगति करे।

सध्वी कुटीर,
छोटी सादडी;
अक्षय तृतीया,
विक्रम, स. २००६

विनीत
रतनलाल सध्वी



णमो तित्थस्स

जै
ना
ग
म
सू
क्ति
सु
धा^क

प्र थ म भा ग

सूक्ति-सुधा

प्रार्थना-मंगल-सूत्र

(१)

णमो तित्थराणं ।

आवश्यक

टीका—श्री साधु, साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप तीर्थ की स्थापना करने वाले एव धर्म—चक्र के प्रवर्तक महापुरुष तीर्थकरो को हमारा नमस्कार हो ।

(२)

णमो सिद्धाणं ।

महामन्त्र

टीका—जिन्होंने आठ कर्मों का क्षय कर, अनन्त ज्ञान-दर्शन चारित्र्य-बल वीर्य को प्राप्त किया है, और जिन्होंने नित्य, शाश्वत, अक्षय मोक्ष-स्थान प्राप्त किया है, ऐसे अनन्त-सिद्ध-मुक्त आत्माओं को हमारा नमस्कार हो ।

(३)

सन्ती सन्तिकरो लोप ।

उ०, १८, ३८

टीका—भगवान् शान्तिनाथजी इस ससार में महान् शान्ति के करने वाले हैं । द्रव्य-शांति और भाव-शांति, दोनों प्रकार की शांति को फैलाने वाले हैं । आप में यथा नाम तथा गुण हैं ।

(४)

नमो ते संसयातीत ।

उ०, २३, ८५

टीका—हे संसयातीत ! हे निर्मल ज्ञान वाले ! हे पूर्ण यथाख्यात चारित्र्य वाले ! हे अप्रतिपाती दर्शन वाले ! हे अनन्त गुणशील महान् । तुम्हें नमस्कार है । अनन्तशः प्रणाम है ।

(५)

लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ।

सू०, ६, २३

टीका—लोक में सर्वोत्तम महापुरुष केवल महावीर स्वामी ही हैं । क्योंकि इनका ज्ञान, दर्शन, शील, शक्ति, तपस्या, अनासक्ति, चारित्र्य, निष्परिग्रहीत्व, अकपायत्व और आत्मबल असाधारण एवं आदर्श था ।

(६)

अभयं करे वीरे अणंतचक्रवृ ।

सू०, ६, २५

टीका— भगवान् महावीर स्वामी प्राणियों को अभयदान देनेवाले, कल्याण का मार्ग बताने वाले, अनन्त ज्ञानी और निर्भय थे । वे महापुरुष थे । उनका आत्मबल, तपोबल, चारित्र्य बल और कर्मण्यता बल आदर्श तथा महान् था ।

(७)

निष्वाणवादी णिह णायपुत्ते ।

सू०, ६, २१

टीका—निर्वाण वादियों में यानी विश्व के धर्म-प्रवर्तकों में ज्ञातपुत्र भगवान महावीर स्वामी ही सर्व श्रेष्ठ हैं ।

(८)

इसीण संदठे तह वद्धमाणे ।

सू०, ६, २२

टीका—ऋषियों में, विश्व के सभी सत्ता में श्री वर्धमान महावीर स्वामी ही सर्वोत्तम हैं, प्रधान हैं ।

(९)

जयइ गुरु-लोगाणं,
जयइ महप्पा महावीरो ।

न०, २

टीका—जो सम्पूर्ण लोक के गुरु हैं, जो सारे ससार को ज्ञान का दान देने वाले हैं, जो सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र में सर्वोत्तम होने से महात्मा हैं, ऐसे श्री वीर-प्रभु महावीर स्वामी की जय हो ।

(१०)

जयइ सुभाणं पभवो,
तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ ।

न०, २

टीका—जिन देवाधिदेव पूज्य भगवान के मुख-कमल से श्रुत ज्ञान की धारा बही है; जो सभी तीर्थंकरों में अंतिम तीर्थंकर हैं, ऐसे ज्ञातपुत्र निर्ग्रन्थ प्रभु वर्धमान-महावीर स्वामी की जय हो-विजय हो ।

(११)

भवं सुरासुर नमंसियस्स,

भवं धुरयस्स ।

न०, ३

टीका—जिन देवाधिदेव चरम तीर्थकर की सुर और असुर सभी देवी देवताओं ने, इन्द्रों और महेन्द्रों ने वन्दना की है, भक्ति की है, और जिन्होंने सभी कर्मों को क्षय कर दिया है, जिनके कर्म रूपी रज शेष नहीं रह गई है, ऐसे चौबीसवे तीर्थकर भगवान् महावीर स्वामी कल्याण रूप हो, आपका सदैव जय जय कार हो ।

(१२)

जगणाहो जग बधू,

जयइ जगप्पियाम्हो भयवं ।

न०, १

टीका—भगवान् महावीर स्वामी ससार में अनाथ रूप से घूमने वाले जीवों को मोक्ष मार्ग के दर्शक होने से नाथ समान है । ससार के दुःखों से पीड़ित भव्य जीवों को मोक्ष-सुख देने वाले होने से ये जगत-बन्धु है । ससार में अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रह, व्रत और अनासक्ति आदि रूप धर्म-मार्ग प्रचारित कर सर्व-शक्तिमान् दीर्घ तपस्वी महावीर स्वामी ने ससारी जीवों की ससार समुद्र से रक्षा की है, अतएव ये ससार के लिए माता, पिता के समान है, ऐसे जगतपति महावीर स्वामी की जय हो ।

(१३)

जयइ जग-जीव-जोणी-वियाणओ,

जग गुरू, जगाणंदो ।

न०, १

टीका—जिन शासन के चरम-तीर्थकर भगवान् महावीर स्वामी की जय हो । प्रभु महावीर ससार के सभी जीवों को मोक्ष-मार्ग बताने

में नेता रूप है, विश्व की सभी जीव योनियों के ये ज्ञाता है, ये जगत के गुरु है, अज्ञान रूप अन्धकार का नाश कर ज्ञान-रूप प्रकाश के करने वाले है, तथा संसार में शांति, सुख और आनन्द की पवित्र त्रिवेणी बहाने वाले है ।

(१४)

खेयन्नए से कुसलासुपन्ने,
अणंतनाणी य अणंतदंसी ।

सू०, ६, ३

टीका—भगवान् महावीर स्वामी संसार के प्राणियों का दुःख जानने वाले थे, आठ प्रकार के कर्मों का छेदन करने वाले थे, सदा सर्वत्र उपयोग रखने वाले थे, एवं अनन्त ज्ञानी और अनन्त दर्शी थे ।

(१५)

अणुत्तरे सव्व जगंसि विज्जं,
गंथा अतीते अभए अणाऊ ।

सू०, ६, ५

टीका—वे दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर स्वामी सबसे उत्तम विद्वान् महापुरुष थे । बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की ग्रथियों से रहित थे । निर्भय थे, और चरम शरीरी थे ।

(१६)

अणुत्तरं धम्मं मिणं जिण्णाणं,
णेया मुणी कासव आसुपन्ने ।

सू०, ६, ७

टीका— राग और द्वेष को अत्यंतिक रूप से जीतने वाले महा-पुरुषों का—जिनेन्द्रों का यह धर्म है, जो कि श्रेष्ठ है । इसके नेता प्रभु महावीर स्वामी है, जो कि निर्ग्रन्थ है, अनासक्त है, इन्द्रिय-विजयी है और सतत अनन्त ज्ञानशाली है ।

(१७)

भदं सव्व जगुज्जोयगस्स,
भदं जिणस्स धीरस्स ।

न०, ३

टीका—जिन्होंने तीनो लोक में अगाति मिटाकर शांति की, अज्ञान का नाश कर ज्ञान का प्रकाश किया, मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यक्त्व धर्म की स्थापना की, हिंसा, झूठ, भोग, तृष्णा आदि दुर्गुणों के स्थान पर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति आदि रूप सयम मार्ग को प्रदर्शित किया, ऐसे श्री जिनेन्द्र देव भगवान् महावीर स्वामी की जय हो, आपका महान् कल्याणकारी शासन सदैव अजेय हो ।

(१८)

संघ नगर । भदं, ते ॥
अखंड चारित्त पागारा ।

न०, ४

टीका—हे चतुर्विध संघ रूप रमणीय नगर । आप कल्याण रूप हैं । आपकी महती महिमा है । आप अवर्णनीय यगवाले हैं । आपके चारों ओर चारित्ररूप-सयम रूप अखण्ड प्रकोट हैं । यही अचल और अभेद्य गढ़ है ।

(१९)

संजम-तव-तुंवारयस्स,
नमो सम्मत्त पारियल्लस्स ।

न०, ५

टीका—विषय और कषाय को काटने में जिसके पास सयम और तप रूपी पवित्र चक्रायुध है, सम्यक्त्व रूपी सुन्दर धारा है, ऐसे अनन्त शक्ति सम्पन्न श्री संघ को नमस्कार हो ।

(२०)

अप्यडि चक्रस्स जओ,
होउ, सया संघ चक्रस्स ।

न०, ५

टीका—जिनके चक्र को—शासन-व्यवस्था को और पवित्र सिद्धान्तों को कोई काट नहीं सकता है, कोई चल-विचल नहीं कर सकता है । ऐसे-चक्र शील और निरन्तर प्रगति शील--श्री सघ की सदा जय हो, नित्य विजय हो ।

(२१)

भदं शील पडागुसियस्स,
तव नियम तुरय जुत्तस्स ॥

न०, ६

टीका—चतुर्विध श्री सघ एक अनुपम रथ के समान है, जिसके ऊपर शील रत्न रूप सुन्दर पताका-ध्वजा-फहरा रही है । जिसमें तप, नियम, सयम रूप सुन्दर घोड़े जुते हुए हैं । ऐसा श्री सघ -रूप यह सर्वोत्तम रथ हमारे लिये आध्यात्मिक कल्याण करने वाला हो ।



आत्मवाद सूत्र

(१)

एगो आया ।

ठाणा०, १ ला ठा० १

टीका—सम्पूर्ण लोकाकाश मे रहे हुए सभी जीव या सभी आत्माएँ गुणों की अपेक्षा से—अपने मूल स्वभाव और स्वरूप की अपेक्षासे, मूलभूत लक्षणोंकी अपेक्षासे समान है । विशुद्ध दृष्टि से सभी आत्माओं मे परस्पर मे कोई भिन्नता नहीं है । इसलिए इस अपेक्षासे, इस नय की दृष्टि से सारे विश्व मे—सारे ब्रह्मांड मे एक ही आत्मा है । चेतन द्रव्य एक ही है । अनन्तानन्त, अपरिमित, सख्यातीत आत्माओं के होने पर भी मूल गुण, धर्म, लक्षण, स्वभाव, स्वरूप, प्रकृति आदि समान है, एक जैसे ही है । अतएव यह कहने मे कोई आस्त्रीय बाधा नहीं है कि अपेक्षा विशेष से आत्मा एक ही है, जो कि विश्व-व्यापी है और अनन्तगवित्तयो का पूज्य है ।

(२)

नो इन्द्रियगोच्छ्र अमुक्त भावा,
अमुक्त भावा वि य होइ निच्छो ।

उ०, १४, १९

टीका—आत्मा अमूर्त है, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित है, इसलिए आत्मा इन्द्रियो द्वारा अग्राह्य है, यानी जानने योग्य नहीं है । तथा अमूर्त यानी अरूपी होने से ही यह नित्य है, अक्षय्य है, शाश्वत् है । पर्याये पलटने पर भी-विभिन्न गतियों मे विभिन्न शरीर धारण करने पर भी इसका एकान्त नाश नहीं होता है ।

(३)

जेण वियाणइ से आया ।

आ०, ५, १६६, उ, ५

टीका—जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जो ज्ञान-प्राप्ति में असाधारण रूप से साधक-तम कारण है, उसे ही आत्मा कहते हैं। ज्ञान का मूल स्थान, ज्ञानका मूल कारण, ज्ञान का मूल आधार आत्मा ही है। जहाँ २ आत्मा है, वहाँ २ ज्ञान है। और जहाँ २ ज्ञान है, वहाँ २ आत्मा है। ज्ञान और आत्मा का अग्नि एवं उष्णता के समान आधार-आधेय सम्बन्ध है। अग-अगी सम्बन्ध है।

(४)

अरूची सत्ता अपयस्स पयं नत्थि ।

आ०, ५, १७१-१७२, उ, ६

टीका—मोक्ष में आत्मा का मूल स्वरूप अरूपी है। आत्मा वर्ण से, गन्ध से, रस से, और स्पर्श धर्म से रहित है। अशब्द रूप है। उसके लिए कोई भी शब्द नहीं जोड़ा जा सकता है। व्यवहार-दृष्टि से भले ही कोई शब्द जोड़कर उसका ज्ञान कराया जाय, परंतु उसका वास्तविक स्वरूप पूर्ण निर्मलता प्राप्त होनेपर ही अनुभव किया जा सकता है। अमुक्ति-अवस्था में, ससार अवस्थामें, राग-द्वेष से युक्त अवस्था में, कषाय-अवस्था में, उसका वास्तविक अनुभव नहीं किया जा सकता है।

(५)

जे आया से विज्ञाया,

जे विज्ञाया से आया ।

आ०, ५, १६६, उ, ५,

टीका—जो आत्मा है, वही ज्ञाता है, जो ज्ञाता है, वही आत्मा है। ज्ञान और आत्मा का अभिन्न सम्बन्ध है, गुण-गुणी सम्बन्ध है,

धर्म-धर्मी सम्बन्ध है। यह त्रिकाल, सर्वत्र और सर्वदा साथ रहने वाला तादात्म्य सम्बन्ध है। कभी भी इनमें जुदाई नहीं होती है। यदि गुण-गुणी सम्बन्ध वाले पदार्थों में से गुणों के पृथक् होने का सिद्धान्त मान लिया जायगा तो अस्ति रूप द्रव्यों को नास्ति रूप होने का प्रसंग आ जायगा।

(६)

✓ जे अज्झत्थं जाणइ, से वहिया जाणइ ।

जे वहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ ।

आ०, १, ५७, उ, ७

टीका—जो आत्मा अपना मूल स्वरूप जानता है,—अपने आपको अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का स्थायी अधिकारी मानता है, वह ससार के सभी पुद्गलों का स्वरूप भी जानता है और जो बाह्य पुद्गलों को जानता है, वही अपने आंतरिक आध्यात्मिक स्वरूप को भी जानता है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा को जानता है, वह बाह्य ससार को भी जानता है, और जो बाह्य ससार को जानता है, वह आत्मा को भी जानता है।

(७)

एगं जिणेज्ज अप्पाणं ।

एस से परमो जज्जो ॥

उ०, ९, ३४,

टीका—जो अपनी आत्मा को विषय से, विकार से, वासना से, कषाय से, जीत लेता है, यही विजय सर्वश्रेष्ठ विजय है। और ऐसी आत्मा ही सभी वीरों में सर्व श्रेष्ठ वीर है।

(८)

✓ अप्पाणमेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्जेण वज्झओ ।

उ०, ९, ३५

टीका—अपनी आत्मा में स्थित कषाय-विषय, विकार, वासना से ही युद्ध करो, बाह्य-युद्ध में क्या रखा है ? बाह्य युद्ध तो और भी अधिक कषाय, वैर-विरोध और हिंसा एवं प्रतिहिंसा को ही बढ़ाने वाला होता है ।

(९)

अप्याणं जइत्ता सुह मेहए ।

उ०, ९, ३५

टीका—अपनी आत्मा को सासारिक भोगों से हटाकर, राजस् और तामसिक दुर्गुणों पर विजय प्राप्त कर, सात्विकता प्राप्त करने पर ही सुखी बन सकते हैं ।

(१०)

सर्व्वं अप्पे जिए जियं ।

उ०, ९, ३६

टीका—केवल एक आत्मा को जीत लेने पर ही यानी कषायों पर विजय प्राप्त कर लेने से ही सब कुछ जीत लिया जाता है, इसके बाद कुछ भी जीतना शेष नहीं रहता है ।

(११)

अप्या मित्तं ममित्तं च,
दुप्पदिठ्ठय सुपट्ठिओ ।

उ०, २०, ३७

टीका—अपने आपको दुःखमय स्थान में पहुँचाने वाला अथवा सुखमय स्थान में पहुँचानेवाला यह स्वयं आत्मा ही है । यह आत्मा ही स्व का शत्रु भी है और मित्र भी है । सन्मार्ग गामी हो तो मित्र है और उन्मार्ग गामी हो तो शत्रु है ।

(१२)

✓ अण्पा कत्ता विकत्ता य,
दहाण य सुहाण य ।

उ०, २०, ३७

टीका—यह आत्मा ही अपने लिये स्वयं सुख का और दुख का कर्ता है—कर्मों का बाधने वाला है और कर्मों को काटने वाला भी यही है ।

(१३)

✓ अण्पा कामदुहा धेणु.
अण्पा मे नन्दणं वणं ॥

उ०, २०, ३६

टीका—सन्मार्ग में प्रवृत्ति करने की दशा में यह आत्मा स्वयं-खुद के लिये कामदुग्ध धेनु—यानी इच्छा पूर्ति करने वाली आदर्श देव-गाय के समान है । नैतिक और आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की दशा में यह आत्मा स्वयं नन्दन वन के समान है । पवित्र और सेवा मय कार्य करने से यह आत्मा स्वयं मनोवाञ्छित फल देने वाली हो जाती है । स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को प्राप्त कराने वाली स्वयं यही है ।

(१४)

✓ अण्पा नई वेयरणी,
अण्पा मे कूड सामली ।

उ०, २०, ३६

टीका—यह आत्मा ही स्वयं-खुद के लिये अनीति पूर्ण मार्ग पर चलने से वेतरणी नदी के समान है, और पाप पूर्ण कार्यों में फसे रहने की दशा में कूट शाल्मली वृक्ष के समान है । उन्मार्ग गामी होने की दशा में आत्मा स्वयं अपने लिये वेतरणी और कूट शाल्मली वृक्ष के जैसे नानाविध दुःखों को पैदा कर लेती है ।

(१५)

न तं अरी कंठ छित्ता करेइ,
जं छे करे अण्णिया दुरप्पा ।

उ०, २०, ४८

टीका—दुराचार में प्रवृत्त हुआ यह आत्मा स्वयं का जैसा और जितना अनर्थ करता है, वैसा अनर्थ तो कंठ को छेदने वाला या काटने वाला शत्रु भी नहीं करता है । अनर्थमय प्रवृत्ति शत्रु की प्रतिक्रिया से भी भयकर होती है और अनेक जन्मों में दुःख देने वाली होती है ।

(१६)

कप्पिओ फालिओ छिन्नो,
उक्किन्तो अ अण्णगसो ।

उ०, १९, ६३

टीका—यह पापी आत्मा अनेक बार काटा गया, कतरा गया, फाड़ा गया, चीरा गया, छेदन किया गया, टुकड़े २ किया गया, और उत्कर्त्तन किया गया यानी चमड़ी उतार दी गई ।

(१७)

दद्धो पक्को अ अवसो,
पाव कम्मेहि पाविओ ।

उ०, १९, ५८

टीका—यह पापी आत्मा पाप कर्मों के कारण से अनेक बार आग से जलाया गया, पकाया गया और दुःख झेलने के लिये विवश किया गया है ।

(१८)

पाडिओ फालिओ छिन्नो,
विप्फुरन्तो अण्णगसो ।

उ०, १९, ५५

(१२)

अप्पा कत्ता चिकत्ता य,
दुहाण य सुहाण य ।

उ०, २०, ३७

टीका—यह आत्मा ही अपने लिये स्वयं सुख का और दुःख का कर्ता है—कर्मों का बाधने वाला है और कर्मों को काटने वाला भी यही है ।

(१३)

अप्पा कामदुहा धेणु,
अप्पा मे नन्दणं वणं ॥

उ०, २०, ३६

टीका—सन्मार्ग में प्रवृत्ति करने की दशा में यह आत्मा स्वयं-खुद के लिये कामदुग्ध धेनु—यानी इच्छा पूर्ति करने वाली आदर्श देव-गाय के समान है । नैतिक और आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की दशा में यह आत्मा स्वयं नन्दन वन के समान है । पवित्र और सेवा मय कार्य करने से यह आत्मा स्वयं मनोवाञ्छित फल देने वाली हो जाती है । स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को प्राप्त कराने वाली स्वयं यही है ।

(१४)

अप्पा न्दई वेयरणी,
अप्पा मे कूड सामली ।

उ०, २०, ३६

टीका—यह आत्मा ही स्वयं-खुद के लिये अनीति पूर्ण मार्ग पर चलने से वेतरणी नदी के समान है, और पाप पूर्ण कार्यों में फँसे रहने की दशा में कूट शाल्मली वृक्ष के समान है । उन्मार्ग गामी होने की दशा में आत्मा स्वयं अपने लिये वेतरणी और कूट शाल्मली वृक्ष के जैसे नानाविध दुखों को पैदा कर लेती है ।

(१५)

न तं अरी कंठ छित्ता करेइ,
जं खे करे अप्पणिया दुरप्पा ।

उ०, २०, ४८

टीका—दुराचार मे प्रवृत्त हुआ यह आत्मा स्वयं का जैसा और जितना अनर्थ करता है, वैसा अनर्थ तो कंठ को छेदने वाला या काटने वाला शत्रु भी नहीं करता है । अनर्थमय प्रवृत्ति शत्रु की प्रतिक्रिया से भी भयकर होती है और अनेक जन्मों मे दुःख देने वाली होती है ।

(१६)

कप्पिओ फालिओ छिन्नो,
उक्कित्तो अ अणेगसो ।

उ०, १९, ६३

टीका—यह पापी आत्मा अनेक बार काटा गया, कतरा गया, फाड़ा गया, चीरा गया, छेदन किया गया, टुकड़े किया गया, और उत्कर्त्तन किया गया यानी चमड़ी उतार दी गई ।

(१७)

दद्धो पक्को अ अवसो,
पाव कम्मेहिं पाविओ ।

उ०, १९, ५८

टीका—यह पापी आत्मा पाप कर्मों के कारण से अनेक बार आग से जलाया गया, पकाया गया और दुःख झेलने के लिये विवश किया गया है ।

(१८)

पाडिओ फालिओ छिन्नो,
विप्फुरन्तो अणेगसो ।

उ०, १९, ५५

(१२)

✓ अण्पा कत्ता विकत्ता य,
दृहाण य सुहाण य ।

उ०, २०, ३७

टीका—यह आत्मा ही अपने लिये स्वयं सुख का और दुख का कर्ता है—कर्मों का बाधने वाला है और कर्मों को काटने वाला भी यही है ।

(१३)

✓ अण्पा कामदुहा धेणु,
अण्पा मे नन्दणं वणं ॥

उ०, २०, ३६

टीका—सन्मार्ग में प्रवृत्ति करने की दशा में यह आत्मा स्वयं-खुद के लिये कामदुग्ध धेनु—यानी इच्छा पूर्ति करने वाली आदर्श देव-गाय के समान है । नैतिक और आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की दशा में यह आत्मा स्वयं नन्दन वन के समान है । पवित्र और सेवा मय कार्य करने से यह आत्मा स्वयं मनोवाञ्छित फल देने वाली हो जाती है । स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को प्राप्त कराने वाली स्वयं यही है ।

(१४)

✓ अण्पा न्दई वेयरणी,
अण्पा मे कूड सामली ।

उ०, २०, ३६

टीका—यह आत्मा ही स्वयं-खुद के लिये अनीति पूर्ण मार्ग पर चलने से वेतरणी नदी के समान है, और पाप पूर्ण कार्यों में फसे रहने की दशा में कूट शात्मली वृक्ष के समान है । उन्मार्ग गामी होने की दशा में आत्मा स्वयं अपने लिये वेतरणी और कूट आत्मली वृक्ष के जैसे नानाविध दुखों को पैदा कर लेती है ।

(१५)

न तं अरी कंठ छित्ता करेइ,
जं छे करे अण्णिया दुरप्पा ।

उ०, २०, ४८

टीका—दुराचार मे प्रवृत्त हुआ यह आत्मा स्वयं का जैसा और जितना अनर्थ करता है, वैसा अनर्थ तो कंठ को छेदने वाला या काटने वाला शत्रु भी नहीं करता है । अनर्थमय प्रवृत्ति शत्रु की प्रतिक्रिया से भी भयंकर होती है और अनेक जन्मों मे दुःख देने वाली होती है ।

(१६)

कप्पिओ फालिओ छिन्तो,
उक्कित्तो अ अणेगसो ।

उ०, १९, ६३

टीका—यह पापी आत्मा अनेक बार काटा गया, कतरा गया, फाड़ा गया, चीरा गया, छेदन किया गया, टुकड़े र किया गया, और उत्कर्त्तन किया गया यानी चमड़ी उतार दी गई ।

(१७)

दद्धो पक्को अ अवसो,
पाव कम्मेहिं पाविओ ।

उ०, १९, ५८

टीका—यह पापी आत्मा पाप कर्मों के कारण से अनेक बार आग से जलाया गया, पकाया गया और दुःख झेलने के लिये विवश किया गया है ।

(१८)

पाडिओ फालिओ छिन्तो,
विप्फुरन्तो अणेगसो ।

उ०, १९, ५५

टीका—यह आत्मा अनंत वार इस ससार में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न जन्मों में पटका गया, गिराया गया, फाड़ा गया, चीरा गया, काटा गया, टुकड़े २ किया गया और शरण के लिये भागते हुए को नाना प्रकार के कष्टों से दुःखी किया गया है।



दुर्लभांग-शिक्षा सूत्र

(१)

उत्तम धम्म सुई हु दुल्लहा ।

उ०, १०, १८

टीका—उत्तम, श्रेष्ठ धर्म को-दान, शील, तप और भावनामय चारित्र को सुनने का प्रसंग मिलना अत्यंत दुर्लभ है । अतएव सुयोग से प्राप्त संयोग का लाभ उठाने में जरा भी भूल नहीं करना चाहिये ।

(२)

सुई धम्मस्स दुल्लहा ।

उ०, ३, ८

टीका—धर्म की, मोक्ष मार्ग के कारणों की, आत्मोन्नति के गुणों की, ज्ञान-दर्शन-चारित्र के स्वरूप की बातें सुनने का, उपदेश सुनने का अवसर प्राप्त होना अत्यंत कठिन है । पुण्य का उदय होने पर ही धर्म के सुनने का प्रसंग मिला करता है ।

(३)

सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ॥

उ०, १०, १९

टीका—श्रेष्ठ धर्म को सुनने का प्रसंग मिल जाने पर भी उसके प्रति श्रद्धा होना, उसपर विश्वास आना अत्यन्त कठिन है । इसलिये अहिंसा प्रधान धर्म से कभी भी विचलित नहीं होना चाहिए !

(४)

सद्धा परम-दुल्लहा ।

उ०, ३, ६

टीका—यदि सौभाग्य से ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप मोक्ष मार्ग की वाते सुनने का मौका मिल जाय, तो भी उनपर श्रद्धा आना-आत्म-विश्वास का पैदा होना अत्यन्त कठिन है । दुर्लभ है !

(५)

णो सुलभं वोहिं च आहियं ।

सू०, २, १९, उ, ३

टीका—सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन मिलना अत्यन्त कठिन है । अनेक जन्मों में सचित पुण्य के उदय से ही ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति होती है । इसलिए जीवन को प्रमादमय नहीं बनाकर पर-सेवामय ही बनाना चाहिए ।

(६)

संवोही, खलु दुल्लहा ।

सू०, २, १, उ, १

टीका—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है । आत्मा में कषायों की गाति होने पर और पुण्य के उदय होने पर ही सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होती है । इसलिये जीवन में प्रमाद को स्थान नहीं देना चाहिये ।

दुल्लहया काएण फासया ।

उ०, १०, २०

टीका—श्रेष्ठ धर्म का, अहिंसा प्रधान धर्म का और स्याद्वाद प्रधान सिद्धान्त का क्राया द्वारा आचरण किया जाना तो अत्यन्त

दुर्लभ है । अतएव प्रमाद से सदैव सावधान रहना चाहिये और मन, वचन तथा काया को धर्म-मार्ग में प्रवृत्त करना चाहिये ।

(८)

दुल्लहाओ तद्वच्चाओ ।

सू०, १५, १८

टीका—सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति के अनुरूप हृदय के शुद्ध परिणाम होना, निर्दोष अन्तःकरण का होना अत्यन्त कठिन है । शुभ कर्मों का उदय होने पर ही सम्यग्-दर्शन के अनुसार हृदय में सरलता, प्रशस्यता, शुभ ध्यान और शुभ-लक्ष्या पैदा हो सकती है ।

(९)

आयुरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं ।

उ०, १०, १६

टीका—यदि दैवयोग से मनुष्य-शरीर मिल जाय, तो भी आर्य-धर्म की व अहिंसा प्रधान धर्म की प्राप्ति होना तो बहुत ही दुर्लभ है, इसलिए क्षण-मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

(१०)

दुल्लभेऽयं समुस्सप ।

सू०, १५, १७

टीका—मनुष्यभव प्राप्त करना बहुत ही कठिन है, इसलिये इससे जितना भी फायदा उठाया जा सके, उतना उठा लेना चाहिये । अन्यथा पछताना होगा ।

(११)

अहीण पंचेंदियया हु दुल्लहा ।

उ०, १०, १७

टीका—पाचो इन्द्रियां सर्वाङ्ग सुन्दर और स्वस्थ मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, इसलिये क्षणमात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

(४)

सद्धा परम दुल्लहा ।

सू०, ३, ९

टीका—यदि सौभाग्य से ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप मोक्ष मार्ग की वाते सुनने का मौका मिल जाय, तो भी उनपर श्रद्धा आना-आत्म-विश्वास का पैदा होना अत्यन्त कठिन है । दुर्लभ है !

(५)

णो सुलभं वोहिं च आहियं ।

सू०, २, १९, उ, ३

टीका—सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन मिलना अत्यन्त कठिन है । अनेक जन्मों में सचित पुण्य के उदय से ही ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति होती है । इसलिए जीवन को प्रमादमय नहीं बनाकर पर-सेवामय ही बनाना चाहिए ।

(६)

संवोही खलु दुल्लहा ।

सू०, २, १, उ, १

टीका—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है । आत्मा में कषायों की शांति होने पर और पुण्य के उदय होने पर ही सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होती है । इसलिये जीवन में प्रमाद को स्थान नहीं देना चाहिये ।

दुल्लहया कारण फासया ।

सू०, १०, २०

टीका—श्रेष्ठ धर्म का, अहिंसा प्रधान धर्म का और स्याद्वाद प्रधान सिद्धान्त का काया द्वारा आचरण किया जाना तो अत्यन्त

दुर्लभ है । अतएव प्रमाद से सदैव सावधान रहना चाहिये और मन, वचन तथा काया को धर्म-मार्ग में प्रवृत्त करना चाहिये ।

(८)

दुल्लहाओ तहच्चाओ ।

सू०, १५, १८

टीका—सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति के अनुरूप हृदय के शुद्ध परिणाम होना, निर्दोष अन्तःकरण का होना अत्यन्त कठिन है । शुभ कर्मों का उदय होने पर ही सम्यग्-दर्शन के अनुसार हृदय में सरलता, प्रशस्यता, शुभ ध्यान और शुभ-लेश्या पैदा हो सकती है ।

(९)

आयरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं ।

उ०, १०, १६

टीका—यदि दैवयोग से मनुष्य-शरीर मिल जाय, तो भी आर्य-धर्म की व अहिंसा प्रधान धर्म की प्राप्ति होना तो बहुत ही दुर्लभ है, इसलिए क्षण-मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

(१०)

दुल्लभेऽयं समुत्सप ।

सू०, १५, १७

टीका—मनुष्यभव प्राप्त करना बहुत ही कठिन है, इसलिये इससे जितना भी फायदा उठाया जा सके, उतना उठा लेना चाहिये । अन्यथा पछताना होगा ।

(११)

अहीण पंचेंदियया हु दुल्लहा ।

उ०, १०, १७

टीका—पाचो इन्द्रिया सर्वाङ्ग सुन्दर और स्वस्थ मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, इसलिये क्षणमात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये !

(१२)

नो सुलभं पुणरावि जीवियं ।

सू०, २, १, उ, १

टीका—सयम जीवन बार-बार सुलभ नहीं है, इसलिये प्रमाद मत करो । अशुभ-मार्गमें प्रवृत्ति मत करो !

(१३)

जुद्धारिहं खलु दुल्लहं ।

आ०, ५, १५५, उ, ३

टीका—सयम मार्ग पर चलते हुए-कर्तव्य-मार्ग पर चलते हुए आनेवाले परिषहो को-उपसर्गों को, जो कि आर्य-शत्रु है, ऐसे आर्य शत्रुओं पर विजय-प्राप्त करके इनको जीतना ही आदर्श काम है । इसीलिये कहा गया है कि आर्य-युद्ध बहुत कठिनाई से प्राप्त होता है । इस आर्य-युद्ध में ही वीरता बतलाओ ।

(१४)

इओ विद्धंसमाणस्स,

पुणो संबोहि दुल्लभा ।

सू० १५, १८

टीका—जो जीव इस मनुष्य शरीर से भ्रष्ट हो जाता है, उसको फिर बोध-प्राप्त होना दुर्लभ है । मनुष्य जन्म प्राप्त करके जो केवल सारा समय विषय-भोगों में ही पूरा कर देता है, एवं दान, शील, तप, और भावना से खाली हाथ जाता है, उसे सम्यग्-दर्शन पुनः प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, इसलिये समय का सदुपयोग धर्मारामन में ही रहा हुआ है ।

(१५)

✓ बहु कम्म लेव लित्ताणं,

योही होइ सुदुल्लहा ।

उ० ८, १५

टीका—भारी कर्मों में लिप्त जीवों को, भोगों में फंसे हुए जीवों को, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और नीति मार्ग की प्राप्ति बहुत ही कठिनाई से होती है ।

(१६)

सुदुल्लहं लहिउं बोहिं लाभं विहरेज्ज ।

उ०, १७, १

टीका—सुदुर्लभ सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन की प्राप्ति करके, आत्म-कल्याण के मार्ग पर आरुढ़ होकर आनन्द पूर्वक निर्लेपता के साथ और निश्चितता के साथ विचरो । इसी रीति से जीवन-काल व्यतीत करो ।

(१७)

माणुस्सं खु सुदुल्लहं ।

उ०, २०, ११

टीका—मनुष्य-जीवन मिलना अत्यन्त दुर्लभ है । अनेक जन्मों में महान् पुण्य कर्मों का संचय होने पर ही मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होती है । इसलिए बहुमूल्य समय को व्यर्थ, और अनुपयोगी कामों में खर्च मत करो ।

(१८)

मायाहिं पियाहिं लुण्णह,
नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।

सू०, २, ३, उ, १

टीका—जो पुरुष अपना कर्तव्य भूलकर माता-पिता के मोह में फस जाता है—मोह-ग्रस्त हो जाता है, उसकी मरने पर सुगति नहीं हो सकती है ।

ज्ञान-सूत्र

(१)

एगे नाणे ।

ठाणाग, १ ला, ठा, ४२

टीका—आत्मा का लक्षण ज्ञान बताया गया है । आत्मा एक अखंड द्रव्य है, स्वतंत्र सत्ता वाला अरूपी द्रव्य है, । तदनुसार उसका लक्षण यानी धर्म भी अखंड और स्वतन्त्र ही है । ज्ञान-शक्ति प्रत्येक आत्मा में अखंड रूप से और अपने आपमें परिपूर्ण रूप से व्याप्त है ।

ससार में विभिन्न जीवों में जो ज्ञान के भेद या परस्पर में जो ज्ञान की विभिन्नता पाई जाती है, उसका मूल कारण आत्मा में संलग्न कर्म परमाणु है, जैसे सूर्य के प्रकाश में बादलों के कारण से छाया और प्रकाश की तारतम्यता देखी जाती है, उसी तरह से कर्मों के भेद से या कर्मों की विषमता से ससारी आत्माओं के ज्ञान में भी भेद पाया जाता है । परन्तु मूल में सभी आत्माओं में समान, परिपूर्ण, अखंड और एक ही ज्ञान अवस्थित है, किसी में भी कम या अधिक नहीं है, अतएव यह कहना कि, “ज्ञान एक ही है” सत्य है ।

(२)

पढमं नाणं तथो द्या ।

द०, ४, १०

टीका—प्रथम सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । इसके बाद की जाने वाली क्रिया सम्यक् है, ठीक है । यही मोक्ष-मार्ग को

देने वाली हो सकेगी । अतएव ज्ञान होना सर्व प्रथम आवश्यक है ।
आदि में ज्ञान और तत्पश्चात् दया को स्थापित दिया गया है ।

(३)

दुविहः वोही,
णाण वोही चेव दंसण वोही चेव ।

ठाणा०, २ रा, ठा०, ३, ४, ११

टीका—समझ दो प्रकार की है—१ ज्ञान समझ और २ दर्शन समझ ।

वस्तुओं को जानना-पहिचानना ज्ञान-समझ है और उन पर उसी रीति से विश्वास करना दर्शन समझ है ।

(४)

नाणेण जाणई भावे ।

उ०, २८, ३५

टीका—सम्यक् ज्ञान होने पर ही, सभी द्रव्यों का और उनकी पर्यायों का, उनके गुणों का और उनके धर्मों का भली भाँति ज्ञान हो सकता है ।

(५)

नाणेण विता न हुंन्ति चरणगुणा ।

उ०, २८, ३०

टीका—जिस आत्मा में सम्यक् ज्ञान नहीं है, उस आत्मा का चारित्र्य भी ऐसी अवस्था में सम्यक् चारित्र्य नहीं कहा जा सकता है ।

(६)

दुविहे नाणे पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव ।

ठाणा०, २ रा, ठा, १ ला, उ०, २४,

टीका—प्रमुख रूप से ज्ञान दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और

परोक्ष । इन्हीं दो ज्ञान-भेदों में ज्ञान के अवशिष्ट सभी भेदों का समावेश किया जा सकता है ।

आत्म-शक्ति के आधार से उत्पन्न होने वाले अवधिज्ञान, मनः-पर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान का समावेश तो प्रत्यक्ष ज्ञानमें किया जा सकता है, और मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम, स्मृति, प्रत्यभि ज्ञान, बुद्धि ज्ञान, कल्पना ज्ञान, और विभिन्न साहित्यिक ज्ञान का समावेश परोक्ष में किया जा सकता है । परोक्ष इन्द्रिय और मन जनित होता है ।

(७)

नाण संपन्नयाए जीवे,
सन्व भावाहि गमं जणयइ ।

उ०, २९, ५९वाँ, ग०

टीका—ज्ञान संपन्नतासे, ज्ञान की वृद्धि करने से, आत्मा विश्व-व्यापी छ ही द्रव्यों का और उनकी पर्यायों का तथा उनके गुण-धर्मों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है । इससे चारित्र में वृद्धि करनेका मौका मिलता है ।

(८)

चउटिवहा बुद्धी, उप्पइया,
वेणइया, कम्मिया, पारिणामिया ।

ठाणा०, ठा, ४उ; ४, ३१

टीका—बुद्धि चार प्रकार की कही गई है — १ औत्पातिकी, २ वैनयिकी, ३ कार्मिकी ४ पारिणामिकी ।

(१) किसी भी प्रसंग पर सहज भावसे उत्पन्न होनेवाली और उपस्थित प्रश्नको तत्काल हल कर देने वाली बुद्धि औत्पातिकी बुद्धि है ।

(२) गुरु आदि पूजनीय पुरुषों की सेवा-भक्ति करने से पैदा होने वाली बुद्धि वैतनिकी है ।

(३) अभ्यास करते करते और कार्य करते करते प्राप्त होने वाली बुद्धि कार्मिकी है ।

(४) ज्यों ज्यों आयु के बढ़ने पर संसार के अनुभव से प्राप्त होने वाली बुद्धि पारिणामिकी बुद्धि है ।

(९)

जिणो जाणइ केवली ।

द०, ४, २२

टीका—राग और द्वेष पर, आत्यन्तिक विजय प्राप्त करने वाले जिन-प्रभु, केवल ज्ञानी ही सम्पूर्ण लोक और अलोक को देख सकते हैं । ऐसे जिन देव ही हमारे आदर्श हैं ।

(१०)

ना दंसणिस्स नाणं ।

उ०, २८, ३०

टीका—जिस आत्मा को सम्यक् दर्शन यानी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ है, उसका ज्ञान भी सम्यक् ज्ञान नहीं कहा जा सकता है, वह ज्ञान तो मिथ्या ज्ञान ही है ।

(११)

नाणेण य मुणी होइ,
तवेण होइ तावसो ।

उ०, २५, ३२

टीका—जो सम्यक् ज्ञान से युक्त होता है, वही मुनि है । और जो तप-सयम से युक्त है, वही तपस्वी है । गुणों के अनुसार ही पद की शोभा है । गुणों के अभाव में पद धारण करना विडम्बना मात्र है ।

(१२)

बुद्धा ह्यु ते श्रुतकडा भवन्ति ।

सू०, १२, १६

टीका—ज्ञानी पुरुष अपने ससार का अंत करने वाले होते हैं । ज्ञानी-ज्ञान बल से वस्तु-स्थिति समझ कर भोगो और तृष्णा के जाल में नहीं फँसते हैं, इससे शीघ्र कर्मों का नाश कर उन्हें मोक्ष तक पहुँचने में कोई खास कठिनाई नहीं आती है । वे शीघ्र ही अपने आत्म बल, चारित्र्य बल, कर्मण्यता बल, सेवा बल, और ज्ञान बल से संसार के सामने आदर्श महापुरुष बन जाते हैं ।

(१३)

✓ जे एगं जाणइ से सब्बं जाणइ,
जे सब्बं जाणइ से एगं जाणइ ।

आ०, ३, १२३, उ, ४

टीका—जिसने एक यानी अपनी आत्मा का स्वरूप भलीभाँति समझ लिया है, उसने सारे संसार का स्वरूप समझ लिया है और जिसने सारे ससार का स्वरूप समझ लिया है, उसने अपनी आत्मा का भी स्वरूप समझ लिया है । जो एक को जानता है, वह सबको जानता है, जो सबको जानता है, वह एक को भी जानता है ।

(१४)

सीहे मियाण पवरे,
एवं ह्वइ बहुसुण ।

उ०, ११, २०

टीका—जैसे केहरी सिंह सभी वन-चर-जीवों में श्रेष्ठ और प्रमुख होता है, वैसे ही बहुश्रुत ज्ञानी भी विनीत होने पर ही शोभा पाता है । ज्ञानकी शोभा विनय पूर्वक सम्यक् आचरण पर ही आश्रित है ।

(१५)

सकके देवाहि वई,

पवं हवई बहुस्सुए ।

उ०, ११, २३

टीका—जैसे देवताओं का स्वामी इन्द्र देवताओं में शोभा पाता है, वैसे ही बहुश्रुत-ज्ञानी, विनीत होने पर ही जन-समाज में शोभा को प्राप्त होता है ।

(१६)

उदही नाणारयण पंडिपुण्णे,

पवं हवई बहुस्सुए ।

उ०, ११, ३०

टीका—जैसे समुद्र नानाविध रत्नों से परिपूर्ण होता है, वैसे ही बहुश्रुत-ज्ञानी विनय शील होता हुआ स्वाभाविक रूप से ही नाना गुणों से परिपूर्ण हो जाता है ।

(१७)

सुय महिद्धिज्जा उत्तमद्ध गवेसए ।

उ०, ११, ३२

टीका—उत्तम अर्थ की खोज करने के लिये, आत्मा और परमात्मा के रहस्य को समझने के लिए, आत्मा की अनुभूति के लिये, सूत्र का अध्ययन करना चाहिये । भगवान की वाणी का मनन और चिन्तन करना चाहिये ।

(१८)

सज्झायंमि रओ सया

द०, ८, ४२

टीका—सदैव स्वाध्याय में ही लगे रहना चाहिये, ज्ञान बढ़ाने वाली पुस्तकें पढ़ने में ही संलग्न रहना चाहिए। क्योंकि ज्ञान ही उन्नति का मार्ग-दर्शक है।

(१९)

सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो,
खवित्तु कम्मं गइ मुत्तमं गया ।

उ०, ११, ३१

टीका—विपुल अर्थ वाले श्रुत ज्ञान के धारक और षट् काय जीवों की रक्षा करने वाले, ऐसे बहुश्रुत ज्ञानी और दयाशील आत्मारथी महापुरुष कर्मों का क्षय करके उत्तम गति को यानी मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। यही आदर्श हमारे सामने भी होना चाहिये।

(२०)

वसे गुरुकुले निवृत्तं ।

उ०, ११, १४

टीका—शिक्षार्थी, ज्ञानार्थी, नियम पूर्वक ज्ञान-प्राप्ति के लिये और आचरण शुद्धि के लिये गुरुकुल में अथवा ऋषि महात्माओं की सगति में वास करे। इसी प्रकार अपना जीवन-भाग वितावे।



दर्शन-सूत्र

(१)

संमत्त दंसी न करेइ पावं ।

आ०, ३, ४, उ, २

टीका—जो सम्यक् दृष्टि है, जिसका एकान्त ध्येय ज्ञान, दर्शन और चारित्र में ही रमण करना है, जो चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते और दूसरी क्रियाएँ करते हुए भी विवेक और यतना का ख्याल रखते हैं, अहिंसा और सेवा को ही मूल आधार मानकर जीवन-व्यवहार चलाते हैं, तो ऐसी स्थिति में शरीर सम्बन्धी और अन्य व्यवहार सम्बन्धी सभी क्रियाएँ करने की दशा में भी उनको पाप कर्म नहीं छू सकता है । इस प्रकार सम्यक् दृष्टि पाप नहीं करता है । योग-प्रवृत्ति होनेपर भी वह पाप से मुक्त है ।

(२)

नत्थि चरित्तं सम्मत्त विहणं ।

उ०, २८, २९

टीका—सम्यक्त्व के बिना, श्रद्धा के बिना-वास्तविक विश्वास के बिना, सम्यक् चारित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती है । विश्वास के अभाव में चारित्र केवल बाह्य साधारण आचरण मात्र है, वह मोक्ष की तरफ बढ़ाने वाला वैराग्यमय सुन्दर चारित्र नहीं कहा जा सकता है ।

(३)

दंसणेण य सइहे ।

उ०, २८, ३५

टीका—सम्यक् दर्शन होने पर ही सभी द्रव्यों की, इनके पर्यायों की और इनके गुणों की श्रद्धा जम सकती है, इनपर विश्वास हो सकता है।

(४)

नाणवमद्वा दंसण लूसिणो ।

आ०, ६, १८७, उ, ४

टीका—जो सम्यक् दर्शन से भ्रष्ट हो जाते हैं, जिनका विश्वास आत्मा, ईश्वर, पाप, पुण्य आदि सिद्धान्तों पर से उठ जाता है, उनका सम्यक् ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। वे ज्ञान से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्वी हो जाते हैं। मिथ्यात्वी हो जाने पर उनका लक्ष्य केवल भोग भोगना, सांसार सुख प्राप्त करना, ससारिक वैभव एकत्र करना ही रह जाता है। इस कारण उनका ज्ञान मिथ्या ज्ञान है और वे मिथ्यात्वी हैं। इस प्रकार दर्शन से पतित आत्माएँ, ज्ञान भ्रष्ट हो जाया करती हैं।

(५)

समियंति मन्तमाणस्स समिया,
वा असमिया वा समिया होइ ।

आ०, ५, १६४, उ, ५

टीका—जो आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में पूरी पूरी श्रद्धा करता है और ढिगाने पर भी नहीं ढिगता है, तो ऐसे सम्यक्त्वशील आत्मा के लिये सच्चा और मिथ्या दोनों ही प्रकारका ज्ञान सत्य-रूप से परिणमित हो जाता है। असत्य भी सम्यक्त्व की लिये सत्य-रूप से ही काम देता है, यह सब महिमा सम्यक्त्व की ही है।

(६)

वीरा सम्मत्त दंसिणो,
सुद्धं तेहिं परक्कंतं ।

सू०, ८, २३

टीका—जो सम्यक् दर्शनी है अर्थात् ससार के सुख में रहते हुए भी जिनका दृष्टिकोण अनासक्त रूप है, ऐसे वीर पुरुषों का प्रयत्न चाहे वह कैसा भी हो तो भी शुद्ध ही है, ससार को घटाने वाला ही है, वशर्ते कि वे वास्तव में अनासक्त और विरक्त हो ।

(७)

दंसण संपन्नयाए,
भव मिच्छत्त छेयणं करेइ ।

उ०, २९, ६०वाँ, ग०

टीका—दर्शन संपन्नता से, सम्यक्त्व से, धर्म में विश्वास करने से मिथ्यात्व का नाश होता है, भोगों की तरफ अरुचि बढ़ती है, ससार-परिभ्रमण की मात्रा घटती है, एव सूत्र-सिद्धान्तों का ज्ञान बढ़ता है ।

(८)

सम्महिट्ठी सया अमूढे ।

उ०, १०, ७

टीका—सम्यक् दृष्टि आत्मा ही, आत्मा और परमात्मा पर एक-मात्र दृष्टि रखने वाला पुरुष ही, ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य में लीन व्यक्ति ही सदैव अमूढ़ होता है । वह चतुर, सत्दर्शी और सम्यक् मार्गी होता है ।

(९)

दिट्ठिमं दिट्ठिण जसपज्जा ।

सू०, १४, २५

टीका—सम्यग् दृष्टि पुरुष अपनी श्रद्धा को और अपने सम्यग् दर्शन को एव शुद्ध-भावना को दूषित नहीं करे ।

सम्यक्-दर्शन में चल-विचलता, सशय, भावोंकी समिश्रणता, विपरीत धारणा आदि दुर्गुण नहीं आने दें ।

(१०)

चउव्वीसत्थएणं दंसणवित्थोहिं जणयइ ।

उ०, २९, ९ वा, ग०

टीका—चौबीस तीर्थकरो की स्तुति करने से, ईश्वर-भजन करने से दर्शनमे, श्रद्धामे, सम्यक्त्वमे विशुद्धि आती है। दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय होता है और भावना मे निर्मलता तथा दृढता पैदा होती है।

(११)

वित्तिगिच्छु समावन्नेण,
अप्पाणेणं नो जहइ समाहिं ।

आ०, ५, १६२, उ, ५

टीका—जिस आत्मा को ज्ञान, दर्शन और चारित्रिकी आराधना करते हुए नानाप्रकार की शकाएँ पैदा हो जाती है, नवतत्त्वों और षड्-द्रव्यों के प्रति तथा अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रति भ्रमणाएँ पैदा हो जाती है, भ्रम हो जाता है, ऐसी आत्मा समाधि रूप शांति को नहीं प्राप्त कर सकती है। सयम-आराधना के लिये और कर्त्तव्य-पालन के लिए पूर्ण श्रद्धा तथा समाधिमय शांति की अनिवार्य आवश्यकता है। सदेह शील आत्मा चिर शांति नहीं प्राप्त कर सकती है।

(१२)

दुविहे दंसणे, सम्म दंसणे चेव,
मिच्छा दंसणे चेव ।

ठाणा०, २ रा, ठा, १ ला, उ, २३

टीका—संसार की वस्तुओं को, विश्व के द्रव्यों को देखने के दो दृष्टिकोण हैं :- १ सम्यक् दर्शन और २ मिथ्या दर्शन।

सम्यक्-दर्शन मे आत्मा की पवित्रता प्रथम ध्येय होता है और जीवन का व्यवहार गौण होता है।

मिथ्या दर्शन में संसार का सुख-वैभव प्राप्त करना मुख्य ध्येय होता है, और आत्मा ईश्वर आदि आध्यात्मिक बातों के प्रति उपेक्षा होती है।

चारित्र-सूत्र

(१)

एगे चरित्ते ।

ठाणा०, १ ला, ठा, ४४

टीका—विशुद्ध आत्मा का विशुद्ध चारित्र ही एक अखड और चास्तविक चारित्र है । वही परिपूर्ण चारित्र है ।

संसार मे विभिन्न आत्माओ का जो विभिन्न आचरण रूप चारित्र पाया जाता है, उसका मूल कारण कषाय, विषय, वासना, विकार और शुद्धि की अल्पाधिकता समझनी चाहिये ।

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो मूल मे जो आदर्श चारित्र है, वही एक और अखड है । उसी मे कर्म-भेद से नाना भेद हुआ करते है ।

(२)

चरित्तेण निगिणहाइ ।

उ०, २८, ३५

टीका—सम्यक् चारित्र के द्वारा ही सब प्रकार के आश्रव का विरोध किया जा सकता है ।

चारित्र के अभाव में आश्रव नही रोका जा सकता है ।

(३)

विज्जा-चरणं पमोक्खं ।

सू०, १२, ११

टीका—विज्जा यानी ज्ञान और चरणं यानी क्रिया, इन दोनों से ही मोक्ष मिलता है । सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । दोनो में से एक के भी अभाव में मोक्ष नहीं मिल सकता है । दोनों का साथ-साथ होना आवश्यक है । ज्ञान

शब्द से ज्ञान और दर्शन दोनों ही समझना चाहिये । “सम्यग् ज्ञान-दर्शन चारित्राणि मोक्ष मार्ग ” अथवा - “ज्ञान-क्रियाभ्याम् मोक्षः” वाक्य भी इसी सूक्ति के पर्याय वाची वाक्य है ।

(४)

खंते अभिनिव्वुडे दंते,
वीत गिद्धी सदा जप ।

सू०, ८, २५

टीका—आत्म-कल्याण की भावना वाला पुरुष क्षमा-शील हो, लोभादि कषाय से रहित हो, जितेन्द्रिय हो, विषय-भोग में आसक्ति रखने वाला नहीं हो, तथा सदा यत्न पूर्वक, विवेक-पूर्वक जीवन व्यतीत करने वाला हो ।

(५)

जवा लोह मया चैव,
चावेयव्वा सुदुक्करं ।

उ०, १९, ३९

टीका—सयम यानी इन्द्रिय-दमन का मार्ग और मन के विकारों पर विजय करने का मार्ग लोहे के जो चवाने के समान अत्यन्त कठिनतम कार्य है । यह सुदुष्कर व्रत है ।

(६)

सामाद्वय माडु तस्स जं,
जो अप्पाणं भय ण दंसय ।

सू०, २, १७, ३, २

टीका—जो अपनी आत्मा में जरा भी भय अनुभव नहीं करता है, जो सदैव निर्भय, निर्विघ्न रहता है, जो प्रिय, सत्य और सुन्दर बात को बिना लाग-लपेट के निर्भयता पूर्वक कहता है, उसके लिए सदैव सामयिक ही है । भय के साथ सामायिक भाव नहीं रह सकता है ।

तप-सूत्र

(१)

तवं चरे ।

उ०, १८, १५

टीका—तपस्या का, त्याग का, निर्लेपता का और अकिंचनता का आचरण करो । बारह प्रकार की निर्जरा को जीवन में स्थान दो ।

(२)

तवसा धुणइ पुराण पावगं ।

द०, ९, ४, च० उ०

टीका—पूर्व काल में, पूर्व जन्मों में किये हुए पापों की निर्जरा तप द्वारा होती है । अन-शन, उणोदरी आदि तप के भेद हैं, इसके सिवाय पर-सेवा, ज्ञान ध्यान की आराधना, कषाय त्याग आदि सब क्रियाएँ भी तप हैं ।

(३)

तवेण परिसुज्झई ।

उ०, २८, ३५

टीका—बारह प्रकार के तप से ही, इन्द्रिय-दमन आदि तपस्य द्वारा ही पूर्व काल में उपाजित कर्मों का क्षय किया जा सकता है ।

(४)

तवी गुण पहणस्स उज्जुमइ ।

द०, ४, २७

टीका—जिसने अपने जीवन में, तप को-वाह्य और आभ्युदय दोनों प्रकार की तपस्या को, मुख्य रूप से स्थान दिया है, वह ऋजू-मति है, वह सरल बुद्धि वाला है, वह निष्कपट हृदय वाला है ।

(५)

तवं कुब्बइ मेधावी ।

द०, ५, ४४, उ, द्वि,

टीका—मेधावी का, बुद्धि-शाली का और विवेक शाली का प्रत्येक कार्य विवेक पूर्वक होने से वह तपमय ही होता है, वह निर्जरा का ही कारण बनता है । विवेक मे ही धर्म है ।

(६)

तवेणं वोदाणं जणयइ ।

उ०, २९, २७वा, ग,

टीका—तपसे, बारह प्रकार के तप की परिपालना करने से-तप की आराधना से पूर्व कृत कर्मों का क्षय होता है । इस प्रकार आत्मा निर्मल और बलवान् बनती है ।

(७)

परक्कमिज्जा तवं संजमंमि ।

द०, ८, ४१

टीका—तप और संयम मे सदैव पराक्रम बतलाना चाहिए, क्योंकि विकारो को जीतने के लिये सयम अद्वितीय साधन है ।

(८)

सब्बओ संवुढे दंवे,

आयाण सुसमाहरे ।

सू०, ८, २०

टीका—बाहिर और भीतर दोनों ओर से गुप्त रहे, संयम-शील रहे । हृदय में माया आदि कपाय और अशुभ ध्यानो का निवास नही होने दे, तथा बाहिर वचन और काया को अशुभ प्रवृत्तियों से रोके । इन्द्रियों का दमन और सयम की आराधना करता रहे । दर्शन, ज्ञान, और चारित्र्य का पालन तत्परता के साथ विशुद्ध रीति से करता रहे ।

(९)

अक्रोहणे सच्चरते तवस्सी ।

सू०, १०, १२

टीका—जो कठिन से कठिन और प्रतिकूल परिस्थिति में भी क्रोध नहीं करता है, और विकट से विकट संकट में भी सत्य को नहीं छोड़ता है, वही पुरुष सच्चा तपस्वी है, वह श्रेष्ठ तपस्वी है। वही आदर्श पर-सेवक है।

(१०)

अप्पा दन्तो सुही होइ ।

उ०, १, १५

टीका—जो अपनी आत्मा को विषय-कषाय से, विकार-वासना से, आसक्ति-मूर्च्छा से और तृष्णा-आशा से अलग करता रहता है, आत्मा का इस प्रकार दमन करता रहता है वही अंत में सुखी होता है।

(११)

णो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।

सू०, ७, २७

टीका—तपस्या के द्वारा पूजा की इच्छा नहीं करे, तपस्या का ध्येय आत्म-कल्याण का रखे, तपस्या के द्वारा पूजा-मान-सन्मान की आकांक्षा नहीं करे। पूजा-सन्मान की भावना नियाणा है, और नियाणा से मोक्ष-प्राप्ति के स्थान पर ससार की ही वृद्धि होती है।

(१२)

वेपूज्ज निज्जरा पेही ।

उ०, २, ३७

टीका—निर्जरा प्रेक्षी, पूर्व कर्मों को क्षय करने की इच्छा रखने वाला, दुःखको, परिपह को, उपसर्ग को और कठिनाइयों को शांतिपूर्वक सहन करे। अधीर और अशांत नहीं बन जाय !

(१३)

समाहि कामे समणे तवस्सी ।

उ०, ३२, ४,

टीका—साधु को,—आत्मारथी को यदि समाधि की इच्छा है, राग-द्वेष को क्षय करने की इच्छा है, तो तपशील बने, इन्द्रियो के ऊपर सयम रखे, और अनासक्त जीवन व्यतीत करे । निरन्तर पर-सेवा में ही काल व्यतीत करता रहे ।

(१४)

असिधारा गमणं चेव,

दुष्करं चरिउं तवो ।

उ०, १९, ३८

टीका—कष्ट साध्य परन्तु सुन्दर परिणाम वाले तपों का तथा सेवा और सयम का आचरण करना तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है ।

(१५)

दुविहे सामाइए,

अगार सामाइए, अणगार सामाइए ।

ठाणा०, २ रा, ठा, उ, ३, ६

टीका—सामायिक दो प्रकार की कही गई है — १ आगारिक सामायिक और २ अणागारिक सामायिक । मर्यादित समय की, गृहस्थों द्वारा की जाने वाली सामायिक आगारिक है और जीवन-पर्यन्त के लिये ग्रहण की जाने वाली—साधुओं की सामायिक अणागारिक है ।

(१६)

सामाइएणं सावज्ज जोग विरइं जणयइ ।

उ०, २९, ८, वां, ग०

टीका—सामायिक व्रत से—सावद्य-योग की निवृत्ति से—मन, वचन और काया की पापकारी प्रवृत्ति का निरोध होता है । सावद्य योग से विरति पैदा होकर निरवद्य-योग में प्रवृत्ति होती है ।

(१७)

पडिष्कमणेणं वय छिद्वाणि पिहेइ ।

उ०, २९, ११ वा, ग०,

टीका—प्रतिक्रमण करने से-कृत अपराधों की आलोचना करने से-ग्रहित व्रतों में उत्पन्न दोषों का प्रायश्चित्त करने से व्रतों के दोष और ग्रहित नियमों के दोष ढक जाते हैं, और इस प्रकार व्रत-नियम निर्दोष हो जाते हैं ।

(१८)

काउस्सग्गेणं तीथ पडुप्पन्नं,
पायच्छित्तं विसोहेइ ।

उ०, २९, १२वां, ग०

टीका—कायोत्सर्ग करने से, ध्यान करने से, प्रवृत्तियों को रोक कर-मानसिक-स्थिति को एकाग्र कर चिन्तन-मनन करने से, भूतकाल और वर्तमान काल के अतिचारों की विशुद्धि होती है तथा भविष्य में दोष लगने की संभावना से आत्मा बच जाती है ।

(१९)

पच्चक्खणेणं आसव दाशइं निरुम्मइ ।

उ० २९, १३ वां, ग०,

टीका—प्रत्याख्यान करने से, त्याग करने से, वस्तुओं के भोग-उपभोग की मर्यादा करने से, आश्रव के द्वारों का निरोध होता है । इस प्रकार नये कर्म आते हुए रुकते हैं । इस रीति से संसार-समुद्र के किनारे की ओर बढ़ते हैं और मोक्ष के नजदीक जाते हैं ।

(२०)

पायच्छित्त करणेणं पावकम्म,
विसोहिं जणयइ ।

उ०, २९, १६ वां, ग०

टीका—प्रायश्चित्त करने से, अपने द्वारा कृत अपराधों के लिए और ग्रहित व्रतों में आये हुए दोषों के लिये निन्दापूर्वक आलोचना करने से, एव पश्चात्ताप करने से पाप-कर्मों का क्षय होता है और आत्मा की विशुद्धि होती है ।

(२१)

वेया वच्चेणं तित्थयर-
नाम गोत्तं कम्मं निबन्धइ ।

उ०, २९, ४३ वां, ग०

टीका—वैयावृत्य करने से, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं की, चतुर्विध श्री सघ की सेवाशुश्रूषा करने से, इन्हे साता पहुँचाने से, तीर्थंकर नाम कर्म का और उच्च गोत्र कर्म का बन्ध पड़ता है । इस रीति से मोक्ष-स्थान अति निकट आ जाता है ।

(२२)

आलोयणाए उज्जु भावं जणयइ ।

उ०, २९, पा० ग०

टीका—आलोचना से और पाप का प्रायश्चित्त करने से सरलता आती है, निष्कपटता पैदा होती है । इससे आत्मबल बढ़ता है एव चारित्र्य में प्रगति होती है ।

(२३)

सफ्खं खु दीसइ तवो विसेसो,
न दीसइ जाइ विसेस कोई ।

उ०, १२, ३७

टीका—तप की और सयम प्रधान सदगुणों की ही विशेषता और आदर-दृष्टि प्रत्यक्ष रूप से देखी जाती है । जाति-कुल-कुटुम्ब आदि की विशेषता अथवा उच्चता गुणों के अभाव में जरा भी आद-

रणीय नहीं है । बाह्य-उच्चता कृत्रिम उच्चता है । गुण-उच्चता ही वास्तविक उच्चता है ।

(२४)

मञ्ज्जत्थो निज्जरापेही,
समाहि मणुपालण ।

आ०, ८, २१, उ, ८

टीका—विपरीत परिस्थिति में भी मध्यस्थ होता हुआ, निर्जस की आराधना करता हुआ, विभिन्न प्रकार के तपो का पालन करता हुआ, ज्ञानी पुरुष समाधि की और स्थिति-प्रज्ञ-भावना की सम्यक् प्रकार से परिपालना करे । वह धर्म पर दृढ़ रहे । मति को चंचल और चपल नहीं होने दे । वह कर्तव्य से पतित न हो ।

(२५)

चउव्विहे पायच्छित्ते,
णाणपायच्छित्ते, दंसण पायच्छित्ते,
चरित्त पायच्छित्ते, वियत्त किच्चे पायच्छित्ते ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, १, ३३

टीका—चार प्रकार के प्रायश्चित्त कहे गये हैं—१ ज्ञान प्रायश्चित्त, २ दर्शन प्रायश्चित्त, ३ चारित्र प्रायश्चित्त और ४ व्यक्त कृत्य प्रायश्चित्त । १ ज्ञान की आराधना करके पापों की शुद्धि करना ज्ञान प्रायश्चित्त है । २ दर्शन की या श्रद्धा की विशुद्धि करके पापों का प्रायश्चित्त करना दर्शन प्रायश्चित्त है । ३ निर्मल चारित्र की आराधना करके पापों का पश्चात्ताप करना चारित्र प्रायश्चित्त है । ४ अनासक्त और पूर्ण गीतार्थ होकर, एव असाधारण विद्वान् वनकर पापों का प्रायश्चित्त करना व्यक्त कृत्य प्रायश्चित्त है ।

(२६)

क्रिसप देह मणासणाइहि ।

सू०, २, १४, उ, १

टीका—इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने के लिये, मनको नियंत्रित करने के लिये अनग्न, उपवास आदि बाह्य और आभ्यंतर तपस्या के द्वारा शरीर को कृश करे । तप से शरीर की धातुओं को मुखावे ।



मोक्ष-सूत्र

(१)

स्वमे च सिवं श्रणुत्तरं ॥

उ०, १०, ३५

टीका—मोक्ष निरावाध सुख वाला है, शाश्वत् है, कल्याणकारी है, सर्वोत्कृष्ट है । मोक्ष क्षेम मय है, शिव मय है और सर्व श्रेष्ठ है ।

(२)

सर्वे सरा नियद्वन्ति, तक्का जत्थ न विज्जइ,
मई तत्थ न गाहिया, उवमा न विज्जए ।

आ०, ५, १ १-१७२-उ, ६

टीका—आत्मा की मुक्त-अवस्था शब्दातीत है, शब्दों से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है, सब शब्द उसके स्वरूप का वर्णन करने में हार खा जाते हैं । तर्क-शास्त्र भी अपनी असमर्थता बतला देता है । मनुष्यों की बुद्धि, कल्पना और अनुमान भी उसके मूल स्वरूप को नहीं खोज सकते हैं । किसी उपमा द्वारा भी उस मुक्त-अवस्था की तुलना नहीं की जा सकती है । इस प्रकार मुक्ति-अवस्था अनिर्वचनीय है, अतर्कनीय है, अनुमानातीत है, अनुपमेय है । वह तो केवल अनुभव-गम्य मात्र है । अपौद्गलिक है, एकान्त रूप से आत्मा की सर्वोच्च और अन्तिम मौलिक अवस्था है । केवल स्थायी निरावाध आध्यात्मिक आनंद अवस्था है । वेद भी “नेति नेति”—“ऐसा नहीं है ऐसा नहीं है, ” यह कहकर उसके स्वरूप वर्णन में अपनी असमर्थता जाहिर करते हैं ।

(३)

मुद्धेण उवेति मोक्षं ।

सू०, १४, १७

टीका—गुद्धता से ही, निर्कपाय अवस्था से ही, मोक्ष प्राप्त होता है । कपाय का सर्वथा अभाव होगा तो अपने आप यथाख्यात चारित्र्य की प्राप्ति हो जायगी, और इससे स्वभावतः मुक्ति की प्राप्ति हो जायगी ।

(४)

अव्यावाहं सुखं,
अणुहोती सासयं सिद्धा ।

उच०, सिद्ध, २१

टीका—सिद्ध प्रभु सदैव अव्यावाह यानी निरावाह, शाश्वत्, स्थायी, नित्य, अक्षय, अविच्छिन्न वारा वाले सुख का अनुभव करते रहते हैं । उनके सुखानुभव में किसी भी प्रकार की और कभी भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है । बाधा उपस्थिति का कारण कर्म होता है, जो कि वहाँ नहीं है ।

(५)

सर्व संग विनिष्मुक्तो,
सिद्ध भवद् नीरण ।

उ०, १८, ५४

टीका—मोक्ष स्थान में, मुक्त अवस्था में प्रत्येक मुक्त आत्मा सिद्ध होकर-संपूर्ण रीति से कृतकृत्य होकर, आठों कर्मों से रहित होकर, सभी कपाय-विषय, विकार, वासना, मूर्च्छा, परिग्रह—आसक्ति आदि में सर्वथा मुक्त होकर, निराकार निरंजन रूप से सर्व शक्ति सम्पन्न होकर अनन्त काल के लिए स्थित हो जाती है ।

(६)

सिद्धो हवइ सासओ ।

द०, ४, २५

टीका—आत्मा मोक्ष में जाने के बाद वहाँ से लौट कर नहीं आती है, क्योंकि कर्मों का आत्यंतिक क्षय हो जाता है, इसीलिये कहा गया है कि सिद्ध-अवस्था, मुक्त-अवस्था, शाश्वत होती है, नित्य और अक्षय होती है ।

(७)

सव्व मणागय मद्धं,

चिद्धंति सुहं पत्ता ।

उव०, सिद्ध, २२

टीका—मुक्त-आत्माएँ जिस क्षण से मुक्त होती हैं उस क्षण से लगाकर भविष्य में सदैव के लिये, अनन्तानन्त काल तक के लिये, अनन्त सुखों में ही स्थित रहती है । उनके सुख में—कभी भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है ।

(८)

णिच्छिण्णं सव्व दुक्खा,

जाइ जरा मरण बंधण-विमुक्का ।

-उव०, सिद्ध, २१

टीका—मुक्त-अवस्था में किसी भी प्रकार का कोई दुःख नहीं है, सिद्ध-प्रभु सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हैं । जन्म, वृद्धत्व, मृत्यु और कर्म बन्धन जैसी सासारिक सभी उपाधियों से वे सर्वथा मुक्त हैं । उनके लिये कोई भी उपाधि शेष नहीं है ।

(९)

अजरा अमरा असंगा ।

उव०, सिद्ध, २०

टीका—मुक्त आत्माओं में कभी भी वृद्धत्व नहीं आता है, यानी बाल, युवा और वृद्धत्व आदि अवस्थाओं से वे रहित हैं, क्योंकि ये अवस्थायें पौद्गलिक धर्म वाली हैं, जब कि मोक्ष में पौद्गलित्व ही नहीं है, तो फिर उनका गुण-धर्म वहाँ कैसे हो सकता है ?

सिद्ध आत्माएं अमर हैं, नित्य हैं; सदा एक अवस्था रूप हैं, कर्म रहित हैं। जन्म-मरण तो कर्म-जनित हैं। जहाँ कारण नहीं है, वहाँ कार्य भी कैसे हो सकता है ? कर्म-कारण के अभाव में जन्म-मरण कार्यों की सम्भावना नहीं रहती है।

सिद्ध आत्माएं असग हैं, निरजन, निराकार हैं, मोह रहित हैं, अतएव उनमें छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच, स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, पति-पत्नी, राजा-प्रजा, धनी-गरीब आदि सम्बन्ध और संयोग-वियोग गुण-धर्म भी वहाँ सर्वथा नहीं हैं। अतएव शास्त्रकारों ने उनके लिये “असग” विशेषण जोड़ा है, जो कि उपरोक्त स्थिति को बतलाता है।

(१०)

अलोगे पडिहया सिद्धा,
लोयग्गे य पडिहिया।

उव०, सिद्ध, २

टीका—सिद्ध भगवान् अलोक के नीचे हैं, अलोक और लोक के सधि भाग पर स्थित हैं। अलोक से नीचे और लोक-भाग के सर्वोपरि स्थित हैं। मुक्त आत्मा की उर्ध्वगति होना स्वाभाविक वस्तु है। तदनुसार आठों कर्मों के क्षय होते ही मुक्त आत्मा ऊपर की ओर गति करने लग जाती है। जहाँ तक धर्मास्तिकाय द्रव्य है, वहाँ तक बराबर ऊँचा गमन करती रहती है, धर्मास्तिकाय के समाप्त होते ही मुक्त आत्मा भी वही स्थित हो जाती है। अतएव मुक्त

आत्मा अलोक में क्यों नहीं जाती है और लोक के अंतिम अग्र भाग पर ही क्यों ठहर जाती है ? इसका उपरोक्त उत्तर है ।

(११)

अतुल सुह सागर गया,
अव्वायाहं अणोवमं पत्ता ।

उव०, सिद्ध, २२

टीका—मुक्त जीवों के सुख की उपमा किसी से भी नहीं दी जा सकती है, क्योंकि उपमाएँ तो मात्र पौद्गलिक वस्तु सबन्धी और मानवीय कल्पनात्मक एवं अनुमानात्मक होती हैं, जबकि मोक्ष-सुख अपौद्गलिक, शब्दातीत, अनुमानातीत और अननु-मेय होता है । अतः—एवं मुक्त आत्माएँ अतुल सुख-सागर में निमग्न रहती हैं । मोक्ष-सुख अवर्णनीय और अनिर्वचनीय होता है । मनुष्य-बुद्धि उसका वर्णन नहीं कर सकती है ।

(१२)

सिद्धाणं सोक्खं अव्वायाहं ।

उव०, सिद्ध, १३

टीका—मुक्त आत्माएँ शरीर-रहित हैं, कर्म-रहित हैं, अतएव मोक्ष में भौतिक सुख नहीं है, ऐन्द्रिक और मानसिक सुख नहीं है । पौद्गलिक और नाश हो जाने वाला सुख वहाँ कैसे हो सकता है ? मोक्षमें तो वाधारहित, अनन्त, स्थायी अपरिमेय और अनुपम आत्मिक सुख है ।

(१३)

सासयमव्वायाहं चिट्ठंति,
सुदी सुहं पत्ता ।

उव०, सिद्ध, १९

टीका—मोक्ष प्राप्त करने के बाद मुक्त आत्माओको फिर जन्म-मरण नहीं करना पड़ता है, क्योंकि जन्म-मरण के कारण जो कर्म है, उनका तो आत्यंतिक क्षय हो चुका है, अतएव मोक्ष अवस्था शाश्वत है, नित्य है, अक्षय है, अव्यावाध है । मुक्त जीव सुखी है और अनन्त सुखको अनुभव करते हुए स्थित है । अनन्तकाल तक उनकी एक सी ही स्थिति रहती है ।

(१४)

जत्थ य एगो सिद्धो,

तत्थ अणंता ।

उव०, सिद्ध, ९

टीका—सिद्ध आत्माएँ, मुक्त आत्माएँ अरूपी होती हैं, केवल अनन्त शक्तियों का पुञ्ज और अरूपी सत्ता मात्र अवस्था होती है । जहाँ एक सिद्ध आत्मा है, वहाँ अनन्त सिद्ध आत्माएँ भी हैं । अनन्तान्त सिद्ध आत्माएँ परस्पर में स्वतन्त्र अस्तित्वशील होती हुई भी-ज्योतिके समान-प्रकाशके समान परस्परमें निराबाध रूप से मिली हुई होकर सिद्ध स्थानमें स्थित हैं । जहाँ एक सिद्ध है, वहाँ अनेक सिद्ध हैं, और जहाँ अनेक सिद्ध हैं, वहाँ एक सिद्ध है, किन्तु प्रत्येक का स्वतन्त्र अस्तित्व है ।

(१५)

अज्ञाण मोहस्स विवज्जणाए,

एगन्त सोक्खं समुवेइ मोक्खं ।

उ०, ३२, २

टीका—अज्ञान और मोहको छोड़नेसे, सम्यक् ज्ञान और वीतरागता प्रकट करने से एकान्त सुख रूप मोक्षकी प्राप्ति होती है । शाश्वत्, अक्षय, नित्य, निराबाध और अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है ।

(१६)

मोक्षं सन्भूय साहणा,
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव ।

उ०, २३, ३३

टीका—मोक्ष-प्राप्तिके सद्भूत साधन-वास्तविक कारण सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य है । तीनों की सम्मिलित प्राप्ति से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ।

(१७)

अगुणिस्स नत्थि मोक्खो ।

उ०, २८, ३०

टीका—जिस आत्मामें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य नहीं है, जिस आत्माका दृष्टिकोण ससार सुखको ही प्रधान मानकर अपने विश्वास, ज्ञान और आचरण की प्रवृत्ति करना मात्र है, और जिसकी मोक्ष सुख के प्रति उपेक्षा है, उस आत्माको मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है । कर्मों से उसको छुटकारा नहीं मिल सकता है ।

(१८)

नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ।

उ०, २८, ३०

टीका—जिस आत्मा के कर्मों के बन्धन नहीं कटे हैं, उस आत्मा को निर्वाण की, अनन्त ईश्वरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है ।

(१९)

ते] ठाणं सासयं वासं,

जे संपत्ता न सोयन्ति ।

उ०, २३, ८४

टीका—वह स्थान यानी मोक्ष शाश्वत् है, नित्य है, अक्षय्य है, अप्रतिपाती है, और निराबाध सुख वाला है, इसको प्राप्त करके भव्य आत्माएँ शोक रहित हो जाती हैं । जन्म-मरण की व्याधियों से मुक्त हो जाती हैं ।

धर्म-सूत्र

(१)

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं ।

उ०, १, १

टीका—धर्म सबसे उत्कृष्ट मंगल है । वह शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शांति का देने वाला है । ससार-सुख और मोक्ष सुख का दाता है ।

(२)

धम्मो दीवो ।

उ०, २३, ६८

टीका—संसार रूप समुद्र में डूबते हुए भव्य जीवों के लिये धर्म ही एक मात्र द्वीप समान है । धर्म ही आधार-भूत है ।

(३)

दीवे घ धम्म ।

सू०, ६, ४

टीका—जैसे दीपक अंधकार को नष्ट करता है, वैसे ही धर्म भी यानी मनुष्यका पुनीत चारित्र्य और निर्दोष आचरण भी ससार रूपी अंधकार का नाश करने वाला है ।

(४)

धम्मो हरण वम्मो सन्ति तित्थे ।

उ०, १२, ४६

टीका—धर्म रूपी निर्मल तालाव है और उसमें ब्रह्मचर्य रूपी शान्तिमय सुन्दर घाट है । ऐसे घाट द्वारा ऐसे तालाव में स्नान करने

से ही कर्म रूपी मल दूर हो सकता है। बाह्य शुद्धि व्यावहारिक है वास्तविक नहीं है।

(५)
धम्मस्स विणओ मूलं

उ०, ९, २, द्वि, उ,

टीका—विनय ही धर्म का मूल है। विनय के अभाव में ज्ञान की, दर्शन की और चारित्र की कीमत बहुत थोड़ी रह जाती है।

(६)
इह माणुस्सए ठाणे,
धम्म माराहिउं णरा ।

सू०, १५, १५,

टीका—इस मनुष्य-लोक में धर्मका आराधन करके अनेक आत्माएँ ससार-सागर से पार हो जाती हैं। ससार-समुद्र में धर्म ही एक उज्ज्वल जहाज है।

(७)
घोणण किं धम्म धुराहि गारे ।

उ०, १४, १७

टीका—धर्मरूपी घुरा के उठा लेने पर यानी धर्मको अंगीकार कर लेने पर-सेवा, ब्रह्मचर्य, दान आदि को स्वीकार कर लेने पर धर्म का मूल्य ही क्या रह जाता है ? धन तो धर्म के आगे धूल के समान है।

(८)
धम्मं च कुणमाणस्स,
सफला जन्ति राइओ ।

उ०, १४, २५

टीका—धर्म करने वाले के लिए, स्व और पर का कल्याण करने वाले के लिए सभी रात्रिया-रात और दिन सफल ही जा रहे हैं।

(९)

धम्मं पि काऊणं जो गच्छेद्द,
परं भवं, सो सुही होइ ।

उ०, १९, २२

टीका—जो आत्मा धर्म करके-नैतिक और आध्यात्मिक नियमों का आचरण करके परलोकमें जाता है, वह सुखी होता है उसको सभी अनुकूल पदार्थों का संयोग प्राप्त होता है। प्रतिकूल पदार्थों से वह सदैव दूर रहता है।

(१०)

धम्मं चर सुदुच्चरं ।

उ०, १८, ३३

टीका—आचरण करने के समय तो कठिन दिखाई देने वाले और फल के समय सुन्दर दिखाई देने वाले धर्म का, जो कि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, शुद्ध भावना आदि आध्यात्मिक और नैतिक क्रियाओं का रूप है, पालन करो-आचरण करो।

(११)

एस धम्मे ध्रुवे निब्बे,
सासणं जिणं देसिणं ।

उ०, १६, १७

टीका—यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत् है और वीतराग जिन देव द्वारा तथा अरिहतों द्वारा प्ररूपित है। त्रिकाल सत्य है। संपूर्ण ज्ञान का सार रूप है और सभी धर्मों का मखन रूप अंग है। यह सर्वोपरि और सर्वोत्तम धर्म है।

(१२)

एक्को हु धम्मो ताणं,
न विज्जई अन्न मिहेह किञ्चि ।

उ०, १४, ४०

टीका—संसार-समुद्र से रक्षा करने वाला केवल एक धर्म ही है जो कि समय और पर सेवा रूप है । दूसरा और कोई पदार्थ आत्मा की संसार के दुखों से रक्षा नहीं कर सकता है ।

(१३)

धम्मविऊ उज्जु ।

आ०, ३, १०८, उ, १

टीका—जो आत्मा चेतन और अचेतन द्रव्यों के स्वभावको तथा श्रुत-चारित्र रूप धर्म को जानता है, वही “धर्म विद्” है । वह सरल भावना वाला है और उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र का अस्तित्व है ।

(१४)

आयरियं विदिताणं,
सन्न दुक्खा विमुच्चई ।

उ०, ६, ९

टीका—आर्य धर्म-दया, दान और दमन रूप धर्म को जानकर उसके अनुसार आचरण करने से सभी दुःखों का नाश हो जाता है ।

(१५)

धम्म सद्धाप णं साया सोक्खेसु,
रज्जमाणे विरज्जह ।

उ०, २९, तृ० ग०

टीका—धर्म पर श्रद्धा करने से साता वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त होने वाले सुखों पर तथा पौद्गलिक आनंद पर अरुचि पैदा होती है, विरक्ति पैदा होती है ।

(१६)

राई भोजन विरओ,
जीवो भवइ अणासवो ।

उ०, ३०, २

टीका—रात्रि में भोजन करने का परित्याग करने से, जल आदि पेय पदार्थ का परित्याग करने से, आत्मा नये पाप कर्मों के बधन से मुक्त हो जाता है । इससे आश्रव भाव का निरोध होता है ।

(१७)

दिव्वं च गइं गच्छन्ति,
चरित्ता धम्म मारियं ।

उ०, १८, २५

टीका—जो आर्य धर्म का-अहिंसा, सत्य, अनासक्ति और ब्रह्मचर्य आदिका आचरण करते हैं, वे दिव्य गति—देव गति और मनुष्य गति को प्राप्त होते हैं ।

(१८)

धम्मं अकाऊणं जो गच्छइ
परं भवं, सो दुही होइ ॥

उ०, १९, २०

टीका—जो आत्मा बिना धर्म किये ही-दान, शील, तप और भावना का आराधना किये बिना ही परलोक में जाता है, वह महान् दुःखी होता है । उसे नाना विधि अप्रिय सयोगों का और प्रिय वस्तुओं के वियोगों का सामना करना पड़ता है ।

(१९)

से सोयई मच्छु मुहोवणीए,
धम्मं अकाऊण परंमि लाए ।

उ०, १३, २१

टीका—जो मनुष्य धर्म की-दान, शील, तप और भावना की आराधना किये बिना ही मृत्यु के मुख में चला जाता है, वह परलोक में चिन्ता करता है, दुःखी होता है ।

(२०)

जहा से दीवे असंदीणे एव
से धम्मे आरियपदेसिए ।

आ०, ६, १८४, उ, ३

टीका—जैसे समुद्र के अन्दर मनुष्यों के लिए आधार-भूत केवल दीप ही होता है, अथवा जैसे घोर अन्धकार में केवल दीपक ही प्रकाश देने वाला और मार्ग-प्रदर्शक होता है, वैसे ही अगाध और अपरिमेय संसार-समुद्र में भी भव्य जीवों के लिये-आत्म-कल्याण के इच्छुक जीवों के लिये केवल वीतरागी महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट धर्म ही आधार भूत है । इस वीतराग-धर्म का आसरा लेकर ही भव्य जीव संसार-समुद्र से पार हो सकते हैं और अनन्त सुखमय, निराबाध शांतिमय मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं ।

(२१)

आणाए मामगं धम्मं ।

आ०, ६, १८१, उ, २

टीका—आत्मारथी यही समझे कि “भगवान की आज्ञा के अनुसार चलना ही मेरा धर्म है” । तदनुसार चारित्र्य-धर्म में दृढ़ रहे और ज्ञान एव दर्शन का विकास करता रहे ।

(२२)

आयरियं उसंपज्जे ।

सू०, ८, १३

टीका—आर्य धर्म को-अहिंसा प्रधान आचार धर्म को एवं स्या-
द्वाद प्रधान सिद्धान्तो को (समभाव पूर्वक तुलनात्मक विचारों को)
ग्रहण करो, इन पर श्रद्धा करो, इनको अमल में लाओ ।

(२३)

आरिंश्च मरुं परम च समाहिण ।

मू० ३, ६, उ, ४

टीका—आर्य-मार्ग यानी दया, दान, दमन, सत्य और शील रूप
यह मार्ग श्रेष्ठ समाधि वाला है । तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर
चलने से परम-समाधि रूप कल्याण की प्राप्ति होती है ।

(२४)

जीवियं नावकांखज्जा,
सोच्छा धम्म मणुत्तरं ।

मू०, ३, १३, उ, २

टीका—अहिंसा प्रधान श्रेष्ठ धर्म को सुनकर एवं उस पर
विश्वास कर कर्त्तव्य मार्ग पर चलने वाले पुरुष को चाहिये कि कर्त्तव्य
मार्ग पर चलते हुए प्रतिकूल उपसर्ग आदि कठिनाइयाँ आवें तो भी
मासांगिक-जीवन की और इन्द्रिय मुखके जीवन की आकाक्षा नहीं
करे, कर्त्तव्य-मार्ग से पतित न हो ।

(२५)

णच्छा धम्मं अणुत्तरं,
कय किरिण ण थावि मामप ।

मू०, २, २८, उ, २

टीका—श्रेष्ठ धर्म को-सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक्
चारित्र्य को जानकर समय रूप क्रियाका अनुष्ठान करे । तप, त्याग,
सेवा और समता की आराधना करे । एवं किसी भी वस्तु पर ममता-
भाव और परिग्रह-भाव नहीं रखे ।

(२६)

जे धम्मे अणुत्तरे,
तं गिएह हियंति उत्तमं ।

सू०, २, २४ उ, २

टीका—जो धर्म श्रेष्ठ है, जो एकान्त रूप से आत्मा का कल्याण करने वाला है, जो हितकारी है, जो कषाय से मुक्ति दिलाने वाला है, जो उत्तम है, हित-अहित का भान कराने वाला है, ऐसे धर्म को और अहिंसा व्रत को ग्रहण करो-इसे जीवनमें स्थान दो ।

(२७)

सुहावहं धम्म भुरं अणुत्तरं,
धारेह निव्वाण गुणावहं महं ।

उ०, १९, १९

टीका—सुखो को लाने वाली और सुखोको बढ़ानेवाली, मोक्ष-गुणो को देनेवाली, ऐसी सर्वश्रेष्ठ, धर्म रूप घुराको धारण करना चाहिए । धर्म का आचरण करना चाहिये ।

(२८)

चरिज्ज धम्मं जिण देसियं षिऊ ।

उ०, २१, १२

टीका—विद्वान् पुरुष, पाप-भीरु आत्मार्थी, जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म का ही आचरण करे । इन्द्रिय दमन करे । पक्षी के समान अनासक्त और निर्लेप जीवन में ही सार्थकता समझे ।

(२९)

दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ,
भावओ तहा, जयणा चउव्विहा वुत्ता ।

उ०, २४, ६

टीका—यतना पूर्वक, विवेक पूर्वक कार्य करने की प्रणाली चार प्रकार की कही गई है । १ द्रव्य से २ क्षेत्र से ३ काल से और ४ अंग से ।

(३०)

धम्माणं कासवो मुहं ।

उ०, २५, १६

टीका—धर्मों का मुख-धर्मों का आदि स्रोत भगवान् ऋषभदेव हैं, यानी भरत-क्षेत्र में धर्म और नीति, विवेक और दर्शन-शास्त्र के आदि प्रणेता तथा सर्व प्रथम धर्म का उपदेश देने वाले भगवान् ऋषभदेव स्वामी ही हैं ।

(३१)

सद्वहइ क्षिप्रमिहियं सो धम्मरुइ ।

उ०, २८, २७

टीका—जिन द्वारा, अरिहत द्वारा, तीर्थंकर द्वारा, अथवा गण-धर या स्थविर आचार्य द्वारा प्रणीत और प्ररूपित धर्म पर जो श्रद्धा करता है, इसीका नाम धर्म रुचि है ।

(३२)

थव थुइ मंगलेणं नाण दसणं-

चरित्त वोहि लाभं जणयइ ।

उ०, २९, १४वां, १०

टीका—अरिहत, सिद्ध और जिनेन्द्र देवों की स्तवः और स्तुति करने से, इनका भगल गान करने से, आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, रत्नत्रयकी वृद्धि होती है, इनकी विशुद्धि होती है ।

* स्तव—इन्द्र, गणधर, पूर्वधर, स्थविर कृत ईश्वर-प्रार्थना ।

* स्तुति—प्रत्येक भव्य जीव द्वारा कृत प्रार्थना, स्तवन, भजन आदि हार्दिक चरित्र भावना वाले विचार ।

(३३)

दोहिं ठाणेहिं आया केवलि पसत्तं धम्मं लभज्जा,
सवणयाए, खएण चैव, उवसमेण चैव ।

ठाणा, २रा, ठा, उ, ४, ४

टीका—आत्मा केवली के कहे हुए धर्म को सुनकर दो प्रकार से प्राप्त करता है—१ उपशम रूप से और २ क्षय रूप से ।

जिस आत्मा की श्रद्धा कर्मों के नाश नहीं होने पर बल्कि कर्मों के उपशम होने पर उत्पन्न होती है, वह उपशम धर्म है, तथा जिस आत्मा की श्रद्धा कर्मों के क्षय होने पर उत्पन्न होती है, वह क्षय-धर्म कहलाता है ।

(३४)

दुविहे धम्मे पन्नत्ते,
सुअधम्मे चैव चरित्त धम्मे चैव ।

ठाणा०, २रा ठा०, १ला उ, २५

टीका—धर्म दो प्रकार का कहा गया है । १ श्रुत धर्म और २ चारित्र धर्म । जिन देव, तीर्थंकर, गणधर, स्थविर, पूर्वधर आदि द्वारा प्ररूपित ज्ञान साहित्य या आगम साहित्य श्रुत धर्म है, और श्रावक एव साधुओं द्वारा आचरण किया जाने वाला बारह व्रत तथा पाँच महाव्रत रूप धर्म चारित्र धर्म है ।

(३५)

तिविहे भगवया धम्मे,
सुअहिज्जिए, सुज्झाएए सुतवस्सिए ।

ठाणा०, ३रा, ठा०, उ०, ४, २७

टीका—भगवान ने तीन प्रकारका धर्म फरमाया है, १ गुरु आदि विद्वान पुरुषों का विनय करके सूत्रों का अध्ययन करना सूत्र-

अध्ययन धर्म है, २ शका अर्थात् दोषों से रहित होकर पूर्ण दत्तचित्त हो अध्ययन करना सुध्यान-धर्म है । और ३ किसी भी प्रकार की फल की इच्छा किये बिना ही अनासक्त विशुद्ध निर्जरा के भाव से तपस्या करना और सहिष्णुता रखना तप-धर्म है ।

(३६)

चत्वारि धम्म दारा,
खंति, मोत्ती, अज्जवे, मद्दवे ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ४, ३८

टीका—धर्म के चार द्वार कहे गये हैं— १ क्षमा, २ विनय, ३ सरलता, और ४ मृदुता ।

(३७)

पंच ठाणाइं समणाणं जाव अब्भणुन्नायाइं भवंति,
सच्चे, संजमे, तवे, चियाए वंभचेर वासे ।

ठाणा०, ठा० ५, उ०, १, ११

टीका—भगवान ने साधुओं के जीवन को विकसित करने के लिए ५ स्थान बतलाए हैं— १ सत्य, २ सयम, ३ तप, ४ त्याग (अनासक्ति और अमूर्च्छा) और ५ ब्रह्मचर्य ।



अहिंसा-सूत्र

(१)

दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाणं ।

सू०, ६, २३

टीका—सभी प्रकार के दानों में अभय दान ही सर्वोत्तम दान है । जीवों को जीवन-दान देना, उन्हें भय से मुक्त करना, शरण में आने पर उनकी रक्षा करना, शरणागत की परिपालना करना यही सर्वोत्तम धर्म है ।

(२)

एयं खु नाणिनो सारं,
जन्त हिंसइ किंचण ।

सू०, १, १०, उ, ४

टीका—किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना, आघात नहीं पहुँचाना, कष्ट नहीं देना, यही ज्ञानी के लिए सार भूत वस्तु है । जीवों को सुख पहुँचाने में ही ज्ञानी के ज्ञान की सार्थकता रही हुई है ।

(३)

अहिंसा निउणा दिट्ठा ।

द०, ६, ९

टीका—अहिंसा अनेक प्रकार के सुखों की देने वाली देखी जाती है । अहिंसा से स्व और पर सभी को शांति प्राप्त होती है ।

(४)

न हणे णो चिघायए ।

द०, ६, १०

टीका—न तो हिंसा खुद करे और न दूसरो से करावे । हिंसा इस लोक में और पर-लोक में सर्वत्र दुःख देने वाली है ।

(५)

तस्से पाणे न हिंसिज्जा ।

द०, ८, १२

टीका—त्रस-प्राणियो की, निरपराध जीवो की दो इन्द्रिय से लगा कर पच इन्द्रिय तक के जीवो की हिंसा नहीं करना चाहिये । हिंसा के बराबर मोटा और कोई पाप नहीं है । दया से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है । अहिंसा, दया, करुणा, अनुकंपा ही सभी धर्मों का सार है, मक्खन है । अहिंसा हमारे जीवन का प्रमुख अंग होना चाहिये ।

(६)

सब्बे पाणा पियाउया ।

आ०, २, ८१, ३, ३

टीका—सभी प्राणियो को अपनी आयुष्य प्रिय है । कोई भी प्राणी दुःख अथवा मृत्यु नहीं चाहता है । अतएव दया ही सर्वोत्तम धर्म है । यही सभी धर्मों का निष्कर्ष है ।

(७)

सब्बेसिं जोचियं पियं

आ०, २, ८१, ३, ३

टीका—सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं । सभी को अपना जीवन प्यारा है, चाहे वे किसी भी स्थिति में क्यों न हो । अतएव पर-पीड़ा पहुँचाने के समान कोई पाप नहीं है, और पर-सेवा के समान अथवा दूसरे को शांति पहुँचाने के समान कोई पुण्य नहीं है ।

(८)

पाणे य नाइवाएज्जा,
निज्जाइ उदंग व थलाओ ।

उ०, ८, ९

टीका—जो मुमुक्षु आत्मा, आत्म-कल्याण के ख्याल से प्राणियों का वध नहीं करता है, उसके कर्म इस प्रकार छूटकर वह जाते हैं, जैसे कि ढालू जमीन से पानी वह जाता है ।

(९)

न हिंसए किंचण सव्व लोए ।

सू०, ५, २४ उ, २

टीका—जानी पुरुष कही पर भी किसी प्राणी की हिंसा न करे । मन, वचन और काया से हिंसा की प्रवृत्ति नहीं करे । पर-सुख का अपहरण नहीं करे । आर्थिक शोषण भी हिंसा है, इसे भी ध्यान में रखना चाहिये ।

(१०)

न य वित्तासए परं ।

उ०, २, २०, -

टीका—कभी किसी को भी त्रास नहीं देना चाहिये । पर-पीडन के बराबर कोई पाप नहीं है । पर-अधिकार का भी कभी अपहरण नहीं करना चाहिये ।

(११)

दया धम्मस्स खंतिए
विप्पसीएज्ज मेधावी ।

उ०, ५, ३०

टीका—मेधावी यानी ज्ञान-शील पुरुष, विवेकी पुरुष-क्षमा को धारण करता हुआ दुःखी जीवों पर दया करे, अनुकंपा करे, करुणा

करे । और इस प्रकार अपनी आत्माको सतुष्ट करे, अपनी आत्माको प्रसन्न करे ।

(१२)

न ह्ये पाणिणो पोणे ।

उ०, ६, ७

टीका—किसी भी प्राणी के प्राणो का, इन्द्रिय आदि का नाश नहीं करना चाहिए । क्योंकि हिंसा, पर-पीडन, सदैव दुःख को ही बढ़ाने वाला है ।

(१३)

विरणं ब्रह्मो ।

आ०, ३, ७, उ, २

टीका—जीव-हिंसा से दूर रहो, पर-पीड़ा के पाप से बचते रहो, यही इस ससार में सबसे बड़ा पाप है ।

(१४)

नाइ वाइज्ज कंचण ।

आ०, २, ८६, उ, ४

टीका—सत्यार्थी कभी भी किसी की हिंसा नहीं करे,—कभी भी किसी को चोट नहीं पहुँचावे । स्व-पर-कल्याण-भावना के साथ जीवन व्यवहार चलावे ।

(१५)

मुणी । महम्मयं नाइवाइज्ज कंचणं ।

आ०, ६, १७५, उ, १

टीका—हे मुनि ! हिंसा का परिणाम महा भयङ्कर होता है, इसलिये किसी की भी हिंसा मत करो । किसी को भी पीड़ा मत पहुँ-

चाओ । सभी प्राणियों को अपनी ही आत्मा के समान समझो । यही भारतीय-दर्शन-शास्त्र के आचार-विभाग का निष्कर्ष है ।

(१६)

अणुपुर्व्वं पाणेहि संजय ।

सू०, २, १३, उ, ३

टीका—शांति की इच्छा करने वाला मनुष्य क्रमशः प्राणी मात्र की रक्षा करे । प्राणी मात्रके हित की कामना करे । किसी के भी सुख का अपहरण नहीं करे ।

(१७)

**सन्वेहि एभूहि दयाणु कंपी,
खंतिक्ख मे संजय वंमयारी ।**

उ०, २१, १३

टीका—प्राणी मात्र पर दया वाले बनो, अनुकंपा वाले बनो । क्षमा-शील, संयमी और ब्रह्मचारी बनो ।

(१८)

अभय दाय्या भवाहि ।

उ०, १८, ११

टीका—अभयदान के देने वाले होओ । शरणार्थी की रक्षा करने वाले बनो । भय-ग्रस्त और मृत्यु-ग्रस्त जीवों को बचाओ । दया, अनुकम्पा, करुणा, और सहानुभूति इन गुणों को जीवन में स्थान दो ।

(१९)

धम्मं ठिओ सव्व पयाणु कम्पी ।

उ०, १३, ३२

टीका—धर्म में, अपनी मर्यादा में, सात्विक प्रवृत्तियों में, रहते हुए सभी प्रजा की या सभी जीवों की अनुकम्पा करने वाले बनो ।

रक्षा करने वाले बनो । शांति देने वाले बनो ।

(२०)

तादृणो परिजिब्वुडे ।

॥ २० ॥ १५,

टीका—जो सम्पूर्ण विश्व के चराचर प्राणियों की, त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा करने वाले हैं, वे ही वास्तव में मोक्ष के अधिकारी हैं ।

(२१)

प्राणातिवाता विरते ठिषप्पा

सू०, १०, ६

टीका—विचार शील पुरुष, शुद्धचित्त वाला पुरुष, भाव-समाधि में और विवेक में रत होकर-ज्ञान में तल्लीन होकर प्राणातिपात से (जीव हिंसा से) निवृत्त रहे । हिंसा के बराबर पाप नहीं है और अहिंसा के बराबर धर्म नहीं ।

२२

अणियाण भूते सुपरिव्वपज्जा ।

सू०, १०; १

टीका—प्राणियों का आरम्भ नहीं करता हुआ और किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाता हुआ सज्जन पुरुष अपनी जीवन यात्रा को चलाता रहे । पर सेवा में ही और पर की सहानुभूति में ही आत्म कल्याण समझे ।

२३

तस काय समारंभं, जावजीवाइ वज्जए ।

॥ २३ ॥ ४६

टीका—निरपराध जीवों की, त्रस जीवों की मन, वचन, और काया से हिंसा करना और उन्हें कष्ट पहुँचाना, उनपर आघात करना, उनका प्राणान्त करना, इन बातों को जीवन पर्यंत के लिए त्याग देना ही मानवता है । यही वास्तविक मनुष्यता है ।

सत्यादि भाषा-सूत्र

(१)

अप्यणा सच्च मेसेज्जा ।

उ०, ६, २

टीका—सदैव आत्म-चिन्तन द्वारा, आत्म-मनन द्वारा, सत्य की ही खोज करता रहे । सन्मार्ग का ही अनुसन्धान करता रहे । स्व-पर-कल्याण के मार्ग में ही रमण करता रहे ।

(२)

सच्चंमि धिंद कुब्बहा ।

आ०, ३, ११३, उ, २

टीका—जो सत्य रूप है और जो सत्य की नाना अवस्थाओं में स्थित है, उसीमें बुद्धिमान् पुरुष को अपना चित्त स्थिर करना चाहिए । ऐसे ही कार्यों में धैर्य-शील होना चाहिये । इन्हीं में प्रवृत्ति-शील होना चाहिये ।

(३)

पुरिसा । सच्चमेव सममि जाणाहि ।

आ०, ३, ११९, उ, ३

टीका—हे पुरुषो ! सत्य को ही सर्वोपरि जानो । सत्य का ही सम्यक् रीति से अनुसन्धान करो । सत्य का ही विचार करो । सत्य का ही आचरण करो । अहिंसा भी जीवन में इससे स्वयमेव उत्तर आयगी । क्योंकि सत्य और अहिंसा एक ही तत्त्व की दो बाजूएँ हैं ।

इनका परस्पर मे तादात्म्य सम्बन्ध है, दोनों अभिन्न सम्बन्ध वाली है ।

(४)

सच्चस्स आणाए से,
उवट्ठए मेहावी मारं तरइ ।

आ०, ३, ११९, उ, ३

टीका—जो सत्य की आराधना के लिये निष्कपट भाव से प्रयत्न होता है, वही तत्त्वदर्शी है, और ऐसा ज्ञानी महापुरुष ही अज्ञान-वासना को खत्म कर सकता है । वही पूर्ण और आदर्श ब्रह्म-चर्यी बन सकता है ।

(५)

असावज्जं मियं काले,
भासं भासिज्ज पन्नवं ।

उ०, २४, १०

टीका—बुद्धिमान पुरुष, विवेकी पुरुष, समयानुसार और आवश्यक-तानुसार निर्दोष, प्रिय, हितकारी और परिमित भाषा ही बोले । सम्भाषण-प्रणालि पर ही बुद्धिमत्ता का आधार है ।

(६)

भासियव्वं हियं सच्चं ।

उ०, १९, २७

टीका—सदैव हितकारी वाणी, प्रिय वाणी और सच्ची वाणी बोलनी चाहिये ! ऐसी वाणी ही स्व. का और पर का कल्याण कर सकती है ।

(७)

न भासिज्जा भासं
अहिअगामिणि ।

उ०, ८, ४८

टीका—अहित करने वाली, परि-मर्म पर आघात करने वाली, हिंसा तथा द्वेष बढ़ाने वाली भाषा नहीं बोलनी चाहिये ।

(८)

न असम्भमाहु ।

सू०, २१, १४

टीका—असम्भ, अप्रिय, क्लेश सवर्धक, ग्रामीण तुच्छ शब्द नहीं बोलना चाहिये ।

(९)

सच्चचे तत्थ करेज्जु वक्कमं ।

सू०, २, १४, उ, ३

टीका—सत्य और सत्य से सम्बन्धित सभी कामों में और क्रियाओं में सदैव यत्नशील ही रहना चाहिये । सत्य का दृढ़ता पूर्वक आग्रह और अवलंबन रखना मनुष्य का कर्तव्य है ।

(१०)

सच्चचेसु वा अणवज्जं वयंति ।

सू०, ६, २३

टीका—सत्यवचनों में भी जो वचन सत्ययुक्त होता हुआ निर्दोष हो, अप्रिय सत्य न हो, मर्म-घाती सत्य न हो, वही वाक्य सर्वोत्तम सत्य रूप है ।

(११)

अल्पे भासेज्ज सुवण ।

सू०, ८, २५

टीका—सुव्रती, जानी, अल्प बोले । परिमित बोले । आवश्यक कतानुसार बोले । सत्य और प्रिय बोले ।

(१२)

न लोपेज्ज पुटो सावज्जं ।

सू०, १, २५

टीका—पूछा हुआ यानी किसी के द्वारा कोई प्रश्न या बात पूछने पर सावच्च न बोले, पापकारी, अग्निष्ठकारी, अप्रिय और कटु वाणी नहीं बोले ।

(१३)

नापुटो वागरे किंचि ।

उ०, १, १४

टीका—विना पूछे विना बोलाये कुछ भी नहीं बोले । यही बुद्धि-मानी का सर्व प्रथम लक्षण है ।

(१४)

जं छन्नं तं न वत्तव्वं ।

सू०, ९, २६

टीका—जिस बात को सब लोग छिपाते हैं, जो अकथनीय हो, अश्लील हो, ग्रामीण हो, असभ्य हो, उसे कदापि नहीं बोलना चाहिये ।

(१५)

व्यवहार का ध्यान रख कर ही बोलना ठीक है, अव्यवहारिक भाषा निन्दनीय है, वह त्याज्य और हानिकारक होती है ।

(१५)

अणुच्चित्थिय वियागरे ।

सू०, ९, २५

टीका—सोच विचार कर बोलना चाहिये । बिना सोचे विचारे बोलने से स्व की और पर की हानि हो सकती है । अविचार पूर्ण भाषा से अनेक प्रकार का नुकसान हो सकता है जबकि विचार पूर्वक बोलने से लाभ ही लाभ है ।

(१६)

तुम तुमं ति अमणुन्नं,
सव्वसो तं ए वत्तए ।

सू०, ९, २७

टीका—“तू, तू” ऐसे तुच्छ और अनादर वाचक शब्द भी नहीं बोलना चाहिये । इसी प्रकार अप्रिय या अशोभनीय शब्दोंका उच्चारण भी नहीं करे । बोली में गम्भीरता, उच्चता, सार्थकता एवं सम्मान सूचकता होनी चाहिये ।

(१७)

घाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
चेराणु वंधीणि महभयाणे ।

द०, १, ७, तु, उ,

टीका—बिना सोचे विचारे कहे हुए दुष्ट और अनिष्ट वचन बड़ी कठिनता से हृदय से भूले जाते हैं । वे वैर-भाव को बढ़ाने वाले होते हैं और महाभय पैदा करने वाले होते हैं ।

(१८)

अवित्रतं चेव नो वप ।

द०, ७, ४३

टीका—जिन वचनों से वैर-विरोध बढ़ता हो, जो अप्रिय हो, ऐसे वचन कदापि नहीं बोलना चाहिये । क्योंकि ये अवक्तव्य होते हुए स्व-पर हानिकारक होते हैं ।

(१९)

भूओ व घाइणि भासं,
नेवं भासिज्ज पन्नवं ।

द०, ७, २९

टीका—बुद्धिमान् पुरुष प्राणियों के मर्म पर चोट करने वाली या मृत्यु पैदा करने वाली वाणी कदापि नहीं बोले । वाणी में विवेक और सयम की नितान्त आवश्यकता है ।

(२०) -
सच्चा वि सा न वचच्चा,
जओ पावरस आगमो ।

द०, ७, ११

टीका—सत्य होती हुई भी उस बात को नहीं कहना चाहिये, जिससे कि पाप की, पतन की और हानि की सम्भावना हो, जिससे अन्य को आघात पहुचने की सम्भावना हो । ऐसी वाणी-शब्द रूप से सत्य मालूम पड़ती हुई भी झूठ का ही अङ्ग है ।

(२१)
जमट्ट तु न जाणिज्जा,
एव मेअं ति नो वए ।

द०, ७, ८

टीका—जिस बात को अच्छी तरह से नहीं जानते हैं, उसके सम्बन्ध में “यह ऐसा ही है” इस प्रकार निश्चय-पूर्वक नहीं बोलना चाहिये । क्योंकि यह झूठ है । यह असत्य भाषण है । इससे हानि होने की सम्भावना हो सकती है ।

(२२)
मुसं परिहरे भिक्खू ।

उ०, १, २४

टीका—साधु या आत्मार्थी झूठ को छोड़ दे । झूठ प्रतिष्ठा का और विश्वास का नाश करने वाला है ।

(२३)
सया सच्चवेणं सम्पन्ने,
मिच्छि भूएहि कप्पए ।

सू०, १५, ३.

टीका—सदैव सत्य को ही जीवन का आराध्य बना कर जीव-

मात्र के साथ मैत्री भावना रखनी चाहिये, जीव-मात्र के साथ दया का व्यवहार रखना चाहिये ।

(२४)

सादिर्य णे मुसं वूया,
एस धम्मं वुसीमओ ।

सू०, ८, १९

टीका—माया करके झूठ नहीं बोले । जितेन्द्रिय महापुरुष कह यही धर्म है । भगवान का यही फरमान है । माया के साथ बोला जाने वाला झूठ शल्य है, जो कि सम्यक्त्व को और सच्चाई के मार्ग को नष्ट करता है, मिथ्यात्व को पैदा करता है और अनन्त संसार को बढ़ाता है ।

(२५)

मातिट्ठाणं विवज्जेजा ।

सू०, ९, २५

टीका—कपट भरी भाषा का परित्याग कर देना चाहिये, क्योंकि कपट भरी भाषा माया-मृषावाद ही है, जो कि सम्यक्त्व का नाश करने वाली है ।

(२६)

णेव वंफेज्ज मम्मयं ।

सू०, ९, २५

टीका—मर्म-घाती वचन हिसाजनक होता है । यह महान् कष्ट-जनक होता है । वह सत्य होता हुआ भी झूठ ही है । अतएव मर्म-घाती वाक्य अथवा वचन नहीं बोलना चाहिये ।

(२७)

भासमाणो न भासेज्जा ।

सू०, ९, २५

टीका—जो परमार्थी पुरुष यत्ना पूर्वक-विवेक पूर्वक और बुद्धि-शाली-पूर्वक बोलता है, वह बोलता हुआ भी मौन-गुण से युक्त है—शैली ही है। और मौनी जितना ही पुण्य उपार्जन करता है।

(२८)

मुसावार्थ च वज्जिज्जा,
अदिन्नादाणं च वोसिरे ।

सू० ३, १९, उ, ४

टीका—झूठ का परित्याग कर दो और चोरी-से सदैव दूर रहो क्योंकि ये पाप इस लोक और परलोक में सर्वत्र दुःख के देने वाले हैं प्रतिष्ठा और विश्वास का नाश करने वाले हैं।

(२९)

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पयोग काले य दुही दुरन्ते ।

उ०, ३२, ३१

टीका—झूठ बोलने के पहले, झूठ बोलने के पीछे और झूठ बोलने के समय में तीनो काल में झूठा आदमी दुःखी होता है और उसका दुःख बहुत ही कठिनाई से छूटता है।

(३०)

मायामुसं वड्ढइ लोभ दोसा ।

उ०, ३२, ३०

टीका—माया-मृषावाद, यानी कपट पूर्वक झूठ लोभ के दोषों को बढ़ाता है, तृष्णा को प्रज्वलित करता है।

(३१)

मुसा भासा निरत्थिया ।

उ०, १८, २६

टीका—मिथ्या भाषा, अप्रिय भाषा, तुच्छ शब्दीवाली भाषा, मर्मभेदी भाषा निरर्थक होती है, वह क्लेश-वर्द्धक होती है। वह पापमय होती है।

(३२)

पियं करे पियं वाई,
से सिक्खं लद्धु मरिहई ।

३०, ११, १४

टीका—जो प्रिय करने वाला है, गुरु के मनोनुकूल सेवा और कार्य करने वाला है, प्रिय तथा सत्य बोलने वाला है, वही सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने के लिये योग्यता रखने वाला है । ज्ञान के पहले ये गुण आवश्यक है । अनुकूल गुण रूपी भूमि में ही ज्ञान रूप बीज का वृक्ष रूप विकास हो सकता है ।

(३३)

सावज्जं न लवे मुणी ।

३०, ७, ४०

टीका—इन्द्रियो और मन पर संयम तथा विवेक रखने वाला मुनि झूठ नहीं बोले, क्योंकि झूठ से अविश्वास और पतन की तरफ जीवन बढ़ता है ।

(३४)

अपुच्छिओ न भासिज्जा ।

३०, ८, ४७

टीका—बिना पूछे और बिना बुलाये, कभी नहीं बोले । बिना बुलाया बोलने पर मूर्खता ही मालूम होती है—इससे अपमान ही होता है ।

(३५)

पिट्ठि मंसं न खाइज्जा ।

३०, ८, ४७

टीका—कभी किसी की निंदा नहीं करनी चाहिये । निंदक धिक्कारा जाता है । वह अविश्वास का पात्र बनता है । इस लोक और परलोक में दुखी होता है ।

(३३)

माया मौसं विवज्जए ।

सू०, १८, ४७

टीका—कपट पूर्वक झूठ बोलना भयंकर पाप माना गया है ।
कपट-पूर्वक-झूठ आत्मा के गुणों का नाश करने वाला होता है ।

(३७)

ओप तहीयं फरुसं वियाणे ।

सू०, १४, २१

टीका—जो वचन सत्य होते हुए भी दूसरे के चित्तको दुःखी करने वाले हैं, तो बुद्धिमान का कर्तव्य है कि वह ऐसे वचन नहीं बोले । अप्रिय और कठोर वचनों का त्याग ही हितावह है ।

(३८)

आणाइ सुद्धं वयणं भिउंजे ।

सू०, १४, २४

टीका—जैसी भगवान ने आज्ञा दी है, उसीके अनुसार शुद्ध भाषा का उच्चारण करना चाहिये ।

भाषा में ग्रामीणता, अश्लीलता, तुच्छता, तिरस्कार वृत्ति आदि दुर्गुण नहीं होने चाहिये ।

(३९)

णातिवेलं वदेज्जा ।

सू०, १४, २५

टीका—मर्यादा का उल्लंघन करके अत्यधिक नहीं बोलना चाहिये । भाषा परिमित, सार्थक और शिष्ट-पुरुष के अनुरूप होनी चाहिये ।

(४०)

सं न वूया मुणि अत्तगामी ।

सू०, १०, २२

टीका—वीतराग देव के मार्ग पर चलने की इच्छा रखने वाला मुनि-कल्याण का अभिलाषी साधु कभी भी झूठ नहीं बोले। झूठ के साथ आत्म-विकास का होना आकाश-कुसुम के समान सर्वथा असंभवे वस्तु है ।

(४१)

जं वदित्ता अणुतप्पती ।

सू०, ९, २६

टीका—जिस भाषा को बोल कर अथवा जिन शब्दों को बोल कर पश्चाताप करना पड़े, खेद उठाना पड़े, ऐसे शब्द और ऐसी भाषा कदापि नहीं बोलनी चाहिये ।

अविचार-पूर्वक बोलने वाला मूर्ख कहा जाता है, और वह पाप का एवं अनादर का भागी बनता है ।

(४२)

अविस्सासो अभूआणं,

तम्हा मोसं विवज्जण ।

द०, ६, १३

टीका—झूठ से कोई भी विश्वास नहीं करता है, इसलिये सदैव झूठ से दूर ही रहना चाहिये ।

(४३)

हिंसगं न मुसं वूआ ।

द०, ६, १२

टीका—हिंसा पैदा करने वाला और स्व-पर को कष्ट देने वाला झूठ नहीं बोले । झूठ आत्मा के पतन का मूल कारण है ।

(४४)

शिरं च दुष्टं परिवर्ज्य सया,
सयाण मञ्जे लहइ पसंसणं ।

द०, ७, ५५

टीका—वचन शुद्धि और वचन महत्ता को जानने वाला हमेशा के लिये दुष्ट-वाणी को—हलकी, तुच्छ, घातक, मर्म-भेदक और अपमानजनक वाणी को त्याग देता है । इससे वह सज्जनो के बीच में प्रगसा एव यग कीर्ति को प्राप्त करता है । वह दोनों लोक में सुखी होता है । पुण्य का उपार्जन करता है , इसलिये सदैव संयम-मय, विवेक युक्त भाषा बोलनी चाहिये ।

(४५)

जहा रिह मभिगिज्झ,
आलविज्ज लविज्ज वा ।

द०, ७, २०

टीका—किसी से भी वातचित्त करते समय यथा-योग्य-शब्दों में, जैसा चाहिये उसी रीति से व्यवहार करना चाहिये । शब्दों में हलकापन, तुच्छता, घातकता, मर्म-भेदकता, अथवा अपमानजनकत्व नहीं होना चाहिये । क्योंकि यह हीन लक्षण है । हीन-लक्षण अकुलीनता का द्योतक है । वह नीचता का सूचक है ।

(४६)

चत्तारि भाशओ भासित्तए,
जायणी, पुच्छणी, अणुन्नवणी, पुट्टस्स वागरणी ।

ठाणा८, ४, था, ठा, उ, १, ४

टीका—चार प्रकार की भाषा कही गई है :—१ याचनिका
२ पृच्छनिका ३ अवग्राहिका और ४ पृष्ट व्याकरणिका ।

(४७)

सत्तविहे वयण विकृप्पे, आलावे,
अणालावे, उल्लावे, अणुल्लावे,
संलावे, पलावे, विष्पलावे ।

ठाणा०, ७ वा ठा, ७८

टीका—सात प्रकार का वचन विकल्प कहा गया है :—

- (१) थोड़ा बोलना आलाप है ।
- (२) कुत्सित बोलना अनालाप है ।
- (३) मर्यादा उल्लघन करके बोलना उल्लाप है ।
- (४) मर्यादा रहित खराब बोलना अनुल्लाप है ।
- (५) परस्पर बोलना सलाप है ।
- (६) निरर्थक बोलना प्रलाप है ।
- (७) विरुद्ध बोलना विप्रलाप है ।



शील-ब्रह्मचर्य-सूत्र

(१)

तवेसु वा उत्तम धमचेरं,

सू०, ६, २३

टीका—तप तो नाना प्रकार के हैं; परन्तु सभी तपों में ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्तम तप है। ब्रह्मचर्य की महान् महिमा है। मन वचन और काया से—विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालने से मुक्ति के द्वार सहज में ही खुल जाते हैं।

(२)

इत्थिओ जे ण सेवन्ति,

आइमोक्खा हु ते जणा ।

सू०, १५, ९

टीका—जो स्त्री-सेवन नहीं करते हैं, स्त्री के साथ किसी भी प्रकार का संवध नहीं रखते हैं, वे पुरुष सबसे प्रथम मोक्ष-गामी होते हैं। वे शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य की महिमा अपूर्व है; असाधारण है।

(३)

देव दाणव गन्धर्वा वस्मयारिं नमसन्ति ।

उ०, १६, १६

टीका—ब्रह्मचर्य की महिमा महान् है। वास्तविक ब्रह्मचारी त्रिलोकपूज्य होता है, त्रिलोक रत्न होता है। देव, दानव, गन्धर्व सभी, क्या नरेन्द्र और क्या देवेन्द्र—प्रत्येक प्राणी ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं।

(४)

न ते सुहं काम गुणेषु रायं,
जं भिक्षुणं शील गुणे रयाणं ।

उ०, १३, १७

टीका—शील गुण में अनुरक्त आत्मार्षी मुनियों को जो उच्च आनन्द, जो आत्म शान्ति प्राप्त होती है; वैसी सुख-शान्ति, वैसा आत्म-आनन्द, काम भोगों में फंसे हुए मनुष्य को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है ।

(५)

जे विन्नवणा हिज्जोसिया,
संतिन्नेहिं समं वियाहिया ।

सू०२, २, उ, ३

टीका—जो पुरुष स्त्रियों से सेवित नहीं है; यानी मन, वचन और काया से ब्रह्मचारी है; वे वास्तव में मुक्त पुरुषों के समान ही है । अचल ब्रह्मचर्य अवस्था मुक्ति अवस्था ही है ।

(६)

सुबंभचेरं वसेज्जा ।

सू. १४, १

टीका—ब्रह्मचर्य का भली भाँति फालन करो । एक ब्रह्मचर्य के परिपालन से ही सभी दोष और पाप इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं; जैसे कि सूर्य के प्रकाश से संपूर्ण विश्व में व्याप्त अंधकार नष्ट हो जाता है ।

(७)

उगं महव्वयं भंभं,
घारेयव्वं सुदुक्करं ।

उ०, १९, २९

टीका—उग्र-महान्कठिन-सुदुष्कर-आचरण मे महान् कष्ट साध्य परन्तु परिणाम मे अत्यत सुन्दर फल वाला, ऐसा महाव्रत, तप श्रेष्ठ, तप-शिरोमणि, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिए ।

(८)

कुसील वद्धणं ठाणं ।

दूरओ परिवज्जए ।

ज०, ६, ५९.

टीका—जिस स्थान पर रहने से विषय, विकार, बढ़ते हो; ऐसे स्थान को और ऐसी सगति को सदैव दूर ही रखना चाहिए । दूर से ही छोड़ देना चाहिए ।

(९)

न चरेज्ज वेस

द०, ५, ९, उ, प्र,

टीका—ब्रह्मचारी वेश्याओ अथवा दुर्गचारिणी स्त्रियों के निवास-स्थानों के आस-पास न तो घूमे और न जावे ।

(१०)

अरण पयासु ।

आ०, ३, ११५, उ, २

टीका—प्रजाओ से—यानी स्त्रियों से तत्त्वदर्शी पुरुषों को सदैव दूर ही रहना चाहिये । क्यों कि स्त्री-भोग किपाक फल के समान बाह्य रूप से सुन्दर, मधुर, आकर्षक और सरस प्रतीत होते हुए भी अन्तमें—परिणाम मे घोर विष के समान है । शरीर में नाना व्याधियाँ पैदा करने वाले हैं । आत्म बल और चारित्र्य बल घटाने वाले हैं । एवं अनन्त जन्म मरण पैदा करने वाले हैं ।

(११)

अत्रि वास संयं नारीं वम्भयारी विवज्जप ।

उ०, ८, ५६-

टीका—स्त्री-सगति इतनी बुरी है कि वृद्धा और कुरूपों एवं अपाग स्त्री से भी ब्रह्मचर्य की हानि हो सकती है । अतएव सौ वर्ष जितनी आयु वाली स्त्री से भी ब्रह्मचारो दूर ही रहें ।

(१२)

थी कहं तु विवज्जप ।

उ०, १६, २

टीका—स्त्री-कथा, स्त्री के अगोपाग की चर्चा, स्त्री के शृंगार की वार्ता आदि स्त्री-जीवन-वर्णन की बातें ब्रह्मचारी छोड़ दे । ब्रह्मचर्य के लिये घातक और वर्जनीय बातें ब्रह्मचारी न तो कहे और न सुन, तथो न उनका चिन्तन करे ।

(१३)

णो निर्गन्थे इत्थीणे पुव्व रयं,

पुव्वकीलियं अणुसरेज्ज ॥

उ०, १६ ग, छट्ठा

टीका—जो निर्गन्थ है, जो ब्रह्मचारी है, जो जीवन-मुक्ति की कामना वाला है, उसको स्त्रियों के साथ पूर्व काल में भोगे हुए काम-भोगों को, और क्रीडाओं को याद नहीं करना चाहिये ।

(१४)

संमिस्स भावं पयहे पयासु ।

सू०, १०, १५

टीका—संपूर्ण शांतिमय जीवन का इच्छुक पुरुष, स्त्रियों के साथ मिल-मिलाप रखना सर्वथा त्याग दे । क्योंकि स्त्री-संसर्ग और पूर्ण शांति दोनों परस्पर विरोधी होते हैं ।

(१५)

विसयसु मणुन्नेसु पेमं नाभिं निवेसय ।

द०, ८, ५९

टीका—इन्द्रियों के विषयो की ओर अथवा भोगोपभोग पदार्थों की ओर एवं विषय-वासना के पोषण की ओर मनको नहीं जाने देना चाहिये । विकारो की ओर मानसिक आकर्षण भी नहीं होने देना चाहिये । आसक्ति या अनुराग-भाव को मनोज्ञ-विषयो में पैदा नहीं होने देना चाहिये ।

(१६)

नारीसु नोवगिज्जेज्जा,
धम्मं च पेसलं णच्चा ।

उ०, ८, १९

टीका—धर्म को—दान, शील, तप, भावना को ही सुन्दर जान कर, कल्याणकारी जान कर, स्त्रियोमें कभी भी गृद्ध न बनो, मूर्च्छित न बनो । ब्रह्मचर्य को ही सर्वस्व समझो । इसको ही कल्याण का मूल आधार समझो ।

(१७)

न य रूपेसु मणं करे ।

द०, ८, १९

टीका—रूपवती सुन्दर स्त्रियो को देख कर मन को चर्चल नहीं करना चाहिये । विषय-विकार की ओर से मन रूपी घोड़े को ज्ञान रूपी लगाम से रोककर ध्यान रूपी क्षेत्रमें, चित्तन-मनन रूपी मैदान में और सेवामय आगण में लगाना चाहिये ।

(१८)

निव्विण्ण चारी अरय पयासु ।

आ०, ५, १५५, उ, ३

टीका—संसार के भोग सबन्धी सुखों से जिनको उदासीनता हो गई है, संसार के वैभव से जिनको वैराग्य हो गया है, ऐसे महापुरुष स्त्रियों से विरति ही रखें। स्त्रियों से दूर ही रहें। ब्रह्मचर्य-व्रत को ही आध्यात्मिक उच्चता की आधार भूमि समझें।

(१९)

विरते सिर्णाणाइसु इत्थियासु ।

सू०, ७, २२

टीका—साधु की साधुता इसी में है कि वह शृंगार-भावनासे, स्नान आदि क्रियाओं से दूर रहे। और स्त्रियों के संसर्ग से सदा बचता रहे,। कर्मा से शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करता रहे।

(२०)

इत्थी निजयस्स मज्जे,

न वम्मयारिस्स खमो निवासो ।

उ०, ३२, १३

टीका—स्त्री के रहने के स्थान में यानी स्त्री के आवागमन के स्थान में अथवा स्त्रियों के पड़ोस में ब्रह्मचारी का निवास आपत्ति-जनक होता है। व्रत-नाशक और चित्त को चंचलता को पैदा करने वाला होता है।

(२१)

गुत्तिंदिण गुत्त वम्मयारी

सया अप्पमत्ते विहरेज्ज ।

उ०, १६, ग, प्र,

टीका—गुप्त इन्द्रिय वाला होकर, इन्द्रियों पर गुप्त रूप से समय शील होकर, गुप्त ब्रह्मचारी होकर, कर्मठ होकर, अप्रमादी होकर सदा विचरे और इसी तरह से अपना जीवन-काल व्यतीत करता रहे।

(२२)

सर्व्विदियाभिनिव्वुडे पयासु ।

सू०, १०, ४

टीका—आत्म कल्याण की इच्छा वाले पुरुष के लिये यह आवश्यक और अचल कर्त्तव्य है कि वह स्त्रियो की तरफ से सभी इन्द्रियो को रोक कर जितेन्द्रिय रहे । स्त्रियों का मन, वचन और काया से भी ध्यान नही करे । स्त्रियों की आकाक्षा नही करे ।

(२३)

णो निगंथे इत्थाणं इन्दिवाइं मणोहराइं,

मणोरमाइं आलोपज्जा, निज्झापज्जा ।

उ०, १६, ग, च०

टीका—जो निर्ग्रन्थ है, ब्रह्मचारी है, ईश्वर-प्राप्ति की आकाक्षा वाला है, उसे स्त्रियो की मनोहर और मनोरम इन्द्रियो को न तो देखना चाहिये और न उनका ध्यान अथवा चिन्तन ही करना चाहिये ।

(२४)

इत्थियाहिं अणगारा,

संवासेण णास मुवयंति ।

सू०, ४, २७, उ, १

टीका—जैसे अग्नि से स्पर्श किया हुआ लाख का घड़ा शीघ्र तप कर नाश को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार स्त्रियो के ससर्ग से योगी पुरुष भी-सयमी पुरुष भी भ्रष्ट हो सकता है । अतएव मन, वचन और काया से स्त्रो-संगति से दूर रहना चाहिये । आत्मकल्याण की भावना की पूर्ति के लिये ब्रह्मचर्य सर्व प्रथम आवश्यक गुण है ।

(२५)

जा जा दिच्छसि नारीओ,
अट्टि अण्णा भविस्ससि ।

द०, २, ९

टीका—मानसिक-नियन्त्रणता के अभाव में जिन २ स्त्रियो को देखोगे, उससे प्रत्येक बार तुम्हारा मन और आत्मा अस्थिर, निर्बल और वायु विकस्पित वृक्ष के समान चंचल बनेगी। अतएव विषयो से चित्त को हटाओ ।

(२६)

नो रक्खं सीसु गिज्जेज्जा,
गंडवच्छांसु अणेण चित्तासु ।

उ०, ८, १८

टीका—जिनके वक्षः स्थल पर कुच है—स्तन है, और जो अस्थिर चित्तवाली है, यानी विभिन्न विषयो पर चित्त को जो परिभ्रमण कराती रहती है, तथा जो धर्म, धन, शरीर और शक्ति आदि सभी सत्गुणों का नाश करने वाली है, ऐसी राक्षसी समान स्त्रियो में कभी भी मूर्च्छित न बनो ।

(२७)

लब्धे कामे ण पत्थेज्जा ।

सु०, ९, ३२

टीका—काम-भोगों को भोगने का अवसर मिल जाय तो ब्रह्मचारी पुरुष उनको मन, वर्त्तन और कायासे नहीं भोगे । उनको भोगने की इच्छा भी नहीं करे । और उस विघ्नकारी स्थान को छोड़ कर अन्यत्र कीतरागता पूर्वक चला जाए ।

(२८)

अभयारिस्स इत्थी
विग्गहओ भयं ।

द०, ८, ५४

टीका—ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय बनाये रखना चाहिये । मन, वचन और कायासे स्त्रीकी संगतिसे दूर रहना चाहिये । स्त्री-संगति तत्काल विकार को पैदा करने वाली होती है, अतः इससे दूर ही रहे ।

(२९)

नाइमत्तं तु भुंजिज्जा वम्भचेर रमो ।

उ०, १६, ८

टीका—ब्रह्मचर्य में अनुरक्त पुरुष, ब्रह्मचर्य की साधना वाला परिमित, सात्विक आहार करे । प्रमाण से अधिक और वर्जनीय आहार नहीं करे ।

(३०)

णो निगंथे पणीयं आहारं आहारेज्जा ।

उ०, १६, ९, सा०

टीका—जो निर्ग्रन्थ है, जो ब्रह्मचारी है, जो मुमुक्षु है, उसको अत्यंत सरस और कामोद्दीपक आहार नहीं करना चाहिये । यथा आहार तथा वृत्ति के अनुसार सरस आहार ब्रह्मचर्य के लिए घातक है ।

(३१)

रूपे विरक्तो मणुषो विस्रोगो,

न लिप्पप भवमज्जेग्वि सन्तो ।

उ०, ३२, ३४

टीका—रूप से विरक्त यांनी स्त्री सौंदर्य के देखने से विरक्त, ऐसा पुरुष शोक रहित होता है । समाधिमुख और स्थितप्रज्ञ होता है, तथा इस ससार में रहता हुआ भी पाप-कर्मों से लिप्त नहीं होता है ।

(३२)

न संत संति मरणं ते

सील वन्ता बहुस्सुया ।

उ०, ५, २९

टीका—शील वाले, सत्चरित्र वाले और ज्ञान वाले पुरुष इस लोक में और परलोक में कहीं पर भी कष्ट नहीं पाते हैं, क्योंकि वे जितेन्द्रिय होते हैं । वे तृष्णा रहित होते हैं और वे स्व-पर की कल्याणकारी भावना वाले होते हैं ।



अपरिग्रह-सूत्र

(१)

सञ्चारम्भ परिचवागो निष्ममन्त ।

उ०, १९, ३०

टीका—सभी आरम्भ-परिग्रहका त्याग करना और निर्ममता तथा अनासक्त भाव में रहना ही “निष्परिग्रह व्रत” है ।

(२)

मुच्छा परिग्रहो बुद्धो ।

द०, ६, २१

टीका—मूर्च्छा या आसक्ति ही परिग्रह का नामान्तर है । आसक्ति ही भय, मोह, चिन्ता, लोभ आदि पापों की जननी है, विकारों को पैदा करने वाली खान है । मूर्च्छा वाला और आसक्ति वाला चाहे दरिद्री हो या धनवान, दोनों ही मूर्ख हैं और दोनों ही पतित हैं; अतएव आसक्ति भाव से दूर रहना जानी के ज्ञान का एक आवश्यक अंग है ।

वैराग्य-सूत्र

(१)

एगे अहमंस्मि, न मे अत्थि कोइ,
न दा हमवि कस्स वि ।

आ०, ८, २१६, उ, ६-

टीका—हे आत्मा ! तू विचार कर कि मैं अकेला ही हूँ, जन्म-म्लेते समय भी कोई साथ में नहीं था, और मरते समय भी कोई साथ में आने वाला नहीं है । सासारिक कामों को करते समय और सासारिक सुख-वैभव में हिस्सा बटाते समय तो सभी सम्मिलित हो जाते हैं, परन्तु पाप का उदय होने पर-कर्मों का फलोदय होने पर कोई भी हिस्सा नहीं बटाता है, अकेले को ही भोगना पड़ता है । इसलिए विचार कर कि “मैं अकेला ही हूँ, मेरा कोई नहीं है, और मैं भी किसी दूसरे का नहीं हूँ ।” इस प्रकार की एकत्व-भावना से ही आत्मिक-शांति की सम्भावना है ।

(२)

परिजूरइ ते सरीरं यं,
समयं गोयम ! मा पमायप ।

उ०, १०, २१

टीका—तुम्हारा शरीर क्षण-प्रतिक्षण जीर्ण और अशक्त होता जा रहा है, इसलिये हे गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर ।

(३)

विहडइ विद्धंसइ ते सरीरं यं
समयं गोयमे ! मा पमायप ।

उ०, १०, २७

अपरिग्रह-सूत्र

(१)

सञ्चारम्भ परिच्चागो निम्नमत्तं ।

उ०, १९, ३०

टीका—सभी आरम्भ-परिग्रहका त्याग करना और निर्ममता तथा अनासक्त भाव से रहना ही “निष्परिग्रह व्रत” है ।

(२)

मुच्छा परिग्रहो वृत्तो ।

द०, ६, २१

टीका—मूर्च्छा या आसक्ति ही परिग्रह का नामान्तर है । आसक्ति ही भय, मोह, चिन्ता, लोभ आदि पापों की जननी है, विकारों को पैदा करने वाली खान है । मूर्च्छा वाला और आसक्ति वाला चाहे दरिद्री हो या धनवान, दोनों ही मूर्ख हैं और दोनों ही पतित हैं; अतएव आसक्ति भाव से दूर रहना ज्ञानी के ज्ञान का एक आवश्यक अंग है ।

संसारी और भोगी आत्मा का जीवन भी अचानक टूट जाता है। अनन्त काल चक्र के सामने प्रत्येक संसारी आत्मा का एक गति विशेष में कितना लम्बा आयुष्य होता है ? छोटा सा होता है, अतएव समय और शक्ति का सदुपयोग ही करते रहना चाहिये। यही बुद्धिमानी का लक्षण है।

(७)

ण य संख्य माहु जीवितं,
तह वि य वाल जणो पगम्भई।

सू०, २, १०, उ, ३,

टीका—टूटी हुई आयु पुनः जोड़ी नहीं जा सकती है। व्यतीत हुआ जीवन पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता है। फिर भी मूर्ख मनुष्य, विवेक हीन पुरुष, कामान्ध प्राणी पाप करने की धृष्टता करते ही रहते हैं। वे स्वार्थ-सार्धना और इन्द्रिय-पोषण में ही मग्न रहते हैं।

(८)

तरुण ए वाससयस्स तुट्ठती
इत्त वासे य बुज्झह।

सू०, २, ८, उ, ३

टीका—सौ वर्ष की आयुवाले पुरुष का भी जीवन युवावस्था में ही नष्ट होता हुआ देखा जाता है। इस लिये इस जीवन को थोड़े दिन के निवास के समान समझो और क्षण भर का भी प्रमाद मत करो, तथा सदैव सत्कार्यों में ही लगे रहो।

(९)

ताले जह वंधण-चुए-
एवं आउक्खयंमि तुट्ठती।

सू०, २, ६, उ, १

टीका—तुम्हारा यह शरीर गिर रहा है, प्रति क्षण निर्बल हो रहा है, क्रमशः प्रत्येक क्षण नाश को प्राप्त हो रहा है, अचानक रूप से मृत्यु आ जाने वाली है, इसलिये हे गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर !

(४)

दुमपत्तप पंडुयण जहा,
एवं मणुयाण जीवियं ।

उ०, १०, १

टीका—जैसे वृक्ष का पीला और पका हुआ पत्ता न मालूम किस क्षण में गिर जाता है अथवा गिरने वाला होता है, वैसे ही यह मनुष्य शरीर न मालूम किस क्षण में नष्ट हो जाने वाला है ।

(५)

कुसग्गे जह ओस विंदुए,
एवं मणुयाण जीवियं ।

उ०, १०, २

टीका—जैसे कुशा-घास पर अवस्थित ओस-बिन्दु थोड़े समय तक की स्थिति वाला होता है, और हवा का झोका लगते ही गिर पड़ता है वैसे ही मनुष्य-जीवन का भी कोई निश्चित पता नहीं है । न मालूम कब यह खत्म हो जाने वाला है ।

(६)

कुसग्गे पणुन्नं निवइय वापरियं.
एवं बालस्स जीवियं ।

आ०, ५, १४३ उ, १

टीका—जैसे कुशा-घास पर अवस्थित जल बिन्दु हवा का झोका लगते ही गिर पड़ता है, और समाप्त हो जाता है, ऐसे ही

संसारो और भोगी आत्मा का जीवन भी अचानक टूट जाता है। अनन्त काल चक्र के सामने प्रत्येक संसारी आत्मा का एक गति विशेष में कितना लम्बा आयुष्य होता है ? छोटा सा होता है, अतएव समय और शक्ति का सदुपयोग ही करते रहना चाहिये। यही बुद्धिमानी का लक्षण है।

(७)

ण य संख्य माहु जीवितं,
तह वि थ वाल जणो पगम्भई।

सू०, २, १०, ७, ३

टीका—टूटी हुई आयु पुन जोड़ी नहीं जा सकती है। व्यतीत हुआ जीवन पुन. प्राप्त नहीं किया जा सकता है। फिर भी मूर्ख मनुष्य, विवेक हीन पुरुष, कामान्ध प्राणी पाप करने की धृष्टता करते ही रहते हैं। वे स्वार्थ-साधना और इन्द्रिय-पोषण में ही मग्न रहते हैं।

(८)

तरुण ए वाससयस्स तुट्ठती
इत्तरवासे य बुज्झह।

सू०, २, ८, ७, ३

टीका—सौ वर्ष की आयुवाले पुरुष का भी जीवन युवावस्था में ही नष्ट होता हुआ देखा जाता है। इस लिये इस जीवन को थोड़े दिन के निवास के समान समझो और क्षण भर का भी प्रमाद मत करो, तथा सदैव सत्कार्यों में ही लगे रहो।

(९)

ताले जह वंधण-चुप
एवं आउक्खयंमि तुट्ठती।

सू०, २, ६, ७, १

टीका—जैसे बन्धन से छूटा हुआ ताड़-फल गिर पड़ता है, वैसे ही अचानक आयु के समाप्त होते ही प्राणी भी मर जाते हैं, इसलिये दान, शील, तप और भावना के प्रति उपेक्षित नहीं रहना चाहिए। यथा-शक्ति कुछ न कुछ धर्म-क्रियाएं करते ही रहना चाहिये।

(१०)

विणि अट्टिज्ज भोगेसुः
आउं परिमि अप्पणो ।

द०, ८, ३४

टीका—शरीर क्षण भंगुर है और आयु परिमित है, ऐसा विचार कर काम-भोगों से, इन्द्रिय विषयों में अपने मन और आत्मा को अलग ही रखना चाहिये।

११

उवणिज्जई जीविय मप्पमायं,
मा कासि कम्माइं महालथाइं ।

उ०, १३, २६

टीका—यह शरीर विना किसी बाधा के निरन्तर मृत्यु के समीप चला जा रहा है, प्रति क्षण आयु घटती जा रही है, अचानक मृत्यु आ जाने वाली है, इसलिये महा हिंसक और महान् दुर्गति के देने वाले कर्मों को पाप-पूर्ण कामों को तू मत कर । हे जीव ! सत् और असत् का विचार करके कार्य कर ।

१२

एगो सयं पच्चण्होइ दुक्खं ।

सू०, ५, २२, उ, २

टीका—जीव अज्ञानवश सारे कुटुम्ब के लिए पाप करता है। झूठ-हिंसा आदिका आश्रय लेकर कुटुम्ब को सुखी करने का प्रयत्न करता है। परन्तु कर्मों का फल भोगने के समय वह अकेला ही भोगता

है । उसके दुखो को बाँटने के लिये कोई भी समर्थ नहीं होता है ।
अकेला ही घोर दुःखका अनुभव करता है ।

१३

मच्चुणाज्जमाहओ लोगो,
जराए परिवारिओ ।

उ०, १४, २३

टीका—यह संसार मृत्युसे पीड़ित है और बूढ़ापे से सबूत
आच्छादित है । प्रत्येक क्षण नाश और दुःख की धारा इस विश्व में
प्रवाहित हो रही है ।

१४

जाया य पुत्ता न हुवन्ति ताणं ।

उ०, १४, १२

टीका—कर्म-जनित महान् वेदना प्राप्त होने पर अथवा अधो-
गति प्राप्त होने पर पुत्र भी आत्मा की रक्षा नहीं कर सकते हैं । ऐसा
सोचकर आत्म-विकास करना चाहिये । सत् प्रवृत्तियों की ओर बढ़ना
चाहिये ।

१५

मच्चू नरं नेइ हु अन्त काले,
न, तस्स माया वपिया व भाया अंसहरा भवन्ति ।

उ०, १३, २२

टीका—जब मृत्यु मनुष्य को अत समय से घर दवाती है, तब
उस समय उसके माता पिता अथवा भाई आदि कोई भी उसको
बचाने में समर्थ नहीं हो सकते हैं ।

१६

माया रिया एहुसा भाया,
नाल ते मम नाणाए ।

उ०, १६, ३

टीका—अपने कर्मों के अनुसार दुःख भोगने के समय माता, पिता-पुत्र-वधु, भार्या अथवा पुत्र आदि कोई भी उन दुःखों से छुटकारा दिलाने में, आपत्ति से रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। इसके लिये तो समय और स्व-पर की सेवा ही सर्वोत्तम औषधि है।

(१७)

एतलं ते तव ताणाए वा सरणाए वा,
तमं प्रितेखि एतलं ताणाए वा सरणाए वा ।

आ०, २, ६५, उ, १

टीका—कर्मोदय से जनित घोर दुःख के समय हे आत्मन् । न तो माता, पिता, वधु वर्ग ही तुम्हारी रक्षा कर सकते हैं अथवा शरण भूत हो सकते हैं, और न तू ही उनके घोर दुःख में उनकी रक्षा कर सकता है। जिसका कर्म जो ही भोगेगा, अतएव ससार के सुख वैभव में और मोह में आसक्ति मत रख। कर्त्तव्य-मार्ग में अनासक्ति के साथ बढ़ता चला जा।

(१८)

एकको सयं पञ्चणु होद दुःखं ।

उ०, १३, २३

टीका—पाप कर्मों का उदय होने पर प्राप्त दुःख को जीव अकेला ही भोगता है। उस दुःख को विभाजित करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता है।

(१९)

एगत्त मेयं अभिपत्थयज्ज ।

सू०, १०, १२

टीका—पंडित पुरुष एकत्व-भावना की प्रार्थना करे। क्योंकि जन्म, जरा, मरण, रोग, भय, और शोक से परिपूर्ण इस जगत्

में अपने किये हुए कर्म से दुःख भोगते हुए प्राणी की रक्षा करने में कोई भी समर्थ नहीं है ।

(२०)

एगस्स जंतो गति रागती य ।

मू० १३, १८

टीका—प्राणी अकेला हो परलोक को जाता है और अकेला ही आता है । इस ससार में प्राणी के लिये धर्म को छोड़कर दूसरा कोई भी उसका सच्चा सहायक नहीं है । न धनादि वैभव के पदार्थ ही सहायक हैं, और न माता-पिता आदि बन्धु वर्ग ही सहायक हैं । अतएव सेवा, सद्वर्तन, सात्विकता, ईश्वर-भजन आदि पवित्र कार्यों को ही जीवन में प्रमुख स्थान देना चाहिये ।

(२१)

जीवियं नाभिकंखेज्जा,

मरणं नो वि पत्थय ।

आ०, ८, २०, ७, ८

टीका—जीवन में अनासक्त रहे । आसक्ति होने पर भोगों में पुनः फसने की आशका है । कर्त्तव्य से गिर जाने का डर है । अतएव धर्म-मार्ग पर चलते हुए न तो जीवन के प्रति मोह-ममता रखे, और न मृत्यु से भय खावे । यश-कीर्ति, सुख-वैभव प्राप्त होने पर जीवन को बहुत काल तक जीवित रखने की आकांक्षा नहीं करे, एव दुःख, व्याधि, उपसर्ग, परिपह, कठिनाइयाँ आदि को देख कर मरने की भावना भी नहीं भावे । सात्विक वृत्ति वाला, कर्मण्य पुरुष केवल कर्मण्य का ही ध्यान रखे, जीवन से या मृत्यु से अनासक्त रहे ।

(२२)

संवेगेणां अणुत्तरं धम्म सद्धं जणयइ ।

उ०, २१, प्र, ग०

टीका—संवेग और वैराग्य में ही श्रेष्ठ धर्म के प्रति, जैन धर्म के प्रति और सात्त्विक क्रिया मय आचरण के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, इन पर विश्वास जमता है ।

(२३)

निव्वेयेणं दिव्व माणुस तेरिच्छिप्पसु
काम भोगेसु निव्वेयं हव्व मागच्छइ ।

उ०, २१, द्वि०, ग०

टीका—ससार-मुख के प्रति तटस्थ वृत्ति एवं उदासीन भावना होने पर ही देवता सबधी, मनुष्य सबधी और तिर्यच-सबधी काम-भोगों के प्रति और इन्द्रिय-मुखों के प्रति वैराग्य भाव पैदा हुआ करते हैं, इसलिये त्याग-भाव और अरुचि-भाव के लिये तटस्थ भावना की अति आवश्यकता है ।

१. २४)

विरत्ता उ न लगन्ति,

जहा से सुक्क गोले ।

उ०, २५, ४३

टीका—जैसे सूखा हुआ गोला भीत पर नहीं चिपकता है, वैसे ही विरक्त आत्माओं के—विषय-मुक्त आत्माओं के तथा अनासक्त आत्माओं के भी कर्मों का बधन नहीं होता है ।



कर्तव्य-सूत्र

(१)

अक्रियं परिवर्जय ।

उ०, १८, ३३

टीका—अक्रिया का, नास्तिकता का, अनास्था का, परित्याग करना चाहिये । जीवन में ज्ञानिके साथ क्रिया को भी यानी चारित्र को भी स्थान देना चाहिये । क्रिया शून्य ज्ञान मोक्ष तक नहीं पहुँचा सकता है ।

(२)

सर्वं सुचिरेण सफलं नराणं ।

उ०, १३, १०

टीका—सात्विक उद्देश्यों से किये जाने वाले सभी कार्य मनुष्यों के लिये अच्छे फल देने वाले होते हैं । भावचानुसार फल की प्राप्ति हुआ ही करती है ।

(३)

जाइ सद्भाइ निखत्तो ।

तमेव अणु पालिज्जा ।

उ०, १६, ११

टीका—जिस श्रद्धा के साथ, जिस दृढ़ आत्म-विश्वास के साथ, स्व और पर के कल्याण के लिये निकला हो, उसी दृढ़ भावना के साथ एवं अचल श्रद्धा के साथ स्व और पर के कल्याण में लगे रहना चाहिये ।

। ३३ ३३ ३३ ३३ ३३

(४)

णो जीवितं णो मरणाहि कंखी ।

सू०, १२, २२

टीका—ईश्वर पर श्रद्धा रखने वाला पुरुष और धार्मिक-नियमों पर चलने वाला पुरुष न तो जीवन पर आसक्ति रखे और न मृत्यु से घबरावे । कठिनाइयाँ आने पर भी मृत्यु की अकाक्षा नहीं रखे । लक्ष्म्या मुख-सुविधा होने पर भी जीवन के प्रति अनासक्त रहे ।

(५)

मा वंतं पुणो वि आविण्ण ।

उ०, १६, २९

टीका—त्यागे हुए विषय को, और छोड़ी हुई कषाय-वासना को पुनः ग्रहण मत करो । भोगों की तरफ मत ललचाओ ।

(६)

अण्णदा जे य सव्वत्था परिवज्जेज्ज ।

उ०, १८, ३०

टीका—जो अनर्थ कारी क्रियाएँ हैं, जिन क्रियाओं से न तो स्व का और न पर का हित होने वाला है, अथवा जो स्व को या पर को हानि पहुंचाने वाली है, जो आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि से वर्जनीय है, जो त्याज्य है, ऐसी क्रियाओं को सर्वत्र और सर्वदा के लिये छोड़ देना चाहिये ।

(७)

रायणिप्पसु विणयं पउंजे ।

उ०, ८, ४१

टीका—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में वृद्ध मुनिराजों की सदैव विनय, भक्ति और सेवा करते रहना चाहिये । क्योंकि सेवा ही मोक्ष-दायिनी होती है ।

(८)

लज्जा दया संजम बंभचरं,

कल्याण भागिस्स त्रिसोहि ठाणं ।

द०, ९, १३ प्र, उ,

टीका—कल्याण के लिये अर्थात् अनत आत्मिक सुख की भावना चाले के लिये, (१) लज्जा यानी व्यवहार-कुशलता के साथ मर्यादा पालन, (२) दया यानी सभी प्राणियों पर-आत्मवत् दृष्टि, (३) संयम यानी विषय-कषाय विकार पर नियंत्रण और (४) ब्रह्मचर्य यानी मन, वचन तथा काया पूर्वक स्त्री-संगति से दूर रहना और वीर्य-रक्षा करना; ये चार आवश्यक और प्रधान आचरणीय क्रियाएँ हैं ।

(९)

सुखसुख आयरि अप्पमत्तो ।

द०, ९, १७, प्र, उ,

टीका—प्रमाद रहित होकर, सदैव सत् क्रिया शील होकर, अपने आचार्य को अथवा अपने गुरु की निष्कामता के साथ विशुद्ध हृदय होकर सेवा करता रहे । उनकी भक्ति करता रहे ।

(१०)

समय तत्थु वेहाए अप्पसं विण्णसायण ।

आ०, ३, ११७, उ, ३

टीका—ज्ञानी का या मुमुक्षु का यह कर्तव्य है कि वह समता धर्म में और शांति धर्म में अपनी आत्माको स्थिर कर आत्मिक शक्तियों का सात्त्विक रीति से विकास करता रहे ।

(११)

जाए सुद्धाए निक्खंतो,

तमेव अणुपालिज्जा ।

आ०, १, २०, उ, ३

टीका—जिस श्रद्धा से, जिस उत्कृष्ट त्याग-भावना से और जिस कर्तव्य-प्रेरणा से सांसारिक सुख वैभव का परित्याग करके दीक्षा ग्रहण की है, यानी महापुरुषों के मार्ग का अवलम्बन किया है, उसी भावना के साथ और उसी आदर्श श्रद्धा के साथ उस दीक्षाकी तथा उस कर्तव्य की परिपालना करे ।

(१२)

अलं बालस्स संगेण ।

आ०, २, ९६, उ, ५

टीका—मूर्खों की सगति कभी भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सगति अनुसार ही फल मिला करता है । सगति अनुसार ही गुणों का और दुर्गुणों का ह्रास अथवा विकास हुआ करता है ।

(१३)

चरेज्ज अत्तगवेसप ।

उ०, २, १७

टीका—आत्मा की अनन्तता की और आत्मा की महत्ता की खोज करने वाला सयम-मार्ग पर ही-इन्द्रिय-दमन के मार्ग पर ही सलग्न रहे । आत्मा की अनुभूति विकार वासना, कषाय, तृष्णा और इन्द्रिय भोगों पर विजय प्राप्त करने पर ही हो सकती है ।

(१४)

इमण चैव जुज्झहि,

किं ते जुज्झणं वज्झिओ ।

आ०, ५, १५, उ, ३

टीका—बाह्य शत्रुओं के साथ लड़ने में कोई गौरव नहीं है, जब तक कि आंतरिक शत्रुओं को काम, क्रोध, मोह, मद, मात्सर्य, लोभ आदि शत्रुओं को नहीं हरा दिया जाय, तब तक बाह्य-युद्ध से क्या लाभ होने वाला है, आंतरिक-युद्ध ही ज्ञानियों द्वारा

प्रशंसनीय कहा गया है । बाह्य युद्ध तो निकम्मा और निन्दनीय है ।
यही तत्त्वदर्शियो का फरमान है ।

(१५)

ध्रुव मायरेज्ज ।

सू०, ५, २५, उ, २

टीका—गुणज्ञ पुरुष स्वीकृत और आराधित नियम-सयम का भली-भांति आचरण करे ।

(१६)

अतत्ताए परिव्वए ।

सू०, ११, ३२

टीका—आत्मा के विकास के लिये और आत्मा के स्थायी सुख के लिये, समझदार पुरुष इन्द्रियो को वशमें रखे । ससार के पौद्गलिक सुखों की प्राप्ति के ध्येय से सयम का पालन नहीं किया जाय, बल्कि चारित्र के पालन का एकान्त दृष्टिकोण यही हो कि आत्मा अनन्त आनन्द प्राप्त करे । जीवन का यही एक मात्र ध्येय हो ।

(१७)

सव्वत्थ विणीय मच्छरे ।

सू०, २, १४, उ, ३

टीका—सब जगह और सदैव सभी प्राणियों के प्रति और सभी कार्यों के प्रति ईर्ष्या-भाव का परित्याग करना ही मानवता की सर्व प्रथम सीढ़ी है ।

(१८)

निर्व्विदेज्ज सिलोग पुयणं ।

सू०, २, १३, उ, ३

टीका—आत्म कल्याण की इच्छा वाले मुमुक्षु को अपनी प्रशंसा, यशः कीर्ति, पूजा, सन्मान आदि से दूर रहना चाहिये । ये पतन की ओर ले जाने वाले हैं और अभिमान पैदा करने वाले हैं । इन बातों से मुमुक्षु सदैव दूर ही रहे ।

पूजा-सन्मान की आकांक्षा भी मोह का रूप ही है ।

(१९)

सुपरिच्चाई दमं चरे ।

उ०, १८, ४३

टीका—सुपरि त्यागी होकर, अनासक्त और निर्ग्रन्थ होकर, दमन-मार्ग पर, इन्द्रिय-सयम के मार्ग पर और कषाय-जय के मार्ग पर अपनी आत्माको जोड़े । आत्मा को सयोजित करे ।

(२०)

सन्त्यारभन्ती अणुवीद्वायं ।

सू०, १४, २६

टीका—शिक्षा देने वाले गुरु की भक्ति का ध्यान रखता हुआ शिक्षार्थी सोच विचार कर कोई बात कहे । गुरु के कथन के विपरीत नहीं बोले, एव सस्कृति के प्रतिकूल विवेचना भी नहीं करे ।

(२१)

पण्य समत्ते स्या जण,

समतां धम्म मुदाहरे ।

सू०, २, ६, उ, २

टीका—पूर्ण बुद्धिमान् पुरुष सदा कषायों को-क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतता रहे । इन पर विजय प्राप्त करता रहे तथा समता-धर्म का-वीतराग-धर्म का-उपदेश करता रहे ।

सद्गुण-सूत्र

(१)

निमग्ने निरहंकारे ।

उ०, ३६, २१

टीका—जीवन ममता रहित, और अहंकार रहित हो । ऐसा जीवन ही बोधप्रद है । ऐसा जीवन ही कृत, कृत्य है । ऐसा जीवन ही सफल है ।

(२)

अप्रियस्सावि मित्रस्स,
रहे कल्याण भासई ।

उ०, ११, १२

टीका—अप्रिय मित्र का भी एकान्त में जो गुणानुवाद करता है, अप्रिय मित्र के प्रति भी, जो निन्दा भाव नहीं रखता है तथा स्वैव उसका हितचिन्तन ही करता रहता है, ऐसा पुरुष ही विनीत है । वह आज्ञा का आराधक है ।

(३)

अक्रोधे सच्चरणं सिक्खं सीले ।

उ०, ११, ५

टीका—जो अक्रोधी है, नम्र है, और सत्यानुरागी, है, वही पुरुष सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकता है ।

(४)

भाणं मद्दया जिणे ।

उ०, ८, ३९

टीका—मानको, अहंकार को मृदुता से और नम्रता से जीतना चाहिये । नम्रता से विरोधी भी नरम और अनुकूल हो जाता है ।

(५)

मायं अज्जव भवेण ।

द०, ८, ३९

टीका—माया को, कपट को सरलता से जीतना चाहिये । सरल हृदय में ही ईश्वर का वास है ।

(६)

लोभ संतोषथो जिणे ।

द०, ८, ३९

टीका—लोभ को, लालचको सतोष से जीतना चाहिए । सतोष वरावर धन नहीं है । सतोषी ही सुखी है । और असन्तोषी सदैव दुःखी है, चाहे वह धनी हो या निर्धन । असतोष की लहरे, तृष्णा की तरंगे अनन्त हैं, उनका कभी अंत ही नहीं आ सकता है ।

(७)

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,

मोहो हथो जस्स न होइ तण्हा ।

उ०, ३२, ८

टीका—जिसकी आत्मा में मोह नहीं है, उसे दुःख नहीं हो सकता है । यानी मोह के अभाव में दुःख का अभाव हो जाता है । इसी प्रकार मोह के नाश में ही तृष्णा का नाश रहा हुआ है । जिसका मोह नष्ट हो गया है उसकी तृष्णा भी नष्ट हो गयी है ।

(८)

तण्हा हया जस्स न होई लोहो,

लोहो हथो जस्स न किंचणाइं

उ०, ३२, ८

टीका—जिसकी तृष्णा नष्ट हो गयी है उसको लोभ नहीं सताता है, और जिसके हृदयसे लोभ चला गया है उसको किसी भी बात पर, पदार्थ पर एवं भोग पर, आसक्ति या ममता नहीं रहती है । आनन्द की प्राप्ति के लिये तृष्णा का नाश सर्व प्रथम आवश्यक है ।

(९)

ओमासणाणं दमिइन्द्रियाणं,
न राग सत्तु धरिसेइ चित्तं ।

उ०, ३२, १२

टीका—परिमित और अल्प आहार करने वाले को तथा इन्द्रियो का दमन करने वाले के चित्त को राग-रूप शत्रु-आसक्ति रूप दुश्मन और ममता रूप वैरी दुःख नहीं देता है ।

(१०)

संगाम सीसे व परं दमेज्जा ।

सू०, ७, २९

टीका.—कर्मण्य पुरुष अपनी मानसिक दुर्वृत्तियों का इस प्रकार दमन करे जैसा कि वीर-पुरुष युद्ध क्षेत्रमें प्रति पक्षी शत्रु का दमन करता है, और उसपर विजय प्राप्त करता है । मानसिक दुर्वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने में ही पुरुषत्व की शोभा रही हुई है ।

(११)

अप्पमत्तो परिब्बव ।

उ०, ६, ३

टीका—जीवन के विकास के लिये अप्रमत्त होता हुआ, निश्चित होता हुआ, आशा रहित होता हुआ, और निर्द्वन्द्व होता हुआ अपना जीवन व्यतीत करे ।

(१२)

अलोलुप रसेसु नाणुगिज्जेज्जा ।

६, ६ उ०, १२, ३९

टीका—आत्मा की शांति चाहने वाला अलोलुप होता हुआ इन्द्रियो के रसों में, इन्द्रियो के भोगों के स्वादों में आसक्त न बने। विषयों में मूच्छित न हो। वासनाओं में गृद्ध न हो जाय।

(१३)

जे आसवा ते परिस्सवा.

जे परिस्सवा ते आसवा।

आ०, ४, १३१ उ, २

टीका—जो आश्रव के स्थान हैं, वे ही भावों की उच्चता के कारण सवर-निर्जरा के स्थान भी हो सकते हैं। इसी प्रकार जो सवर-निर्जरा के स्थान हैं, वे ही भावों की नीचता और दुष्टता के कारण आश्रव के स्थान भी हो जाया करते हैं। इन सब में मूल कारण भावों की या भावना की विशेषता है। जैसी भावना वैसा फल। बाह्य स्थिति कैसी भी हो, आंतरिक स्थिति पर ही सब कुछ निर्भर है। अतएव सदैव शुद्ध भावना ही रखनी चाहिये।

(१४)

आवट्टे तु पेहाए इत्थं,

विरमिज्जे विषयी।

आ०, ५, १७०, उ, ६

टीका—राग द्वेष, कषाय, विषय और विकार के चक्र का ख्याल कर, संसार-परिभ्रमण का विचार कर, तत्त्वदर्शी ज्ञानी इन कषायों से, इन विषयों से, इन वासनाओं से, अपनी आत्मा को बचावे। जीवन को निर्मल, निष्कषायों और अनासक्त बनावे।

(१५)

मेहावी जाणिज्ज धम्म।

आ० ६, १८८, उ, ४

टीका—जो बुद्धिमान् होता है, जो ज्ञान-शील होता है, वही धर्म के मर्म, को-धर्म के रहस्य को जान सकता है। तत्वों के और सिद्धान्तों के, तंह में उच्च ज्ञानी ही प्रवेश कर सकते हैं—अज्ञानी और भोगी नहीं।

(१६)

सिक्खं सिक्खेज्ज पंडित् ।

सू०, ८, १५

टीका—पंडित पुरुष-ज्ञानी पुरुष-सलेखना रूप शिक्षा को ग्रहण करे। आलोचना के साथ पञ्चात्ताप और प्रायश्चित्त द्वारा जीवन की शुद्धि करे। और पुनः वैसी भूल नहीं करने की प्रतिज्ञा के साथ जीवन-काल व्यतीत करे।

(१७)

सव्वत्थ विरतिं कुज्जा ।

सू०, ३, २०, ३, ४

टीका—सब स्थानों पर, सब काल में विरति करना चाहिये, यानी पाप, अशुभ-योग, कषाय, वासना आदि से विरक्त रहना चाहिये।

(१८)

न कंखे पुव्व संथवं ।

उ०, ६, ४

टीका—आत्मारथी अपने जीवन के पूर्व भाग में भोगे हुए भोगों का न तो परिचय करे, न उनकी स्मृति करे और न आकांक्षा ही करे। उनको सर्वथा ही भूल जाय।

(१९)

समुपेहमाणस्स इक्काययणरयस्स,

इह विप्पमुक्कस्स नत्थि मग्गेविरयस्स ।

आ०, ५, १४९, उ०, २

टीका—जिस आत्मा ने ससार को अनित्य समझ लिया है, तथा जो आत्मा एकान्त रूप से ईश्वर पर श्रद्धा कर के अपने निर्मल चारित्र्य द्वारा कर्त्तव्य-मार्ग पर आरुढ़ है, ऐसी आत्मा के नवीन कर्म आते नहुए रुक जाते हैं। इसी प्रकार जो इन्द्रियों के भोगों से और मानसिक कषाय-वृत्तियों से निवृत्त है, वे अब पुनर्जन्म नहीं करेंगे। क्योंकि ससार में चक्कर लगाने का कोई कारण अब ऐसी पवित्र आत्माओं के लिये शेष नहीं रहता है।

(२०)

वन्द्यपणं नीयागोयं कम्मं खवेइ,
उच्चा गोयं कम्मं निबन्धइ।

उ०, २९, १०, वा, ग०

टीका—गुरुजी को तथा पंच महाव्रतधारी साधुजी को श्रद्धा करने से, भाव पूर्वक इन्हें आदर्श मानने से, नीच-गोत्र कर्म के बध का नाश होता है और उच्च गोत्र कर्म का बध पड़ता है।

(२१)

वायणाप निज्जरं जणयइ।

उ०, २९, १९वाँ, ग०

टीका—वाचना से, शास्त्रों के पढ़ने से, साहित्यिक और दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन करने से, इनका मनन तथा चिन्तन करने से, कर्मों की निर्जरा होती है। पूर्व कृत कर्मों का क्षय होता है।

(२२)

भुंजिज्जा दोषं वज्जिअं।

द०, ५, १९, उ, प्र,

टीका—दोष-वर्जित आहार करना चाहिये। यानी जिस आहार में हिंसा, झूठ, चोरी, आसक्ति, गरीबों का शोषण, अत्याचार,

अन्याय आदि पाप रहा हुआ हो, वह आहार त्याज्य है, क्योंकि वह सदोष होता है ।

(२३)

पंचविहे श्रामारे, णाणायारे,
दंसणायारे, चरित्तायारे,
तवायारे, वीरियायारे ।

ठाणा, ५वा ठा, उ, २, १४

टीका—पांच प्रकार का आचार कहा गया है—१ ज्ञानाचार, २ दर्शनाचार, ३ चारित्राचार, ४ तपाचार और ५ वीर्याचार ।

१ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देख कर अविनय आदि आठ दोषों को ढालना ज्ञानाचार है ।

२ सम्यक्त्व के दोषों को ढालना दर्शनाचार है ।

३ पाच प्रकार की समितियाँ और तीन गुप्तियाँ पालन चारित्राचार है ।

४ बारह प्रकार के तप का आचरण करना तपाचार है ।

५—धर्म-मार्ग में पराक्रम बतलाना वीर्याचार है ।

(२४)

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताप,
कम्मं पगरेंति, सरागसज्जमेणं,
संजमासंजमेणं, बालतवो कम्ममेणं,
अकाम निज्जराण ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ४, ३९

टीका—चार प्रकार के कामों से जीव देव-गति का बंध करते हैं—१ सराग सयम से, २ सयमासयम से, ३ बालतप करने से और ४ अकाम निर्जरा से ।

(२५)

चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सत्ताए,
 कम्मं पगरेंति, पगइ भइयाए,
 विणीयाए, साणुक्कोसयाए,
 अमच्छरियाए ।

। ठा, ४ था, ठा, उ, ४, ३९

टीका—चार प्रकार के कामों से जीव मनुष्य गति का बंध
 करते हैं :—(१) सरल प्रकृति रखने से, (२) विनीत प्रकृति
 रखने से, (३) दयालु प्रकृति रखने से और (४) प्रेम-भाव रखने
 से—यानी मात्सर्य भाव नहीं रखने से ।



क्षमा-सूत्र

(१)

खंतिं सविज्जं पंडिय ।

उ०, १, ९

टीका—पंडित की-बुद्धिमान की सार्थकता इसी में है कि वह क्षमा धारण करे । कैसी भी विषम और जटिल परिस्थिति हो तो भी क्षमा ही रखे ।

(२)

खन्तीपणं परिसहे जिणइ ।

उ०, २९, ४६वाँ, ग०

टीका—क्षमा धारण करने से परिषहों को और उपसर्गों को तथा आपत्ति-विपत्ति को सहन करने की शक्ति पैदा होती है । शत्रुता मिटकर मित्रता की भावना पैदा होती है ।

(३)

खमावणयाय पल्हायण भावं जणयइ ।

उ०, २९, १७ वा, ग०

टीका—अपने अपराधों के लिये क्षमा मांगने से तथा नम्रता और विनय धारण करने से चित्त में प्रसन्नता होती है । आत्मा पापों से हल्की होती है ।

(४)

पिय मप्पियं सव्वं तित्तिक्खपज्जा ।

उ०, २१, १५

टीका—प्रिय और अप्रिय, सभी वचनो को शांतिपूर्वक सहन करना चाहिये । सहन शीलता ही गभीरता है, और गभीरता ही मान-वता का एक अंश है ।

(५)

अणिद्वे से पुट्टे अहियासए ।

सू०, २, १३, उ, १

टीका—मुमुक्षु आत्मा, आत्मारथी-पुरुष, कष्ट आने पर भी नि-स्पृह होकर, समभाव-शील होकर उन कष्टों को सहन करता रहे, पर अपने कर्त्तव्य-मार्ग से विचलित न हो ।

(६)

अप्याहारे तितिकावए ।

आ०, ८, ११, उ, ८, ०३

टीका—बुद्धिमान् पुरुष अल्प-आहार करने वाला होवे । जिससे आलस्य आदि दुर्गुण, नहीं सत्तावे । तथा स्वाध्याय में, एवं अन्य सात्विक प्रवृत्तियों में हानि न हो, । इसी प्रकार, जीवन-व्यवहार में, विरोधी परिस्थितियों के उपस्थित होने पर या प्रतिकूल सयोगों के कारण क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी क्षमा ही करता रहे । क्षमा-शील और धर्म शील ही रहे । अल्प-आहार का व्रत लेने पर क्षमा आदि गुणों की वृद्धि होती है ।

(७)

समता संवत्थ सुव्वते ।

सू०, २, १३, उ, ३

टीका—सुव्रती यानी इन्द्रियो को और मन को वश में करने वाला पुरुष प्रत्येक क्षण और प्रत्येक स्थान पर समता रखे । हर्ष-शोक से दूर रहे ।

(८)

समय सया चरे ।

सू०, २, ३, ७, २

टीका—सदा समभाव से व्यवहार करना चाहिये । सत्य, धैर्य, सतोष, कर्मण्यता आदि सद्गुण ही जीवन के व्यक्तित्व का विकास करने वाले हैं ।



सात्विक-प्रवृत्ति-सूत्र

(१)

मिति भूयसु कपेय ।

उ०, ६, २

टीका—प्राणी मात्र पर, ससार के सभी जीवों पर, मैत्री भावना रखो । अवरोध-भावना का ही पोषण करो । कल्याण मय भावना की ही कल्पना करो । किसी को भी शत्रु न समझो ।

(२)

इगियागार संपन्ने से विणीय ।

उ०, १, २

टीका—इगित यानी इशारे और आकार-प्रकार से ही बात को समझ जाने वाला, और उसके अनुसार काम करने वाला “विनीत” कहलाता है ।

(३)

खमेह अवगाहं मे,

वइज्ज न पुणु त्ति अ ।

द०, ९, १८, द्वि, उ,

टीका—“मेरा अपराध क्षमा करे, अब दुवारा ऐसा अपराध नहीं करूंगा, ऐसा बोले,” यह लक्षण विनय शील और आत्म चर्चका की भावना वाले का है ।

(४)

सुविर्णा अप्पा दीसंति सुह मेहंता ।

द०, ९, ६, द्वि, उ,

टीका—सुविनीत आत्माएँ यानी ज्ञान, ध्यान, विनय, भक्ति, सेवा, ईश्वर-आराधना आदि सत्कार्यों में सलग्न आत्माएँ सुख-ऐश्वर्य, यश-कीर्ति, ऋद्धि-सिद्धि, आदि नाना प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त करती हुई देखी जाती है।

(५)

नमो महावी ।

उ०, १७, ४५

टीका—मोक्षाधीन बुद्धिमान् और मुमुक्षु (मोक्ष का इच्छुक) ही नम्र होता है । वही विनय-शील होता है । क्योंकि वह जानता है कि विनय ही मोक्ष की सर्व प्रथम सीढ़ी है ।

(६)

निरंदाणि उवज्जयं ।

उ०, १, ८

टीका—निरर्थक वात्तो से, विकथा-निन्दा और वैर-विरोध वाली वात्तो से दूर रहना चाहिये । इनका परित्याग कर देना चाहिये ।

(७)

अकर्मणा कम्म खवेत्ति धीरा ।

सू० १२, १५

टीका—धीर पुरुष और ज्ञानी आत्माएँ अनसक्त तथा सत्कर्मण्य शील होने से अपने पूर्व कर्मों का क्षय कर डालती हैं, तथा नवीन आश्रय को भी रोक कर मोक्षका मार्ग प्रशस्त कर देती हैं ।

(८)

उववाय कारी यं हरीमणे,

य एगंतं दिट्ठी य अमाहू रूवे ।

सू०, १३, ६

टीका—जो पुरुष अपने गुरु जनों की आज्ञा पालन करने वाला है, पाप करने से जो लज्जा रखता है, डरता है, एवं जीव, आत्मा,

ईश्वर, पाप, पुण्य आदि आधार-भूत तत्वों पर पूरी पूरी श्रद्धा रखता है, वह पुरुष सात्त्विक विचारो वाला है। वह अमायावी है और वही मोक्ष-मार्ग का पथिक है।

(९)

ए यावि पन्ने परिहास कुज्जा ।

सू०, १४, १९

टीका—बुद्धिमान् पुरुष, किसी की भी हसी नहीं करे, क्योंकि हसी लड़ाई का घर है। लड़ाई अनर्थों का मूल है। अतएव हंसी से दूर रहना ही बुद्धिमानी है।

(१०)

भवे अकामे अझंझे ।

आ०, ५, १५४, उ, ३

टीका—जीवन में यही अवदर्श हो कि काम-भाव, इच्छा-भाव, तृष्णा-भाव, नष्ट हो जायें। कषाय-भाव, और राग-द्वेष भाव के नष्ट होने पर ही स्व का और पर का कल्याण हो सकता है।

(११)

ए मिज्जइ महावीरे ।

सू०, १५, ८

टीका—जो पुरुष आत्महित की वृत्तियों में ही लगा रहता है, आत्म-कल्याण की भावना में ही रमण करता रहता है, वह जन्म-मरण नहीं करता है, यानी ऐसा पुरुष महावीर है, और वह शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

(१२)

अकुव्वओ णवं रात्थि ।

सू०, १५, ७

टीका—जो पुरुष अनासक्त भावसे, वीतराग-भावसे कार्य करता है, वह अकर्ता के समान है। उसको नये कर्मों का बधन नहीं होता

है। इसलिये जीवन-व्यवहार में अनासक्त भाव से यानी वीतराग भावसे चलना चाहिये।

(१३)

आयरिअं उवचिद्व इज्जा,
अणंत नाणो वगओ विसंतो ।

द०, ९, ११, प्र०, उ०

टीका—शिष्य भले ही महान् ज्ञानी हो, गंभीर विचारक हो, असाधारण अनुभवी हो, एव तल-स्पर्शी चिन्तक हो, तो भी उस शिष्य का कर्तव्य है कि वह अपने गुरु की, अपने आचार्य की महान् सेवा-भक्ति करता रहे, वह विनयी होवे और आज्ञा-पालन करता रहे।

(१४)

अरइं आउटे से मेहावी, खणंसि मुक्के ।

आ०, २, ७३, उ, २

टीका—जिस मेधावी पुरुष ने, जिस प्रज्ञा-शील पुरुष ने अरति का त्याग कर दिया है, द्वेष का निवारण कर दिया है, वह काल की परिधि से मुक्त है। ऐसा पुरुष शीघ्र ही काल के दायरे से मुक्त हो जायगा, वह अजर-अमर हो जायगा।

(१५)

सुत्ता अमुणी, संया मुणिणो जागरंति ।

आ०, ३, १०६, उ, १

टीका—सोना और जागना, द्रव्य एवं भाव रूप से दो तरह का है। हम प्रतिदिन रात में सोते हैं और दिन में जागते हैं, यह तो द्रव्य रूप से सोना और जागना है। परन्तु पाप में ही प्रवृत्ति करते रहना भाव सोना है और धार्मिक प्रवृत्ति करते रहना भाव-जागना है। इस प्रकार जो अमुनि है—पापिष्ठ और दुष्ट वृत्ति वाले हैं, वे तो सदैव सोये हुए ही हैं और जो मुनि हैं, सात्विक वृत्ति वाले हैं, वे सदैव जागते रहते हैं। यही मुनि और अमुनि में भाव अन्तर है, विशेषता है।

(१६)

आयंक दंसी न करेइ पावं ।

आ०, ३, ७, उ, २

टीका—जो नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव गति के जन्म, मरण, पीडा, वेदना, दुःख और भय आदि को, और इनके आतक को देखता है, सम्यक् रूप से इन पर विचार करता है, इन पर श्रद्धा करता है, तो ऐसी आत्मा भी पाप कर्म से दूर हो रहती है । पाप कर्म से वह मलीन नहीं होती है ।

(१७)

जे एगं नामे से वहुं नामे,

जे वहुं नामे, से एगं नामे ।

आ०, ३, १२४, उ, ४

टीका—जिस आत्मा ने एक कर्म का, मोहनीय कर्म का-क्षय कर दिया है, उसने सभी कर्मों का क्षय कर दिया है । इसी प्रकार जिसने घन घातिया कर्मों का क्षय कर दिया है, उसने मोहनीय कर्म का भी क्षय कर दिया है, ऐसा समझो । मोहनीय कर्म के क्षय होने पर ही शेष कर्मों का क्षय होना अवलंबित है ।

(१८)

भय वैराओ उवरए ।

उ०, ६, ७

टीका—दूसरे को भय-भीत करने से अथवा दूसरे के साथ वैर-विरोध करने से सदैव दूर ही रहना चाहिये । भय, निर्वलता और पाप को बढ़ाने वाला होता है, तथा वैर कषाय-अग्नि को प्रज्वलित करने वाला होता है ।

(१९)

पच्चमाणास्स कम्मेहिं,

नालं दुक्खाओ मोअणे ।

उ०, ६, ६

टीका—कर्मों से पीड़ित जीवको, दुःख से छुड़ाने में कोई भी समर्थ नहीं है, ऐसा सोचकर सुयम में ही-इन्द्रिय-विजय करने में ही, मन पर नियन्त्रण करने में ही, और पर-हित करने में ही अपना सारा समय व्यतीत करते रहना चाहिये ।

(२०)

कषाय पञ्चकलाणेषां,
वीतराग भाव जणयइ ।

उ०, २९, ३६ वा०, ग०

टीका—कषाय-भावको दूर करने से, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि का त्याग करने से, वीतराग भाव पदा होते हैं, समता, क्षमा, विनय, सरलता और सतोष आदि सात्विक और उच्च भावों की प्राप्ति होती है ।

(२१)

नायण्डज तणा मवि ।

उ०, ६, ८

टीका—तृण मात्र को भी बिना मालिक की आज्ञा के नहीं लेना चाहिये । क्योंकि स्वल्प चोरी की वृत्ति भी धीरे-धीरे दड़कर महान् चोरी करने की वृत्ति के रूप में परिणित हो जाती है ।

(२२)

इह संति गया दविया,
णावकंखंति जीविउं ।

आ०, १, ५८, उ, ७

टीका—जो आत्माएं प्रशम, सवेग, निर्वेद, अनुकंपा, आस्तिकता, आदि गुणों द्वारा शांत प्रकृति वाली हो गई हैं, जो राग-द्वेष से मुक्त हो गई हैं, ऐसी आत्माएँ अब आगे ससार में परिभ्रमण नहीं करेंगी । अथवा वे परिभ्रमण नहीं करती हैं क्योंकि ससार में विशेष रहने का उनके लिये कोई कारण शेष नहीं रह जाता है ।

उपदेश-सूत्र

(१)

तमेव सच्चं नीसंकं,
जं जिगोहिं पवेदयं ।

आ०, ५, १६३, उ, ५

टीका—सम्यक् जानी के लिये तो यही हितकर है कि जिनेन्द्र जगद्गुरु ने जो कुछ फरमाया है, उसे ही सच्चा श्रद्धे। उसे ही निश्चिन्त माने। किसी भी प्रकार की भ्रमणा अपनी मान्यता में और जिन-वचनो में नहीं लावे।

(२)

समयं गोयम ! मा पमायण ।

उ०, १०, १

टीका—हे गौतम ! समय भर का भी, क्षण मात्र का भी प्रमाद मत कर, क्योंकि व्यर्थ में खोया हुआ समय पुनः लौट कर आने वाला नहीं है।

(३)

धीरे मुहुत्त मवि गो पमायण ।

आ०, २, ६६, उ०, १

टीका—बुद्धिमान् पुरुष-जानी पुरुष संसार की अनित्यता का विचार कर और आकस्मिक रूप से आने वाली मृत्यु का विचार कर एक क्षण भर का भी प्रमाद नहीं करे, एक सेकिड भी व्यर्थ नहीं न्योवे। ईश्वर-श्रद्धा से और कर्तव्य-मार्ग से, तथा सेवा आदि सत्कार्यों से एक क्षण के लिये भी दूर नहीं रहे।

(४)

तिष्ठणो हु सि अणुवं महं,
कि पुं चिट्ठसि तीर मागओ ।

उ०, १०, ३४

टीका—महान् ससार समुद्र तो तर गये, यानी अनन्त जन्म-मरण करके चौरासी लाख जीव-योनी में से पार होकर इस उत्तम मनुष्य-भव को तो प्राप्त कर लिया, अब ससार-समुद्र के किनारे पर आकर प्रमाद में क्यों बैठे हुए हो ? साराश यह है कि प्रमाद में जीवन को मत व्यतीत करो ।

(५)

जं सेयं तं समायरे ।

द०, ४, ११

टीका—जो श्रेष्ठ हो उसी का आचरण करना चाहिये । पाप अनिष्ट है, और पुण्य इष्ट है । इसलिये पुण्य, अहिंसा, दया, दान आदि का आचरण करे ।

(६)

कंखे गुणे जाव सरीर मेउ ।

उ०, ४, १३

टीका—जब तक शरीर रहे, यानी मृत्यु नहीं आवे, तब तक जीवन के अंतिम क्षण तक ज्ञान, क्षमा, दया, सतोष, सरलता, विनय आदि गुणों की आराधना और आकांक्षा करता रहे ।

(७)

जयं चिट्ठे मिअं भासे ।

द०, ८, १९

टीका—जीवन व्यवहार यत्ना पूर्वक और विवेक वाला बनावे । आवश्यक, परिमित और प्रिय वाणी बोले, आचार और वाणी का व्यवहार आदर्श हो ।

(४)

सर्व्वं जगं तू समयाणु ,प्रेही ।

सू०, १०, ७

टीका—सम्पूर्ण संसार को सम-भाव से देखो । पूजा अथवा निंदा के प्रति और सन्मान अथवा निरस्कार के प्रति भी समभावी बने रहो । सयोग-वियोग में हर्ष-शोक से दूर रहो । इष्ट और अनिष्ट वस्तु के प्रति रति-अरति भाव से विलग रहना ही मानवता है ।

(५)

हम्मभाणो ण कुप्पेज्ज,

बुच्चमाणो न संजले ।

सू०, ९, ३१

टीका—कर्त्तव्य निष्ठ पुरुष को यदि कोई लाठी आदि से मारने भी लग जाय, तो भी वह परमार्थी पुरुष क्रोध नहीं करे, और न उस मारने वाले पर प्रतिकार रूप अनिष्ट विचार ही पैदा करे । इसी प्रकार किसी के गाली आदि देने पर भी परमार्थी पुरुष न जले । उस पर द्वेष भाव नहीं लावे । सांगत यह है कि जीवन में वीतराग-भाव की वृद्धि करता रहे ।

(१०)

आदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा ।

सू० १०, २

टीका—विना दी हुई किसी की भी कोई वस्तु नहीं लेना चाहिये यानी चोरी से-चाहे वस्तु छोटी हो या बड़ी, कैसी भी हो तो भी उसे नहीं लेना चाहिये ।

(११)

चरियाण अप्पमत्तो,
पुट्ठो तत्थ अहिंसाण ।

सू०, ९, ३०

टीका—महत्वाकाक्षी पुरुष का कर्तव्य है कि वह जीवन-व्यवहार में आलस्य नहीं करे । प्रमाद की सेवना नहीं करे । प्रतिज्ञा-पालन करते समय और लक्ष्य की पूर्तिके समय आने वाले उपसर्गों और परिषर्गों को तथा कठिनाइयों को धैर्यता पूर्वक सहन करे और कृत-सकल्प से विचलित न हो ।

(१२)

पिय मण्पियं कस्सइ गो करेज्जा ।

सू०, १०, ७

टीका—किसी का भी रागवशात् प्रिय न करे और द्वेष वशात् अप्रिय भी न करे । प्रेम-भाव और वन्धुत्व भावना तो अवश्य रखे, परन्तु रागद्वेष जनित प्रियता और अप्रियता से दूर रहे ।

(१३)

लेसं समाहट्ठु परिवज्ज्जा ।

सू०, १०, १५

टीका—योग और कषाय की मिश्रित भावना को लेस्या कहते हैं । ऐसी लेस्या से आत्मा को दूर कर समय की परिपालना करे । मन और इन्द्रियो को समाधि युक्त बनावे ।

(१४)

मेहावि समिक्ख धम्मं,

दूरेण पावं परिवज्ज्जज्जा ।

सू०, १०, २०

टीका—बुद्धिमान् पुरुष और हितार्थी पुरुष, धर्म की मीमांसा कर-समीक्षा कर, हित-अहित की पहिचान कर, विवेक-अविवेक का ध्यान कर पाप-कार्य को छोड़ दे । हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, आसक्ति, परिग्रह, आदिको दूर कर दे । इनका परित्याग कर दे ।

(१५)

पावाउ अण्णण निवट्टणज्जा ।

सू०, १०, २१

टीका—पाप से, कषाय-विकार से, भोगों से, दुष्कृतियों की वासना से, कल्याण-इच्छुक पुरुष अपने आप को दूर ही रखे। अनिष्ट कृतियों से परहेज ही करता रहे।

(१६)

धित्तिम विमुक्केण य पूयणट्ठी,
न सिलोयगामी य परिव्वणज्जा ।

सू०, १०, २३

टीका—जो आत्महितैषी है, जो सयमी है, वह धैर्य शील रहे। आपत्तियों में स्व-कर्तव्य और सयम से पतित न हो। वह आरभ-परिग्रह से विमुक्त रहे। मूर्च्छा और मूढ-भाव से दूर रहे। मान-सन्मान और पूजा-प्रतिष्ठा की भावना नहीं रखे। यशः-कीर्ति की कामना नहीं करे। शुद्ध कर्तव्य मार्ग पर निरन्तर चलता रहे। इधर उधर विचलित न हो।

(१७)

असाहु धम्माणि ण सवणज्जा ।

सू०, १४, २०

टीका—जो वाते अनुपयोगी है, जो पीडा कारक है, जो अनिष्टकर है, या जो मर्मघातक है ऐसी असत् वाते कभी भी नहीं कहना चाहिये। न उनका प्रचार ही करना चाहिये। वाणी पर समतोलता सयम आवश्यक है।

(१८)

णयाइं मयाइं विणिं च धोरा ।

सू०, १३, १६

टीका—धीर पुरुष, स्व-पर-सेवा व्रती पुरुष, उन कारणों को और उन स्थानों को त्याग दे, जो कि अभिमान को पैदा करने वाले हों अथवा अभिमान को उत्तेजना देने वाले हों। अभिमान त्यागने पर ही विनय की प्राप्ति होती है और विनय ही धर्म का मूल है।

(१९)

विष्णुमायं न कुञ्जा ।

सू०, १४, १

टीका—प्रमाद रूप पाप का कभी भी सेवन नहीं करना चाहिये, क्योंकि प्रमाद एक आंतरिक भयंकर शत्रु है, जो कि जीवन शक्ति को नष्ट करता रहता है और आत्मा को पाप में डूबाता रहता है।

(२०)

जं मयं सव्व साह्वणं,

तं मयं सल्लगत्तणं ।

सू०, १५, २४

टीका—जो सभी संत-महापुरुषों को मान्य है, जो सभी ऋषियों को आचरणीय है, उन्हीं बातों को पाप को काटने वाली माननी चाहिये। महापुरुषों ने दया, सत्य, अत्रौर्य, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति और निष्परिग्रह को ही धर्म माना है, और इन्हीं का पालन करना ही मोक्ष का मार्ग कहा है इसलिये हमें भी इन्हीं को पाप को काटने वाले समझना चाहिये, तथा जीवन में भी इन्हीं को स्थान देना चाहिये।

(२१)

जं किञ्चा णिव्वुडा एगे,

निट्ठं पावन्ति पंडिया ।

सू०, १५, २१

टीका—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य का पालन करके अनेक महापुरुष निर्वाण को प्राप्त करते हैं, ससार का अन्त करते हैं, हमें भी उन्हीं का अनुकरण करना चाहिये।

(२२)

काले काले समायरे ।

द०, ५, ४, उ, द्वि

टीका—काल के अनुसार समय को देखकर यथा-समय अथवा कार्य करे । प्रत्येक को अपना कार्य-क्रम व्यवस्थित विभाजित करते हुए समय पर उसे करना चाहिये । प्रमाद में समय नहीं खोना चाहिये ।

(२३)

जरा जाव न पीडेइ,

ताव धम्मं समायरे ।

द०, ८, २३

टीका—जब तक वृद्धावस्था दुःख नहीं दे, वृद्धावस्था की प्राप्ति नहीं हो, उसके पहले ही धर्म का आचरण कर ले, नहीं तो पीछे पछताना पड़ेगा ।

(२४)

जाव इंदिया न हायंति

ताव-धम्मं समायरे ।

द०, ८, ३६

टीका—जब तक इन्द्रियाँ शक्ति हीन न हों, वहाँ तक यानी इसके पहले ही धर्म का आचरण कर ले । ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप और सेवा का आचरण कर ले । अन्यथा पूर्व पुण्यो को यहाँ पर क्षय कर और नये पापों का बोझा संग्रह कर जाना पड़ेगा ।

(२५)

असंखय जीविय मा पमायए ।

उ०, ४, १

टीका—यह जीवन सस्कार-रहित है, यानी दुर्गुणों और विकारों की खान है । अनन्त कालीन वासनाएं इस आत्मा में सन्निहित हैं; इसलिये प्रमाद मत करो सदैव सत्कार्यों और सयम में लगे रहो ।

(२६)

पिहिया सवस्स वंतस्स,

पाव कम्मं न वंधइ ।

द०, ४, ९

टीका—जिसने आस्रव कर्म के आने के द्वार बध कर दिये हैं, और जो इन्द्रियो और मन को वश में रखने वाला है, वह पाप कर्म का बन्धन नहीं करता है ।

(२७)

संकट्ठाणं विवज्जए ।

द०, ५, १५ उ, प्र०

टीका—जहाँ किसी प्रकार की आपत्ति अथवा पाप की आशंका हो, तो ऐसे शका-ग्रस्त स्थान से दूर ही रहना चाहिए । वहाँ से हट जाना चाहिये ।

(२८)

असंसत्त पलोइज्जा ।

द०, ५, २३, उ, प्र,

टीका—अनासक्त होकर देखना चाहिये, यानी जीवन में भोग-परिभोग वाले पदार्थों के प्रति मोह, आसक्ति और लोलुपता नहीं रखनी चाहिये ।

(२९)

मिहो कहाहिं न रमे ।

द०, ८, ४३

टीका—एकान्त में, व्यर्थ बातों में समय नष्ट नहीं करना चाहिए, क्योंकि व्यर्थ की बातें निन्दा रूप और पाप जनक ही होती हैं ।

(३०)

निर्द्वन्द्वं न बहु मन्त्रिजा ।

६०, ८, ४२

टीका—बहुत निद्रा नहीं लेना चाहिये, क्योंकि यह प्रमाद है । प्रमाद का सेवन करने से वह रोग बढ़ता ही है, घटता नहीं है ।

(३१)

दुल्लभे खलु माणसे भवे ।

३०, १०, ४

टीका—यह मानव-गरीर अति दुर्लभ है । महान् पुण्यों के संयोग से इसकी प्राप्ति हुई है । इसलिये इसे भोगों में न व्यतीत कर सत्कार्यों में ही लगा रखो ।

(३२)

जीवो पमायं बहुलो ।

३०, १०, १५

टीका—प्रकृति से ही जीव अत्यन्त प्रमादी होता है । आलस्य का सम्बन्ध जीव के साथ अनादि काल से है । इसलिये सावधान होकर सदैव सत्-प्रवृत्तियों में ही लगे रहना चाहिये । आलस्य से वचना चाहिये ।

(३३)

भग्नं कुशीलाण जहाय सख ।

महा नियठाण धण पहेण ।

३०, २०, ५१

टीका—कुशीलियों के, मिथ्यात्वियों के, और विषय विकारों के मार्ग को सर्वथा छोड़कर महानिग्रहों द्वारा और भगवान् महावीर स्वामी द्वारा-प्रदर्शित मार्ग पर जो अनासक्त अविकार मय और अमूर्च्छामय है, उस मार्ग पर चलो । यही एक कल्याण कारी मार्ग है ।

(३४)

विद्धंसण धम्ममेव तं इति,
विज्जं कोणार मावसे ।

सू०, २, १०, उ, २

टीका—ससार का सुख और ससार के पदार्थ नाशवान् है, ये अस्थायी हैं, ये अनित्य हैं ये छोड़कर चले जाने वाले हैं । तो फिर कौन ऐसा विद्वान् पुरुष होगा जो कि इन सासारिक-सुखों और सासारिक पुद्गलों में फसेगा ? यानी बुद्धिमान् तो इनमें आसक्त और मूर्च्छित नहीं होगा ।

(३५)

जं हंतव्वं तं नासिपत्थण ।

आ०, ५, १६५, उ, ५

टीका—जो पाप रूप-है, जो घात-रूप है, जो त्याज्य रूप है, उस विषय की ज्ञानी इच्छा नहीं करे । उसको तो दूर से ही छोड़ दे ।

(३६)

पाव कम्मं नेव कुज्जा न कारवेज्जा ।

आ०, २, १७, उ, ६

टीका—पाप-कर्म, अनिष्ट कर्म, निदनीय कर्म न तो खुद को करना चाहिये और न दूसरों से करवाना चाहिये । क्योंकि खराब काम, इस-लोक में और पर लोक में सर्वत्र और सर्वदा हानि पहुँचाने वाले ही होते हैं ।

(३७)

जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणां ।

उ०, ४, १

टीका—जबतक शरीर स्वस्थ है, तबतक धर्म का, पर-सेवा का, संयम का तथा इन्द्रिय-दमन का, आराधन कर लो । अन्यथा बुद्धिपे

के समीप आने पर एवं कर्मों का उदय होने पर कोई भी रक्षक नहीं बनेगा ।

(३८)

नाशी नो पर्माण् कयीइ वि ।

आ०, ३, ११७, उ, ३

टीका—ज्ञानी अपनी आत्मा को कभी भी और किसी भी दशा में प्रमाद-ग्रस्त नहीं करे । प्रमाद एक महान् शत्रु है । अतएव सदैव इसका ध्यान रखे ।

(३९)

न सिध्दा तोत्त गवेसए ।

उ०, १, ४०

टीका—परम छिद्रान्वेषी-पर दोष दर्शक न बनो । पर दोष-दर्शन से आत्म-पतन और वैर-विरोध बढ़ता है ।

(४०)

नो निहणिज्ज वीरियं ।

आ०, ५, १५२, उ, ३

टीका—तपस्या आदि निर्जरा के कामों में कपट का सेवन नहीं करना चाहिये । जीवन का प्रत्येक कार्य स्पष्ट और जल-कमलवत् निर्मल और निर्लेप होना चाहिये । जिससे अन्य संसारी जीव भी तत्त्वदर्शी पुरुष के जीवन से शिक्षा और आदर्श ग्रहण कर सकें ।

(४१)

भूएणि न विरुज्जेज्जा ।

सू०, १५, ४

टीका—प्राणियों के साथ वैर-भाव नहीं रखना चाहिये । वैर-भाव जीवन में कटुता, अमैत्री, क्लेश और पापों की परम्परा लाने वाला है । वैर-भाव से जीवन में कभी भी शांति मिलने वाली नहीं है ।

(४२)

मियं कालेण भक्खण ।

उ०, १, ३२

टीका—भोजन करने का समय होने पर, परिमित, पथ्य, अवि-
कारी और आवश्यक भोजन करो ।

(४३)

रक्खिज्जं कोहं विण्णज्ज माणं ।

उ०, ४, १२

टीका—क्रोध से दूर रहो और मान को हटाओ । क्रोध विवेक
को नष्ट करता है और मान आत्मा के गुणों का नाश करता है ।

(४४)

मायं न सेवेज्ज फहेज्ज लोहं ।

उ०, ४, १२

टीका—माया की, कपट की सेवना न करो और लोभ को छोड़ो ।
माया दुर्गुणों की खान है और लोभ पाप का बाप है ।

(४५)

खणं जाणाहि पंडिण ।

आ०, २, ७१, उ, १

टीका—हे पंडित ! हे आत्मज्ञ ! क्षण-क्षण का विचार करो ।
द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव से प्रत्येक पदार्थ को समझो, उस पर मनन-
चिंतन करो । उस तत्त्व का अनुसंधान करो, जिसके बल पर यह
ससार चक्र चल रहा है ।

(४६)

आसं च छंदं च विणिं च धीरे ।

आ० २, ८५, उ, ४

टीका—हे धीर ! हे बुद्धिमान् ! भोगों की आकांक्षा को और
भोगों की प्रवृत्ति को छोड़ दो । भोगों से आज दिन तक न तो किसी की

तृप्ति हुई है और न होने की है । भोग तो अग्नि के समान अनन्त तृष्णा मय है और कभी भी शांत होने वाले नहीं है ।

(४७)

३

**पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्त मिच्छसि ।**

आ०, ३, ११८, उ, ३

टीका—हे पुरुषो ! तुम ही तुम्हारे मित्र हो, बाह्य- मित्र की वाछा क्यों करते हो ! यह तुम्हारी आत्मा ही 'खुद' की मित्र भी है और शत्रु भी है । जब यह आत्मा अच्छे कार्य करती है, तो उससे शुभ कर्मों का बंधन पड़ता है, जो कि सुखावह है । और जब बुरे कार्य करती है तो अशुभ कर्मों का बंध पड़ता है जो कि दुःखावह है । अतएव अपनी आत्मा के बराबर दूसरा कोई भी मित्र अथवा शत्रु नहीं है । तदनुसार बाह्य सहायक का अनुसंधान क्यों करते हो ? अपनी आत्मा का ही विचार करो ।

(४८)

**पुरिसा ! अत्तामण मेवं अभिणि गिज्झ,
एवं दुक्खा पमुच्चसि ।**

आ०, ३, ११९, उ, ३

टीका—हे पुरुषो ! अपनी आत्मा को ही विषय-कषाय से हटा कर, धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान में स्थित कर जीवन-व्यवहार चलाओ । इसी से तुम्हारे दुःखों का नाश होगा । बिना आत्मा पर नियंत्रण किये दुःखों का कदापि नाश नहीं होगा ।

(४९)

**वंतं इच्छसि आवेउं,
सेयं ते मरणां भवे ।**

उ०, २२, ४३

टीका—हे आत्मा ! यदि तू जीवित रह कर त्यागे हुए भोगों की पुनः इच्छा करता है, इसकी अपेक्षा तो तुम्हारा मरना ही अधिक हितकर है—अधिक श्रेयस्कर है ।

(५०)

पगल्पा अजिण सत्तु,
कसाया इन्द्रियाणिय ।

उ०, २३, ३८

टीका—वशमें नहीं किया हुआ स्वच्छद आत्मा शत्रु रूप ही है । इसी प्रकार कषाय और नो कषाय तथा स्वच्छद इन्द्रियाँ भी अथवा अन्नियन्त्रित इन्द्रियाँ और विकार ग्रस्त मन भी शत्रु ही है ।

(५१)

सन्वे आभरणा भारा,
सन्वे कामा दुहावहा ।

उ०, १३, १६

टीका—सब प्रकार के आभूषण भार रूप हैं, और सब प्रकार के काम-भोग दुःख के देने वाले हैं । इन से सच्ची शांति या आत्मिक आनन्द मिलना अत्यन्त कठिन है ।

(५२)

खण मित्त सुक्खा वहु काल दुक्खा
पगाम दुक्खा अणिगाम सुक्खा ।

उ०, १४, १३

टीका—सांसारिक भोग, ऐन्द्रिक भोग क्षण मात्र तक ही सुख के देने वाले हैं, जब कि इनके परिणाम अनन्त काल तक दुःख के देने वाले हैं । इनका सुख तो अल्प है, और दुःख अनन्त एवं विस्तृत है ।

(५३)

वरणा जरा हरइ नरस्स ।

उ०, १३, २६

टीका—बुढ़ापा मनुष्य के रूप-सौन्दर्य को हरता रहता है, इसलिये प्रमाद को छोड़ कर धर्म कार्यों में और स्व-पर कल्याणकारी कामों में चित्त को लगाना चाहिये । स्वार्थ के स्थान पर परार्थ ही प्रमुख ध्येय होना चाहिये ।

(५४)

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा ।

उ०, १, ९

टीका—सुशिक्षा यानी हितकारी और शिक्षाप्रद बातों का उपदेश दिये जाने पर क्रोध नहीं करना चाहिये ।

(५५)

वीरे आगमणा सया परक्कमेज्जा ।

आ०, ५, १६९, उ, ६

टीका—जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र के परिपालन में वीर हैं, उसकी वीरता इसी में रही हुई है कि वह आगम-धर्म के अनुसार जीवन में सदैव पराक्रम करता रहे । जीवन के नैतिक-धरातल को अजोड़ बनावे । सेवा और सयम के कामों में आसाधारण पुरुष बने ।

(५६)

निद्वसं नाइवट्टेज्जा मेहावी ।

आ०, ५, १६९, उ, ६

टीका—जो बुद्धिमान् हैं, जो तत्त्व दर्शी हैं, उसका कर्तव्य है कि वह भगवान् महावीर स्वामी द्वारा एव वीतराग भगवान् द्वारा-

कथित उपदेश का अति-क्रमण नहीं करे । भगवान् की आज्ञा का बराबर पालन करे ।

(५७)

पर किरिञ्चं च वज्जपत्तीणी ।

सू०, ४, २१, उ, २

टीका—विशुद्ध चित्त वाला, तथा मर्यादा में स्थित ज्ञानी पुरुष पर-क्रियाओं को यानी दूसरों के लिये भोग-उपभोग की क्रियाओं को जुटाने का कार्य नहीं करे, स्वयं भी विषयासक्त एवं भोगी नहीं बने तथा दूसरों के लिये भी विषय एवं भोग की सामग्री न तो इकट्ठा करे और न स्वयं इनके लिये कारण-भूत बने ।

(५८)

सणो जह वट्ठयं हरे,

एव आउत्तयंमि तुट्ठई ।

सू०, २, २, उ, १

टीका—जैसे श्येन-पक्षी, बाज-पक्षी वर्तक पक्षी को-तीतर आदि पक्षी को झपट कर, पकड़ कर, मार डालता है, वैसे ही मृत्यु भी आयुष्यपूर्ण होते ही प्राणी को पकड़ लेती है और जीवन को समाप्त कर देती है, इसलिये धर्म-क्रियाओं के लिये सावधान हो जाना चाहिये ।

(५९)

इमं चे'म अत्थि इमं च नत्थि,

हराहरंति त्ति कहुं पमाओ ।

उ०, १४, १५,

टीका—यह मेरा है और यह मेरा नहीं है, इस प्रकार मूर्च्छा-भावना में पड़े हुए मनुष्य को एक दिन अचानक रूप से मृत्यु रूपी

घोर उठाकर चले जाते हैं । तो ऐसे सयोगो में प्रमाद को जीवन में कैसे स्थान देना चाहिये ?

(६०)

परिव्रयन्ते अणियत्तकामे,
अहो य राओ परिनप्पमाणे ।

उ०, १४, १४,

टीका—जो काम-भोगो को नहीं छोड़ता है, वह रात और दिन विभिन्न अवस्थाओं में परिताप-दुःख पाता हुआ परिभ्रमण करता रहता है ।

(६१)

अज्जाइं कग्गमाइं करेहि ।

उ०, १३, ३२

टीका—आर्य कर्मों का, सात्त्विक कामो का यानी दया, दान, शील, तप, भावना, क्षमा, सतोष, पर-सेवा आदि अच्छे कामो का ही आचरण करो ।

(६२)

रसगिद्धे न सिया ।

उ०, ८, ११

टीका—रसो में मूढ़ न बनो । इन्द्रियों के भोग-उपभोग के स्वाद में मूर्च्छित न बनो । पुद्गलो के क्षणिक सुख में मूढ़ न बनो ।

(६३)

जीवियए बहुपच्चवायए,
विहुणाहि रयं पुरे कडं ।

उ०, १०, ३

टीका—यह जीवन अनेक विघ्न-वाधाओं से भरा हुआ है, इसलिये पहले किये हुए पापों को, और कर्म रूपी रज को दूर कर दो । पूर्व कृत पापों की शुद्धि कर डालो ।

(६४)

बुद्धे परिनिवृद्धे चरे,
सन्ती मगं च ब्रूह ।

उ०, १०, ३६

टीका—ज्ञान-शाली होकर, गीतार्थ होकर, वासनाओं से और मूर्च्छा से रहित होकर आनन्द पूर्वक विचरो । आत्मा के कल्याण-मार्ग की वृद्धि करो ।

(६५)

जे न वंदे न से कुप्पे,
वंदिओ न समुक्कसे ।

द०, ५, ३२, उ, द्वि

टीका—कोई वदना नहीं करे, आदर-सत्कार नहीं दे, तो भी उस पर क्रोध नहीं करे, तथा, कोई वदना, आदर सत्कार करे, तो मन में अभिमान-घमड नहीं लावे । खुद की निंदा-स्तुति से सम-भाव रहे । क्रोध और अभिमान से दूर रहे ।

(६६)

कुम्मुव्व अल्लीण पलीण गुत्तो ।

द०, ८, ४१

टीका—जैसे कछुआ बड़ी सावधानी के साथ अपनी इन्द्रियों की रक्षा करता है, वैसे ही आत्मा के हित को चाहने वाले को अपनी इन्द्रियों पर और मन पर पूरा संयम और नियंत्रण रखना चाहिये ।

(६७)

हसंतो नाभिगच्छेज्जा ।

द०, ५, १४, उ, प्र

टीका—हसते हुए भी नहीं चलना चाहिये, क्योंकि यह असभ्यता का चिह्न माना जाता है ।

(६८)

दव दवस्स न गच्छेज्जा ।

द०, ५, १४, उ, प्र

टीका—जल्दी जल्दी अविवेक-पूर्वक नहीं चलना चाहिये । क्योंकि इससे हिंसा अथवा ठोकर लगने का भय रहता है ।

(६९)

अकण्णियं न गिण्हिज्जा ।

द०, ५, २७, उ, प्र

टीका—अकल्पनीय और मर्यादा के प्रतिकूल वस्तुओं की नहीं ग्रहण करना चाहिये । मर्यादा-भंग ही पाप है । इससे आसक्ति आदि नाना विकारों के उत्पन्न हो जाने की सभावना रहती है ।

(७०)

कुज्जा साह्हिं संथवं ।

द०, ८, ५३

टीका—साधुओं के साथ, सज्जन और पर-उपकारी महापुरुषों के साथ, सेवा-भावी नर-रत्नों के साथ परिचय करना चाहिये, उनकी संगति करना चाहिये ।

(७१)

अणावाह सुहाभिकेखी
गुरुप्पतायाभिमुहो रमिज्जा ।

द०, ९, १० प्र, उ,

टीका—यदि अव्यावाध यानी नित्य, शश्वत् और बाधा रहित सुख की आकांक्षा है, अथवा मोक्ष की इच्छा है तो गुरु को प्रसन्न रखो, उनकी आज्ञा का पालन करो । गुरु की भावना के विपरीत मत जाओ ।

(७२)

दुर्लभं लहितु सामणं,
कम्मुणा न विराहिज्जासि ।

द०, ४, २९

टीका—जो मुनी-धर्म महान् पुण्य के उदय से प्राप्त हुआ है, और जो ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य मय है, ऐसे उत्कृष्ट मुनि-धर्म को प्राप्त करके मन, वचन और काया के प्रमाद से बुद्धिमान् इसकी विराधना नहीं करे ।

(७३)

अमिंसथं पावविदेग भिक्खू ।

सू०, १४, २४,

टीका—सयमी पुरुष पाप का विवेक रखता हुआ, दुर्गुण और दुष्टता से वचता हुआ, निर्दोष वचन बोले । वाणी सुन्दर, सत्य, प्रिय, हितकारी, मधुर और शांतिमय बोले ।

(७४)

सव्वत्थ विरतिं कुज्जा ।

सू०, ११, ११,

टीका—प्रत्येक स्थान पर, प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक मौके पर, सभी जीवों की रक्षा करनी चाहिये । अनिष्ट कार्यों से विरति रखना चाहिये । अशुभ प्रवृत्तियों से विरक्त रहना चाहिये ।

(७५)

निव्वाणं संधण मुणि ।

सू०, ९, ३६

टीका—आत्मारथी पुरुष काम-भोगों को छोड़ कर केवल निर्वाण की तरफ-पूर्ण अनासक्त जीवन की तरफ ही अपनी शक्ति लगावे, अपना ध्यान लगावे ।

(७६)

समया सव्व भूएसु,
सन्तु मित्तसु वा जणे ।

उ०, १९, २६

टीका—ससार में शत्रु पर और मित्र पर, सभी प्राणियों पर समता बुद्धि रखनी चाहिये । राग द्वेष रहित भावना रखनी चाहिये, मित्र-भावना और हितैषी-भावना रखनी चाहिये ।

(७७)

अहिपात्तए आय तुले पाणेहिं

सू०, २, १२, उ, ३

टीका—विवेकी पुरुष, प्राणी मात्र को अपनी आत्मा के समान ही समझे । किसी को भी कष्ट न दे । प्राणी मात्र की सेवा करे ।

(७८)

अणुसासण मेव पक्कमे ।

सू०, २, ११, उ, १

टीका—शास्त्र में कही हुई रीति के अनुसार ही जीवन-व्यवहार चलाना चाहिये । जीवन में सेवा, सात्विकता, त्याग और सरलता आदि सद्गुणों की ही प्रधानता होनी चाहिये ।

(७९)

छिन्न सोए अममे अकिंचणे ।

उ०, २१, २१,

टीका—आत्मारथी को छिन्न शोक, विगत शोक, ममता-मूर्च्छा रहित, अकिंचन यानी अनासक्त और निष्परिग्रही होना चाहिये ।

(८०)

सुयस्स आराहण्याण अन्नाणां
खवेइ, न य संकिलिस्सइ ।

उ० २९, २४, वा ग

टीका—सूत्र-सिद्धांत की आराधना से, भगवान् जिनेन्द्र देव की वाणी की परिपालना करने से अज्ञान दूर होता है, और उससे आत्मा किसी भी स्थान पर संक्लेश यानी दुःख नहीं पाता है । हर स्थान पर आनंद ही आनंद की प्राप्ति होती है ।

(८१)

रयाइं खेवेज्ज पुराकडाइं ।

उ०, २१, १८

टीका—पूर्व कृत पापों को निरन्तर क्षय करते रहना चाहिये । हमारी प्रवृत्तियाँ निरन्तर सात्त्विक और सेवामय ही होना चाहिये ।

(८२)

अप्पाण रक्खी चरे अप्पमत्तो ।

उ०, ९, १०

टीका—आत्मा की जन्म-मरण से, संसार से रक्षों करने वालों मोक्षाभिलाषी तथा आत्मारथी, अप्रमादी होकर इन्द्रियो और मन को अशुभ-योग से एव कपाय से हटाकर, अपनी वृत्तियों को शुभ-योग और श्रेष्ठ-ध्यान में लगाता हुआ अपना काल-क्षेप करे-समय इस प्रकार बितावे ।

(८३)

निपासवे संख विद्याण कम्मं,
उवेइ ठाणं विउत्तमं धुवं ।

उ०, २०, ५२

टीका—सब प्रकार के आश्रव-कार्यों को दूर कर, कर्मों का पूर्ण रीति से क्षय कर, विस्तीर्ण तथा सर्वोत्तम, और ध्रुव स्थान “मोक्ष” को प्राप्त किया जा सकता है ।

(८४)-

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते ।

उ०, ४, ५

टीका—प्रमादी पुरुष को इस लोक और परलोक में पाप कर्म जनित दुष्फल से धन भी नहीं बचा सकता है, धन भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता है, इसलिये प्रमाद छोड़कर धर्म-ध्यान में अपना समय बिताना चाहिये ।

(८५)

सोयं परिणाय चरिज्ज दंते ।

आ० ३, ८, उ, २

टीका—विषयो में आसक्ति ही संसार का झरना है । ऐसे झरने के स्वरूप को समझ कर और उसे त्याग कर इन्द्रियो और मन का दमन करने वाला सयमी एव वीर पुरुष सयम-मार्ग पर और कर्त्तव्य मार्ग पर ही चलता रहे । कठिनाइयो, उपसर्गों, परिषहो, विकारो और वासनाओ से घबरावे नहीं, चल-विचल होवे नहीं, बल्कि इन पर विजय प्राप्त करता हुआ इष्ट ध्येय की प्राप्ति के लिये दृढता पूर्वक आगे बढ़ता रहे ।

(८६)

पासे समिय दंसणे,
छिन्दे गेहिं सिणोहं च ।

उ०, ६, ४

टीका—सम्यक् दर्शनी, आत्मार्षी, संसार की विषमताओं और विचित्रताओं को देखे, इन पर विचार करे, और मूच्छा तथा मोह को हटावे, आसक्ति को दूर करे ।

(८७)

नो अत्ताणं आसाइज्जा,

नो परं आसाइज्जा ।

आ०, ६, १९२, उ, ४

टीका—विचार-शील पुरुष न तो अपनी आत्मा को चिन्ता, शोक, व्याधि, उपाधि, अव्यवस्था, चचलता और चपलता आदि दुर्गुणों में डाले और न दूसरों की आत्मा को ही इन उपाधियों में डाले । सारांश यह है कि विद्वान् पुरुष न तो स्व को दुःखी करे और न पर को ही दुःखी करे । सभी को शांति पहुंचावे ।

(८८)

सातागार वणिहुए,

उवसंते णिहे चरे ।

सू०, ८, १८

टीका—ज्ञानी आत्मा, मुमुक्षु आत्मा, सुख-भोग की तृष्णा नहीं करता हुआ, एवं क्रोध आदि को छोड़-कर शान्त होता हुआ माया रहित होकर विचरे ।

(८९)

पावाइं मेधावी अज्झप्पेण समाहरे ।

सू०, ८, १६

टीका—बुद्धिमान् पुरुष अपने पापों को धर्म ध्यान की भावना द्वारा और शुभ कार्यों द्वारा अलग हटावे । मायादि में रहने वाला, भले और बुरे का विचार करने वाला पुरुष पाप रूप अनुष्ठानों को धर्म-ध्यान की भावना द्वारा दूर कर दे ।

(९०)

एगन दिट्ठो अपरिगहे उ,

बुज्झिज्ज लायसंस वसं न गच्छे ।

सू०, ५, २४, उ, २

टीका—ज्ञानी पुरुष जीवादि तत्त्वों में सम्यक् श्रद्धा रखता हुआ परिग्रह रहित होकर कषायों का स्वरूप जाने और कभी कषायों के बश में न होवे ।

ज्ञान के साथ अनासक्ति आवश्यक है और अनासक्ति का आधार अकषायत्व है ।

(९१)

अन्तो बहिं विऊस्सिज्ज

अज्झत्थं सुद्ध मेसए ।

आ० ८, २१, उ, ८

टीका—आंतरिक रूप से शुद्ध होकर यात्री क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मोह, मत्सरता आदि आंतरिक दुर्गुणों से दूर होकर, इनसे शुद्धि प्राप्त कर, इसी प्रकार बाह्य रूप से परिग्रह आदि भोग-उपभोग के पदार्थों से रहित होकर, सर्वथा अकिंचन और निष्परिग्रह शील बन कर —आंतरिक और बाह्य रीति से यत्नि होकर आत्मा की शुद्धि की कामना करे । आत्मा को परमात्मा के रूप में विकसित करे । आत्मा के गुणों का अनुसंधान करे । आत्म-शक्तियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करे ।

(९२)

छिदिज्ज सोयं लहु भूय गामी ।

आ०, ३, ७, उ, २

टीका—संसार में जीवन-प्रवाह को चालू करने वाले शोक-संताप को तथा राग-द्वेष-भाव को वह आत्मा छोड़ दे, जो कि मोक्ष में शीघ्र जाने की इच्छा रखता हो । शोक-संताप, आर्त ध्यान, छोड़ने में ही आत्मा का वास्तविक कल्याण रहा हुआ है ।

(९३)

दिदृष्टेहि निर्व्वेयं गाच्छिज्जा ।

आ०, ४, १२८, उ, १

टीका—राग-द्वेष की दृष्टि से, रति-अरति की दृष्टि से, आस-क्ति और तृष्णा की दृष्टि से विरक्त हो जाओ । आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाली भावनाओं से निर्व्वेद-अवस्था ही सम्यक्त्व की भूमिका है, यही त्याग-भावना का मूल आधार है ।

(९४)

अच्चेही अणुसास अपी ।

मू०, २, ७, उ, ३

टीका—विषय-सेवन से अपनी आत्मा को पृथक् करो और उसे शिक्षा दो । धर्म-मार्ग की ओर प्रेरित करो । समय में ही शान्ति है, और असमय में दुःख ही दुःख है, इस पर अपनी दृढ़ विश्वास जमाओ ।



श्रमण-भिक्षु-सूत्र

(१)

महुगार समा बुद्धा ।

द०, १, ५

टीका—आत्मारथी और ज्ञानी महात्मा इस प्रकार जीवन-वृत्ति रखते हैं, जैसे कि मधुकर-भवरा रखता है । मधुकर अनेकानेक पुष्पो पर जाकर मधु-संचय करता है, परन्तु एक भी पुष्प को पीड़ित नहीं करता है । यही वृत्ति ज्ञानी-साधुओं की भी समझनी चाहिये ।

(२)

सम सुह दुक्ख सहे अ जे स भिक्खू ।

द०, १०, ११

टीका—सुख-दुःख दोनों अवस्थाओं में जो समभाव रखता है, राग द्वेष से और हर्ष-शोक से परे रहता है, वही सच्चा साधु है, वही स्व-पर-तारक महापुरुष है ।

(३)

रोइअ नाय पुत्त वयणे,
पंचासव संवरे जे स भिक्खू ।

द०, १०, ५

टीका—ज्ञातपुत्र भगवान महावीर स्वामी के वचनों पर विश्वास लाकर, रुचि लाकर, पांच आश्रवोंको-१ मिथ्यात्व, २ अव्रत, ३ प्रमाद, ४ कपाय और ५ अशुभ योगों को जो रोकता है और निरन्तर सुमार्ग में ही लगा रहता है, वही भिक्षु है-वही महापुरुष है ।

(४)

वंतं नो पढिआयइ जे स भिक्खू ।

उ०, १०, १

टीका—त्याग किये हुए विषयो को, कषायो को, इन्द्रियों के भोगो को जो पुरुष पुनः नहीं ग्रहण करता है, वही दृढचित्त वाला है । वही वास्तव मे भिक्खू या भिक्षु है । वही सच्चा साधु है । वही महा-पुरुष है ।

(५)

जे कम्हि वि न मुच्छिप स भिक्खू ।

उ०, १५, २

टीका—जो पुरुष किसी भी प्रकार की वस्तु में अथवा भोग मे, यश-कामना में या पद लोलुपता मे मूर्च्छित नहीं होता है, आसक्त नहीं होता है, वही भिक्षु है, वही आत्मारथी है और संसार में रहता हुआ भी वही जीवन-मुक्त पुरुष है ।

(६)

मण वय कायसु संवुडे स भिक्खू ।

उ०, १५, १२

टीका—जिसने अपने मत्त, वचन और काया पर भली प्रकार से संयम रूप अंकुश लगा दिया है, जिसने इन्द्रियो और मन पर काबू कर लिया है, वही सच्चा भिक्षु है, वही विदेह महापुरुष है ।

(७)

जिइन्द्रियो सव्वओ विप्पमुक्के,

अणुक्कसाई स भिक्खू ।

उ०, १५, १६

टीका—जो जितेन्द्रिय है, जो सब प्रकार के परिग्रह से, मोह से और ममता से रहित है, जो अल्प कषायी है, वही वास्तविक साधु है, वही उन्मुक्त महापुरुष है ।

(८)

धम्मज्झाणरूपं जे स भिक्खू ।

द०, १०, १९

टीका—भिक्षु को चाहिये कि वह अपने समय-को धर्म-ध्यान, पठन-पाठन, आत्म-चिन्तन, ईश्वर-आराधन, आदि-सत्कार्यों में ही लगाये रखे । यानी जो पुरुष धर्म-ध्यान में ही रत रहता है, वही वास्तव में भिक्षु है ।

(९)

अवभृत्परं सुसमाहिं अप्पा जे स भिक्खू ।

द०, १०, १५

टीका—जो रात और दिन आध्यात्मिक विचारों में ही, दार्शनिक विचारों में ही, आत्मा और परमात्मा के अनुसंधान में ही लगा रहता है तथा अपनी आत्मा को समाधि-युक्त, स्थितप्रज्ञ या निष्काम भावना वाली बनाये रखता है वही भिक्षु है । वही ससार समुद्र के लिये धर्म-जहाज है ।

(१०)

संख संगावगं जे स भिक्खू

द०, १०, १६

टीका—जो संख प्रकार के सग से परिग्रह से दूर है, जो निर्ग्रन्थ है, जो असक्ति से दूर है, जिसमें कोई भी कामना शेष नहीं है, वही भिक्षु है, वही साधु है । वही पुरुष-पुगव है ।

(११)

अणाइले या अकसाइ भिक्खू ।

सू०, १४, २१

टीका—साधु मदैव निर्मल रहे, चित्त को सयमी रखे, चित्त की चंचलता पर काबू रखे और लोभ आदि सभी कषायों से दूर रहे ।

(१२)

सब्वे अण्ठे परिवज्जयंते,
अणाउले या अकसाइ भिक्खू ।

सू०, १३, २२,

टीका—सब प्रकार के अनर्थों से बचता हुआ, सब प्रकार के व्यर्थ के कामों को छोड़ता हुआ, आकुलता रहित होकर और कषाय से रहित होकर भिक्षु-आत्मार्यों पुरुष अपना जीवन शांति-पूर्वक व्यतीत करे । सत्कार्य में ही-सलग्न रहे ।

(१३)

निगंथा धम्म जीविणो ।

द०, ६, ५०

टीका—बाह्य और आभ्यन्तर रूप से परिग्रह से रहित, बाह्य परिग्रह-सम्पत्ति-वैभव और आन्तरिक परिग्रह-कषाय-वासना आदि विकार, इन दोनों से रहित, ऐसे अनासक्त जीवी निर्ग्रन्थो का जीवन और इनका प्रत्येक क्षण, प्रत्येक श्वासोश्वास एवं जीवन-क्रियाएँ संवरमय ही हैं, धर्म युक्त ही हैं ।

(१४)

निगंथा उज्जु दंसिणो ।

द०, ३, ११

टीका—जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित हैं, ऐसे निर्ग्रन्थ ऋजु दर्शी होते हैं । यानी उनके सामने केवल मोक्ष और सयम-मार्ग ही रहता है । निर्ग्रन्थो की वृत्तियाँ-इधर उधर भोगों में भटकने वाली और तृष्णामय नहीं होती हैं ।

(१५)

लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ से हु चाई ।

द०, २, ३

टीका—भोग-उपभोग की वस्तुएँ प्राप्त होने पर भी जो वैराग्य पूर्वक उन्हें छोड़ देता है, वही वास्तविक त्यागी कहलाता है ।

(१६)

गुणेहिं साह्व अगुणेहिं असाह्व ।

द०, ९, ११ तृ, उ,

टीका—गुणों से ही—सेवा, त्याग, कर्मण्यता और इन्द्रिय विजय से ही साधारण पुरुष भी साधु पुरुष या सत्पुरुष बन जाता है । इसी प्रकार दुर्गुणों से ही—स्वार्थ, आलस्य, इन्द्रिय-भोगों में आसक्ति, दुष्ट विचिंतन और विकथा आदि से पुरुष असाधु, नीच या राक्षस बन जाता है ।

(१७)

अहो जिणेहिं असावज्जा,

चित्ती साह्वणं देसिया ।

द०, ५, ९२, उ, प्र

टीका—रागद्वेष को पूर्ण रीति से जीतने वाले अरिहतों ने साधुओं के लिये जीवन-व्यवहार की वृत्ति निर्दोष यानी अन्य किसी को भी किसी भी प्रकार से कष्ट नहीं पहुँचाने वाली बतलाई है । तथा जो सर्व हितकारी हो ऐसी उपादेय और परम प्रसन्नता कारक वृत्ति का ही उन्होंने उपदेश दिया है ।

(१८)

असंभत्तो अमुच्छिओ,

भत्त पाणं गवेसिए ।

द०, ५, १, उ, प्र

टीका—चित्त की व्याकुलता, अव्यवस्थितता, पदार्थों के प्रति आसक्ति आदि मानसिक विकारों का सर्वथा परित्याग कर साधु निर्दोष आहार-पानी की गोचरी करे, मधुकरी करे ।

(१९)

धम्ममारामे चरे भिक्षु ।

उ०, १६, १५

टीका—भिक्षु सदैव धर्म रूपी वगीचे में ही, स्व-पर कल्याणकारी मार्ग में ही विचरता रहे । दान, शील, तप और भावना के सुन्दर उद्यान में ही स्वयं विचरे और दूसरो को भी इसी ओर आकर्षित करता रहे ।

(२०)

दाण भत्ते सणा रया ।

द०, १, ३

टीका —जो वास्तविक साधु है, वे निर्दोष आहार-पानी की हई गवेषणा करते हैं । गाय-वृत्ति के समान अथवा भ्रमर की वृत्ति के समान आहार-पानी की वृत्ति को जीवन में स्थान देते हैं ।

(२१)

वालुया कवले चेव,
निरस्साण उ संजमे ।

उ०, १९, ३८

टीका—सयम पालना, नैतिक और आध्यात्मिक नियमों को पालना रेत के कणों के समान कठोर है, निस्वाद और नीरस है । किन्तु भविष्य में इनका परिणाम हितावह है, और कल्याणकारी है,

(२२)

णो निगंथेविभूसाणुवादी हविज्जा ।

उ०, १६, ग०, ९

टीका—जो निर्ग्रन्थ है, जो ब्रह्मचारी है, जो आत्मारथी है, उसके शरीर की विभूषा, शरीर का शृंगार नहीं करना चाहिये ।

(२३)

अणुक्कसे अप्पलीणो,
मज्झेण मुणि जावण ।

सू०, १, २, ७, ४

टीका—साधु पुरुष, मुमुक्षु पुरुष, किसी भी प्रकार का मद नहीं करता हुआ, विषय-वासना और विकार में नहीं फसता हुआ, मध्यस्थ वृत्ति से यानी तटस्थ-वृत्ति से रहे । अनासक्त-वृत्ति से अपना जीवन व्यतीत करता रहे ।

(२४)

समयाण समणो होइ,
वरम्भचेरेण वम्भणो ।

उ०, २५, ३२

टीका—समभाव रखने वाला ही, राग द्वेष से दूर रहने वाला ही, हर्ष-शोक तथा निंदा-स्तुति से दूर रहने वाला ही श्रमण है—साधु है । और जो ब्रह्मचर्य से युक्त है, वही वास्तव में ब्राह्मण है । आन्तरिक गुणों के अभाव में बाह्य वेग और जाति-कुल कोई अर्थ नहीं रखते हैं ।

(२५)

पुढवि समे मुणी हविज्जा ।

द०, १०, १३

टीका—मुनि की वृत्ति पृथ्वी के समान सहन-शील होनी चाहिये । पृथ्वी पर जैसे सब प्रकार की मान-अपमान वाली क्रियाएँ की जाती हैं, मल-मूत्र आदि फेंका जाता है, तो भी वह समानरूप से सभी को आश्रय देती है उसी प्रकार विविध दुःख, पीड़ा, अपमान, निंदा, तिरस्कार करने वालों के प्रति भी मुनि मित्र भाव का ही व्यवहार करे ।

(२६)

भिक्षू सुसाहुवादी ।

सू०, १३, १३

टीका—सयमी पुरुष का—यांनी मोक्ष-मार्ग के पथिक का यह कर्तव्य है कि वह मधुर-भाषी हो, स्व-पर के लिये कल्याण-कारी भाषा का बोलने वाला हो, अप्रिय, कठोर, मर्म-घाती आदि दुर्गुणों वाली भाषा का वह परित्याग कर दे ।

(२७)

विविक्त वासो मुनिपं पसत्थो ।

उ०, ३२, १६

टीका—विविक्त-वास, अर्थात् एकान्त-निर्जन-वास ही मुनियों के लिये और आत्मार्थियों के लिये प्रशंसनीय है, हितकर है, समाधि-कर है और स्वास्थ्यकर है ।

(२८)

अन्नस्त पाणस्त अणुणिच्छे ।

सू० १३, १७

टीका—स्वादिष्ट आहार-पानी में आसक्त नहीं होना चाहिये । योग्य पदार्थों के प्रति मूर्च्छा भाव नहीं रखना चाहिये । आसक्ति भाव ही अथवा मूर्च्छा भाव ही पतन का सीधा मार्ग है । एक बार पतन का प्रारम्भ होते ही पतन की परम्परा चालू हो जाती है । कहा भी है कि —“विवेक भ्रष्टानाम् भवति विनिपातः शतमुखः ।”

(२९)

चरे मुणी सव्वउ विप्पमुक्के ।

सू०, १८, ९

टीका—सब प्रकार के मानसिक, वाचिक, शारीरिक और पौद्गलिक परिग्रहों से रहित होकर तथा, अनासक्त होकर, इसी प्रकार अनर्थों से रहित होकर, मुनि या आत्मार्थी पुरुष पूर्ण शांति के साथ अपना जीवन काल व्यतीत करे ।

(३०)

उच्चावपसु विसपसु ताई,
निस्संसयं भिक्खु समाहिपत्ते ।

सू०, १०, १३

टीका—नाना प्रकार के विषयो में रागे-द्वेष रहित होकर यानी विषयो से सर्वथा मुह मोडकर, जो अहिंसा का पूरी तरह से पालन करता है, निस्सदेह ऐसा पुरुष-साधु है, वह महात्मा है, और वह स्थायी समाधि को प्राप्त करता है ।

(३१)

चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ।

सू०, १०, ४

टीका—बाहिर और भीतर सभी बंधनों से मुक्त होकर, कषाय से परिमुक्त होकर, योगो से जितेन्द्रिय होकर, पक्षी के समान अनासक्त होकर, मुमुक्षु आत्मा स्वतन्त्र रूप से विचरता रहे । मुक्त-भाव से विहार करता रहे ।

(३२)

सदा जण दंते. निव्वाणं सधण मुणी ।

सू०, ११, २२

टीका—ससार के दुखो से छुटकारा पाने की इच्छा वाला पुरुष सदा प्रयत्नशील रहता हुआ जितेन्द्रिय रहे । सतत् सुकर्मण्यशील रहे । आत्मा के गुणो का विकास करने के लिये जितेन्द्रियता सर्व-प्रथम सीढ़ी है । जितेन्द्रियता के अभाव में आत्मा के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता है ।

(३३)

दुक्करं तारुणे समणत्तणं ।

उ०, १९, ४०

टीका—यौवन अवस्था मे ब्रह्मचर्य पूर्वक साधु-धर्म पालना अत्यन्त कठिन है । साधु-धर्म की पालना के प्रति अत्यन्त जागरूकता की आवश्यकता है ।

(३४)

नातिवेलं हसे मुणी ।

सू०, ९, २९

टीका—साधु मर्यादा को छोड़कर नहीं हँसे । मर्यादा का उल्लंघन करते हुए हँसना साधु और श्रावक दोनों के लिये सभी दृष्टियों से हानिकर है, अवाञ्छनीय है ।

(३५)

अकुसीले सया भिक्षू,
गोव संसगियं भय ।

सू०, ९, २८

टीका—साधु स्वयं कुशील न बनें, विपरीत मार्ग गामी न हो । किन्तु सदैव सच्चारित्र शील होकर वीतराग देव द्वारा कथित अहिंसा-दया-मार्ग पर और सेवा-मार्ग पर ही चलता- रहे । पूर्ण ब्रह्मचारी रहे । कुशील यानी दुराचारियों की सगति भी नहीं करे । सगतिका जीवन पर बहुत बड़ा असर हुआ करता है । अतएव सदैव सुशील पुरुषों की ही सगति करनी चाहिये ।

(३६)

सुद्धे सिया जाए न दूसण्ज्जा ।

सू०, १०, २३

टीका—निर्दोष आहार मिल जाने के बाद साधु आहार के स्वादिष्ट अथवा अस्वादिष्ट होने पर राग-द्वेष करके उसको अशुद्ध नहीं बनावे । भावना द्वारा सदोष न कर दे । यानी स्वादिष्ट आहार के प्रति राग-भाव, मूर्च्छा-भाव नहीं लावे । इसी प्रकार नीरस आहार-

के प्रति द्वेष-भाव या घृणा-भाव नहीं लावे । सर्प-विल प्रवेश-न्याय के समान तटस्थ भाव से आहार-पानीको गले से उतार दे ।

(३७)

विशगरेज्जा समयासुपन्ने ।

सू०, १४, २२

टीका—उत्तम बुद्धि सपन्न साधु धनवान और दरिद्र सबको समान भाव से ही धर्मोपदेश देवे । धर्म कथा कहते समय साधु धनवान के प्रति अधिक ध्यान न दे और गरीब के प्रति कम ध्यान नहीं दे, किन्तु सबके प्रति समान भावना के साथ उपदेश दे ।

(३८)

ण कत्थई भास विहिंसइज्जा ।

सू०, १४, २३

टीका—जो श्रोता उपदेश को ठीक रीति से नहीं समझता है, उसके मनको साधु अनादर के साथ कोई बात कहकर नहीं दुखावे, तथा कोई श्रोता प्रश्न करे, तो उसकी बात की निन्दा भी नहीं करे, व्याख्याता हर समय गंभीरता का, प्रियता का, सौष्ठव का और भाषा सौम्य का ध्यान रखे ।

(३९)

णो तुच्छण णो य विक्कंशइज्जा ।

सू०, १४, २१

टीका—ज्ञानी पुरुष पूजा-सत्कार को पाकर मान नहीं करे तथा अपनी प्रशंसा भी नहीं करे । आत्मश्लाघा से दूर रहे । पूजा-सत्कार भी एक प्रकार का अनुकूल परिपह है । महा कल्याण के पथिक को इस पर भी विजय प्राप्त करना चाहिये ।

(४०)

निदं च भिक्खू न पमाय कुज्जा ।

सू०, १४, ६

टीका—अनन्त शांति का इच्छुक भिक्षु अत्यधिक निद्रा और प्रमाद का सेवन नहीं करे, बल्कि ग्रास्त्र में निर्दिष्ट निद्रा से ज्यादा निद्रा नहीं लेवे ।

(४१)

अलोल भिक्षु न रस्तेषु गिज्जे ।

द०, १०, १७

टीका—साधु-मर्यादा ग्रहण करके भिक्षु-इन्द्रिय लोलुपता न रखे, इन्द्रियो के रसों में गृद्ध न बने । भोगी और इन्द्रिय-लम्पट न हो । किन्तु रुखे-सूखे, नीरस और निस्वाद भोजन में ही सतोष रखे ।

(४२)

सामुण्णं दुच्चर ।

उ०, १९, २५

टीका—श्रमण-धर्म का पालना, साधु-वृत्ति का पालना, पाचो महाव्रतों की निर्दोष रूप से परिपालना करना अत्यन्त कठिन है, तलवार की धार पर चलने के समान है । बलहीन आत्मा इस प्रशस्त और कल्याणकारी मार्ग पर नहीं चल सकता है ।

(४३)

मुणीणं मज्जे ।

सू०, २, २, उ, २

टीका—सच्चा मुनि-महात्मा वही है, जो कि अहकार नहीं करता है, अभिमान नहीं करता है, बल्कि विनय, नम्रता, सरलता को ही जीवन का आधार बनाता है ।

(४४)

निग्गमो निरहंकारो,
चरे भिक्षु जिणाहियं ।

सू०, ९, ६

टीका—भिक्षु ममता रहित हो, आसक्ति रहित हो, अभिमान

रहित हो, यानी विनय शील हो, ऐसे गुणों से युक्त होकर जिनेन्द्र-
भगवान द्वारा कथित धर्म में शांति पूर्वक जीवन व्यतीत करता
रहे ।

(४५)

चिच्चाणा गांतं सोयं,
निरवेक्खो परिव्वण ।

सू०, ९, ७

टीका—आंतरिक शोक को, ताप को, आसक्ति को त्याग कर
निरपेक्ष होकर, तृष्णा रहित होकर, मुमुक्षु या परमार्थी पुरुष अपना
जीवन-काल व्यतीत करता रहे । सेवा की साधना में सलग्न रहे ।

(४६)

जो धोवती लूसयती व वत्थं,
अहाहु से णाग गियस्स दूरे ।

सू०, ७, २१

टीका—जो मुनि होकर, त्यागी होकर, श्रृंगार- भावना से
वस्त्र को धोता है, अथवा शोभा की दृष्टि से बड़े वस्त्र को छोटा
करता है, या छोटे को बड़ा करता है तो वह समय से दूर है,
ऐसा तीर्थंकरों ने तथा गणधरों ने कहा है ।

(४७)

अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा ।

सू०, ७, २८

टीका—मुनि का यही धर्म है कि वह प्राणियों को अभय देने
चाला हो, तथा विषय-कषाय से रहित हो । स्वस्थ चित्त वाला
होकर अच्छी रीति से समय की परिपालना करे ।

(४८)

भारस्स जात्ता मुणि भुज्जपज्जा ।

सू०, ७, २९

टीका—मुनि अथवा निस्पृह त्यागी स्वाद के लिये और शरीर को बलिष्ठ बनाने की भावना से भोजन नहीं करे, बल्कि सयमरूपी यात्रा के लिये और पांच महाव्रत की रक्षा के लिये अनासक्त होकर भोजन करे ।

(४९)

दुःखेण पुढे धुय माइयज्जा ।

सू०, ७, २९

टीका—दुःख का स्पर्श होने पर, कठिनाइयों के आने पर, परि-
पहों और उपसर्गों के उपस्थित होने पर, साधु विचलित न हो,
परन्तु दृढता के साथ, सयम पर स्थित रहे और मोक्ष का ही ध्यान
रखें ।

(५०)

अणगारे पच्चक्खाय पावण ।

सू०, ८, १४

टीका—साधु या त्यागी महात्मा, पाप कर्मों का-अशुभ मानसिक,
चांचिक और कायिक कर्मों का त्याग करके, भोगों को और कषायों
को दूर करके निर्मल आत्मा वाला होवे । कषाय यानी क्रोध, मान, माया
और लोभ का परित्याग करने पर ही मुनि धर्म और त्याग-अवस्था
कायम रह सकती है ।

(५१)

भिक्षवत्ती सुहावहा ।

उ०, ३५, १५

टीका—मानव-जीवन प्राप्त करके, सभी सासारिक सम्बन्धों को
त्याग करके, निश्चितता पूर्वक भिक्षा वृत्ति से जीवन चलाना वास्तव
में महान् आनन्द दायक है । अनासक्ति के साथ जीवन-व्यवहार को
चलाने के लिये भिक्षा वृत्ति निस्संदेह सुख को लाने वाली है ।

(५२)

अणगार चरित्त धम्मे दुविहे,
सराग सजमे चेव, वीयरग संजमे चेव ।

ठाणा, २, रा, ठा, उ, १, २५

टीका—अणगार चारित्र अथवा साधु धर्म भी दो प्रकार का है—१ सराग सयम और २-वीतराग सयम ।

सराग सयम में शरीर, धार्मिक-उपकरण, यश कीर्ति, सन्मान आदि के प्रति ममत्व-भाव रहता है, जब कि वीतराग सयम में ममता, आसक्ति आदि का सर्वथा लोप हो जाता है ।

(५३)

मुणी मोर्ण समायाय,
धुणे कम्म सरीरग ।

आ०, २, १००, उ, ६

टीका—आत्मारथी मुनि-मौन को ग्रहण कर, अपनी वृत्तियों को नियंत्रित कर, सात्त्विक-मार्ग पर उन्हें संयोजित कर, अपने पूर्व संचित कर्मों का और, मानसिक अशुभ संस्कारों का, तथा अनिष्ट वासनाओं का क्षय करता रहता है । अथवा इन्हें क्षय करे ।

(५४)

चत्तारि आयरियां, आमलगं महुरफल समाणे,
मुदियामहुर फल समाणे खीर महुर फल समाणे,
खंड महुरफल समाणे ।

ठाणा०, ४ अ, ठा०, उ, ३, १३

टीका—आचार्य चार प्रकार के होते हैं—१-आवले के रस के समान शब्द-प्रयोग में उपालभ आदि रूप खटास-मिटास-पद्धति का प्रयोग

करते हुए हित शिक्षा देने वाले गुरु । २ द्राक्ष के समान अधिक मधुर वचनों का प्रयोग करते हुए और उपालम्भ रूप शब्दों का अति सूक्ष्म ही प्रयोग करने वाले शिक्षा-दाता गुरु-देव दूसरे प्रकार के आचार्य हैं । ३ क्षीर के समान अति मधुर शब्दों का प्रयोग करके हित-शिक्षा देने वाले गुरु तीसरे प्रकार के हैं । ४ शक्कर के समान सर्वथा मधुर-मधुर शब्दों का प्रयोग करते हुए ही हित-शिक्षा देने वाले आचार्य चौथे प्रकार के गुरु देव हैं ।



महापुरुष-सूत्र

(१)

सद्बुद्धी आणाए मेधावी ।

आ०, ३, १२५, उ, ४

टीका—जो भगवान की आज्ञा में—वीतराग के आदेश में विश्वास करता है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रति आस्था रखता है, वही मेधावी है । वही तत्त्वदर्शी महापुरुष है ।

(२)

विणियद्वन्ति भोगेषु,

जहा से पुरिस्तुत्तमो ।

द०, २, ११

टीका—जो भोगों से दूर रहते हैं, वे ही वास्तव में पुरुषोत्तम हैं । वे ही श्रेष्ठ और महापुरुष हैं ।

(३)

पंडित्या पवियक्खणा,

विणियद्वन्ति भोगेषु ।

उ०, ९, ६२

टीका—पंडित तथा विचक्षणपुरुष यानी प्रतिभा संपन्न महापुरुष भोगों से निवृत्ति लेते हैं । वे भोगों में कभी भी नहीं फसते हैं ।

(४)

बुद्धो भोगे परिरुच्चयई ।

उ०, ९, ३

टीका—बुद्धिमान् पुरुष, विवेकी पुरुष ही भोगों को छोड़ता है ।

मूर्ख तो भोगों में फस जाता है और अत में जाल में फसी हुई मछली के समान दुःख पाता है ।

(५)

मेधाविणो लोभ मयावतीता ।

सू०, १२, १५

टीका—बुद्धिमान् पुरुष लोभ से दूर रहते हैं । ज्ञानी तृष्णा के जाल में नहीं फसते हैं । और इस प्रकार अपनी वीतराग भावना की वृद्धि करते रहते हैं ।

(६)

अंताणि धीरा सेवन्ति,

तेषां अंतकरा इह ।

सू०, १५, १५

टीका—महापुरुष विषय और कषाय का अन्त कर देते हैं, इसलिये वे ससार का भी अंत कर देते हैं, जहाँ विषय और कषाय है, वही ससार है; और जहाँ ये नहीं हैं, वही अमर शान्ति है ।

(७)

से ह्य चकवू मणुस्साणां,

जे कंखाए य अंतए ।

सू०, १५, १४

टीका—जिस पुरुष को भोग की तृष्णा नहीं है, वही पुरुष सब मनुष्यों को नेत्र के समान उत्तम मार्ग दिखाने वाला है ।

(८)

जिह्मिणं जो सहइ, स पुज्जो ।

द०, १, ८; तृ, ३,

टीका—जितेन्द्रिय होकर, स्थित प्रज्ञ होकर, कर्म योगी होकर जो दूसरों के द्वारा बोले हुए दुष्ट और अनिष्ट व्रतनों को भी अकारण सहता है, तथा सत्कार्य में मग्न रहता है, वही पूजनीय है ।

(९)

चउक्कसायावगण स पुज्जो ।

द०, ९, १४, तृ, उ,

टीका—जो पुरुष चारो कषायो से—क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित है, वही कर्म योगी है । और वही पुरुष पूजनीय है ।

(१०)

संतोस पाहन्न रण स पुज्जो ।

द०, ९, ५ तृ, उ

टीका—जो उपलब्ध यानी प्राप्त सामग्री में ही संतोष कर लेता है, और इच्छा तृष्णा को नहीं बढ़ाता है, पर-धन को धूल के समान और पर-वनिता को माता-वहिन के समान समझता है, वही पूजनीय है ।

(११)

अणासण जो उ सहिज्ज, कंटण स पुज्जो ।

द०, ९, ६, तृ, उ,

टीका—विना किसी आशा-तृष्णा के, एवं निष्काम भाव से जो संकट सहता रहता है, और स्व-पर-कल्याण में रत रहता है, वही पूजनीय है ।

(१२)

जो राग दोसेहिं समो स पुज्जो ।

द०, ९, ११, तृ, उ,

टीका—जो पुरुष निन्दा स्तुति में, मान-अपमान में, इष्ट-अनिष्ट के संयोग-वियोग में समान भावना रखता है, तथा हर्ष शोक से दूर रहता है, वही पूजनीय है ।

(१३)

गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ।

६०, ९, २, त, उ,

टीका—जो अपने गुरु की यानी अपनी से ज्ञान-वृद्ध की, आयु वृद्ध की, चारित्र्य वृद्ध की, गुण वृद्ध की आशातना नहीं करता है, अविनय नहीं करता है, अभक्ति नहीं करता है, दुर्भावना नहीं करता है । वही पूज्य है-वही आदर्श है ।

(१४)

सूरा वृद्ध परक्कमा ।

७०, १८, ५२

टीका—जो शूरवीर होते हैं, जो प्रबल पुरुष होते हैं, वे ही धर्म मार्ग में और सेवा मार्ग में वृद्ध तथा पराक्रम शील और पुरुषार्थी होते हैं ।

(१५)

परिसह रीऊ दंता धूअ मोहा जिइंदिया ।

८०, ३, १३

टीका—जो परिषह-उपसर्ग रूपी शत्रुओं को जीतने वाले हैं, मोह रूपी पर्वत को भेदने वाले हैं और इन्द्रिय रूपी घोड़ों को वश में करने वाले हैं, वे ही महर्षि हैं ।

(१६)

संजया सुसमाहिया ।

९०, ३, १२

टीका—जो वास्तव में सयमी हैं, वे सदैव इन्द्रियो और मन को ज्ञान-ध्यान और समाधि में ही लगाये रखते हैं ।

(१७)

अवि अप्पणो वि देहंमि,

नायरंति भमाइयं ।

१०, ६, २२

टीका—विवेकी पुरुष, सज्जन पुरुष-धन, वैभव, पुत्र, पत्नी, परिवार, मकान, मोटर, परिग्रह, यश. कीर्ति, सुख और सन्मान में मूर्च्छा, ममता या आसक्ति नहीं रखते हैं, यह तो ठीक है, परन्तु अपने शरीर तक में भी ममत्व-भाव, आसक्ति-भाव नहीं रखते हैं । ऐसे महापुरुष हमारे लिये आदर्श हैं ।

(१८)

खवंति अण्पाण ममोह दंसिणो ।

द०, ६, ६८

टीका—मोह रहित यानी अनासक्ति के साथ साँसारिक दशाओं को और विपमता को देखने वाले, तत्त्व और अतत्त्व पर विचार करने वाले, प्रकृति के मूल रहस्य का चिंतन करने वाले, ऐसे तत्त्व दर्शी अपने पूर्व जन्मों में सचित सभी कर्मों का क्षय इस प्रकार कर देते हैं जैसे कि आग घास का कर देती है ।

(१९)

महप्पसाया इस्सिणो हवन्ति ।

उ०, १२, ३१

टीका—ऋषिगण और स्व-पर की कल्याण कारी भावना वाले मुनिगण सदा ही प्रसन्न चित्त और निर्लिप्त चित्त वाले होते हैं । ये महात्मा निन्दा और स्तुति, मान और अपमान, पूजा और तिरस्कार, सभी अनुकूल और प्रतिकूल सयोगों के प्रति सप्रभावशील रहते हैं । ये हर्ष-शोक से अतीत होते हैं । ये राग द्वेष से रहित होते हैं ।

(२०)

हिरिमं पडिसंलोणे सुविणीए ।

उ०, ११, १३,

टीका—जो लज्जा वाला है, जो मर्यादा पूर्वक जीवन-व्यवहार को चलाने वाला है, जो इन्द्रियो को वश में करने वाला है, जो भोगों

के प्रति आसक्ति नहीं रखने वाला है, ऐसा पुरुष ही विनीत है, मोक्ष का अधिकारी है ।

(२१)

पियं न विज्जई किंचि,
अपियं पि न विज्जई ।

उ०, ९, १५

टीका—सात्विक विचारो वाले पुरुष के लिये न कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय । उसकी दृष्टि में तो सभी समान हैं । किसी पर भी उसका राग अथवा द्वेष नहीं है, चाहे कोई उसकी निन्दा करे या स्तुति करे ।

(२२)

किरियं चरो अण धीरो ।

उ०, १८, ३३

टीका—धीर पुरुष, आत्मारथी पुरुष, इन्द्रियो का दमन करने वाला पुरुष सत् क्रिया में रुचि रखे, नैतिक और धार्मिक क्रियाओं के प्रति आस्तिकता रखे । चरित्र के प्रति दृढ़ श्रद्धावान् हो ।

(२३)

धोरेय सीला तवसा उदारा,
धीरा हु भिक्षारियं चरन्ति ।

उ०, १४, ३५

टीका—तप-प्रधान जीवन वाले तपस्वी और धर्म धुरन्धर धीर पुरुष ही भिक्षा-चर्या और मुनिवृत्ति का अथवा मोक्ष मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं । निर्बल पुरुषों में, इन्द्रियो के दास पुरुषों में यह शक्ति नहीं हो सकती है ।

(२४)

धीरा बंध गुम्मुक्का ।

सू०, ३, १५ उ, ४

टीका—धीर पुरुष अर्थात् कठिनाइयाँ आने पर भी कर्तव्य-मार्ग से पतित नहीं होने वाले महापुरुष—बंधनों से मुक्त हो जाते हैं । वे ससार से शीघ्रही पार होकर मुक्त हो जाते हैं ।

(२५)

सर्व्वेसु काम जायसु,
पासमाणो न लिप्पई ताई ।

उ०, ८, ४

टीका—आत्मार्थी पुरुष ससार के दुःखों को देखता हुआ और संसार की विषमताओं का विचार करता हुआ काम भोगों में लिप्त नहीं होता है । वह विषयों में मूर्च्छित नहीं होता है ।

(२६)

भुजमाणो यमेक्षावी,
कम्मणा नोवलिप्पइ ।

सू०, १, २८, उ, २

टीका—जिसके अन्तःकरण में राग-द्वेष नहीं है, जो अनासक्त है, जो निर्ममत्व शील है, ऐसा ज्ञानी आत्मा शरीर-निर्वाह के लिये विविध रीति से आहार करता हुआ एवं जीवन-व्यवहार चलाता हुआ भी कर्मों से लिप्त नहीं होता है । वह संसार में अधिक जन्म-मरण नहीं करता है ।

(२७)

मोहावी अण्णणो गिद्धि मुद्धरे ।

सू०, ८, १३

टीका—बुद्धिमान् पुरुष और आत्मार्थी पुरुष अपनी ममत्व बुद्धि को, अपने आसक्ति-भाव को हटादे, इन्हें खत्म कर दे और निर्ममत्व होकर, अनासक्त होकर विचरे । यही कल्याण-मार्ग है । यही महा-पुरुषों का पथ है ।

(२८)

पत्योवरण मेधावी सत्त्वं,

पावं कम्मं शोसइ ।

आ०, ३, ११३, उ, २-

टीका—जो मेधावी पुरुष, जो तत्त्वदर्शी पुरुष भगवान् के वचनो पर स्थित है, भगवान् के वचनो पर श्रद्धा शील है और धर्म-मार्ग पर आरुढ़ है, ऐसा पुरुष अपने सभी पाप-कर्मों का क्षय कर डालता है ।

(२९)

न या वि पूयं गरहं च संजय ।

उ०, २१, १५

टीका—सयमी पुरुष और आत्म-कल्याणी पुरुष, अपनी निंदा-स्तुति, तिरस्कार अथवा पूजा की तरफ चित्त वृत्ति को चंचल नहीं करे । सम तोल चित्त-वृत्ति ही समाधि का प्रमुख लक्षण है ।

(३०)

मेरुत्थ वाएण अकम्पमाणो,

परीसहे आयुत्ते सहिज्जा ।

उ०, २१, १९

टीका—सयम निष्ठ और आत्मार्थी पुरुष सदैव कलुष के समान इन्द्रियो को गोप कर, वायु के वेग से कम्पायमान नहीं होने वाले मेरु पर्वत की तरह दृढ़ रह कर कल्याण-मार्ग में आने वाले परिषहों को-उपसर्गों को और कठिनाइयों को सहन करता रहे ।

(३१)

अणुन्नय नावणय महेसी ।

उ०, २१, २०

टीका—महर्षि और महात्मा पुरुष, न तो हर्ष से अभिमानी हो

और न दुःख से दीन हो । दीनता और हीनता से आत्मार्थी सदैव दूर रहे ।

(३२)

सञ्जानी धंसयइं सियं रय,
एवं कम्मं खवइ तवस्सिमाहणे ।

सू०, २, १५, उ, १

टीका—जैसे पक्षिणी अपने गरीर में लगी हुई धूल को गिरा देती है, उसे झाड़ देती है, उसी तरह से तपस्वी महात्मा भी अपने पूर्व-कृत कर्मों को अपने सत्कार्यों द्वारा झाड़ देते हैं, उन्हें अलग कर देते हैं ।

(३३) -

चिञ्चा वित्त च णायओ,
आरंभं च सुसंबुडे चरे ।

सू० २, २२, उ, १

टीका—आत्मार्थी के लिये यही सुन्दर मार्ग है कि धन, ज्ञाति-वर्ग, माता-पिता आदि को और आरंभ-परिग्रह को छोड़ कर उत्तम सयमी बन कर जीवन-व्यवहार चलावे ।

(३४) -

पूयणा पिट्ठतो कता,
ते ठिया सुसमाहिय ।

सू०, ३, १७, उ, ४

टीका—जिन्होंने स्व-पूजा, अपनी यश. कीर्ति, सन्मान आदि की इच्छा का त्याग कर दिया है, वे ही सुसमाधि में स्थित हैं । ऐसे ही पुरुषों की इन्द्रियाँ और मन उनके वश में हैं ।

(३५)

सुव्वते समिते चरे ।

सू०, ३, १९, उ, ४

टीका—उत्तम व्रतो वाला, कर्तव्य-निष्ठ और इन्द्रियों को वश में रखने वाला पुरुष ही समितियों का और विवेक पूर्वक जीवन-व्यवहार का, सम्यक् प्रकार से परिपालन कर सकता है ।

(३६)

जे णिव्वुया पावेहिं कैम्महिं
अणियाणा ते वियाहिया ।

आ०, ८, १९७, उ, १

टीका—जिन धर्मात्मा पुरुषों ने पाप-कर्म की, अनिष्ट प्रवृत्तियों की, अनैतिक-कामों की निवृत्ति कर ली है, जो सदैव दान, शील, तप और भावना रूप सयम में ही संलग्न है, वे अनिदान-यानी अपनी धर्म क्रियाओं का मुह मागा फल नहीं चाहने वाले कहे गये हैं । वे जल्य-रहित यानी निर्दोष और पवित्र आत्मा वाले कहे गये हैं । उनकी गणना महापुरुषों में की गई है ।

(३७)

णीवारे व ण लीपज्जा,
छिन्न सोण अणाविले ।

सू०, १५, १२

टीका—सुअर आदि प्राणी को आकर्षित करके मृत्यु के स्थान पर पहुँचाने वाले चावल के दाने के समान स्त्री प्रसंग हैं । अतः स्त्री प्रसंग से दूर रहने में ही जीवन की सार्थकता है । इसी प्रकार विषय-भोग में इन्द्रियों की प्रवृत्ति करना ही संसार में आने के द्वार है, इसलिये जिसने विषय-भोग रूप आश्रय द्वार को छेदन कर डाला है, वही राग द्वेष रूप मल से रहित है—वही महापुरुष है ।

(३८)

सव्व धम्माणु वत्तिणो
देवेषु उववज्जई ।

उ०, ७, २९

टीका—धर्म क्रियाओ का यानी दया, क्षमा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्म-चर्य, सतोष, अनासक्ति, इन्द्रिय-दमन, कषाय-विजय आदि का आचरण करने वाला देव गति मे या उच्च गति मे उत्पन्न होता है ।

(३९)

जे य बन्ध पमुक्ख मन्नेसी
कुसले पुणो नो बद्धे नो मुक्के ।

आ०, २, १०३, उ, ६

टीका—जो प्रशान्त आत्मा, बन्ध और मोक्ष के कारणो का अन्वेषण करने वाली है, यानी जो वीतराग भावना के साथ निर्जरा करती हुई आत्म-विकास कर रही है, वह नवोन बध नहीं करती है और वर्तमान मे मुक्त नहीं होने पर भी शीघ्र ही मुक्त हो जाने वाली है ।

(४०)

बहुं पि ऋणुसासिप जे तहच्चा,
समे हु से होइ अझंभपत्ते ।

सू०, १३, ७

टीका—भूल होने पर गुरुजनो द्वारा उपालभ आदि के रूप में शासन करने पर जो पुरुष अपनी चित्त-वृत्ति को शुद्ध और निर्मल रखता है, यानी क्रोध नहीं करता हुआ भूल स्वीकार कर पुनः कर्तव्य-मार्ग मे आरूढ हो जाता है, ऐसा पुरुष ही आध्यात्मिक गुणो को, समता और शांति आदि गुणो को प्राप्त करने का अधिकारी है, ऐसा पुरुष ही शुद्ध अन्तःकरण वाला होने से भव्य आत्मा है ।

(४१)

विभज्ज वायं च वियागरेज्जा ।

सू०, १४, २२

टीका—पंडित पुरुष स्याद्वाद-मय भाषा बोले, एकान्त आग्रह-पूर्ण और निश्चयात्मक भाषा नहीं बोले । स्याद्वाद युक्त भाषा लोक-व्यवहार से मिलती हुई और सर्वव्यापी भाषा है । यह निर्दोष भी

है और अक्लेशकर भी है, इसलिये ज्ञानी को स्याद्वाद मय भाषा ही बोलना चाहिये ।

(४२)

कहं धीरो अहे अहिं,
उन्मत्तो व महिं चरे ।

उ०, १८, ५२

टीका—धैर्य शाली और विचार शील महापुरुष घर गृहस्थी का, परिग्रह का, सुख का और वैभव का त्याग क्या बिना कारण ही और क्या बिना विचारे ही करते हैं ? पृथ्वी पर उन्मत्त की तरह क्या बिना कारण ही घूमते रहते हैं ? नहीं, उनके विचारों के पीछे ठोस आत्म बल, नैतिक पृष्ठ भूमि और आध्यात्मिक विमल विचारों का आधार होता है । इसलिए साधारण पुरुषों को उनका अनुकरण निश्चक होकर करना चाहिए ।

(४३)

विगय संगामो भवाओ परिमुच्चय ।

उ०, ९, २२

टीका—जिस आत्मार्थ कर्मों और विकारों के साथ संग्राम कर, उन पर विजय प्राप्त कर ली है, यानी अब ससार में जिस आत्मा का किसी के भी साथ कषाय-रूप संग्राम नहीं रहा है, जो आत्मा विगत कषाये हो गई है, वह ससार-बधन से शीघ्र ही छूट जाती है ।

(४४)

आयगुत्ते संयादंते,
छिन्नसोप अणासवे ।

सू०, ११, २४

टीका—अपनी आत्मा को पाप से वचाने वाला, सदा जितेन्द्रिय होकर रहने वाला, ससार की मिथ्यात्व पूर्ण शोक आदि धारा को तोड़ने वाला तथा आश्रय रहित, ऐसा सत्पुरुष ही ससार का सन्मार्ग दर्शक है। वही स्व और पर के कल्याण का उत्कृष्ट साधक है।

(४५)

पतं लूहं सेवंति वीरा समत्त दंसिणो ।

आ०, २, १००, उ, ६

टीका—सम्यक्त्व दर्शी आत्माएँ ही-यानी राग द्वेष रहित वीर आत्माएँ ही काम-वासनाओं और विकारों पर विजय प्राप्त करने के लिये नीरस तथा स्वाद रहित आहार करती हैं, वे सूखा सूखा आहार करके आत्म बल और चारित्र्य बल का विकास करती हैं तथा ज्ञान बल से सभी प्रकार की काम-वासनाओं को खत्म कर देती हैं।

(४६)

जे गग्गिया सणियाणप्पओगा,
ण ताणि सेवंति सुधीर धम्मा ।

सू०, १३, १९

टीका—जो काम निन्दनीय है, अथवा जो सत् क्रियाएँ फल-विशेष की प्राप्ति की दृष्टि से की जाती हैं, उनको ज्ञानी-पुरुष न तो स्वयं करते हैं, और न करते हुए को अच्छा ही समझते हैं। सज्जन पुरुष तो अनासक्त भाव से और सात्त्विक-रीति से अपना जीवन-व्यवहार चलाते हैं और इसी में स्व-पर-का कल्याण समझते हैं।

(४७)

नारइं सहई वीरे,
वीरे न सहई रतिं ।

आ०, २, ९९, उ, ६

टीका—जो अपनी आत्मा को भोगो से और कपायो से हटाता है, उसे ही वीर महापुरुष कहते हैं। ऐसा वीर महापुरुष न तो रति यानी आसक्ति करता है और न भोगो की तरफ जरा भी आकर्षित होता है। इसलिये ऐसे वीर-पुरुषों में “राग” का धीरे धीरे अभाव हो जाता है। इसी प्रकार किसी भी वस्तु के प्रति उनकी घृणा नहीं होती है, इस कारण से उनकी भावना तटस्थ हो जाती है, इसलिये उन में “द्वेष” का भी धीरे धीरे अभाव हो जाता है, तदनुसार वीर-आत्माएँ “वीतराग” बनती चली जाती हैं। इस तरह पूर्ण विकास की ओर प्रगति करती जाती हैं।

(४८)

जे अण्णन्न दंसी से अण्णारामे,
जे अण्णारामे से अण्णन्न दंसी ।

आ०, २, १०२, उ, ६

टीका—जो आत्माएं अनन्य दर्शी हैं, यानी अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अनासक्ति आदि आदर्श सात्त्विक मार्ग का ही अवलम्बन लेने वाली हैं और जीवन में विपरीत बातों को स्थान नहीं देती हैं, वे निश्चय ही मोक्ष-गामी हैं। और जो मोक्ष गामी हैं, वे उच्च आदर्शों वाली ही हैं। तात्पर्य यह है कि जो अनन्य दर्शी हैं वह अनन्य आराम वाला यानी मोक्ष वाला है, और जो अनन्य आराम वाला है, वह अनन्य दर्शी है।

(४९)

चत्तारि समाणो वासगा,
अद्वागसमाणे, पद्वागसमाणे,
खाणुसमाणो, खर कंट समाणो ।

ठाणा०, ४ था, ठा, उ, ३, २०

(४)

आणाय अभि समेच्चा अकुओभयं ।

आ०, १, २२, उ, ३

टीका—जैसा वीतराग देव ने फरमाया है, उसी के अनुसार जो जानता है, जो श्रद्धा करता है, तदनुसार जो आचरण करता है, तदनुसार जो प्ररूपणा करता है, उसको संसार का भय कैसे हो सकता है ? उसको संसार का मिथ्या-मोह कैसे आकर्षित कर सकता है ? वह पुरुष कैसे कर्तव्य-मार्ग से विचलित होकर भोगों में फंस सकता है ?

(५)

सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं ।

आ०, ३, १२४, उ, ४

टीका—जो प्रमादी नहीं है, यानी जो विषय-विकार, वासना, कृष्णा आदि में फंसा हुआ नहीं है, उसको किसी भी तरह से भय, चिन्ता, अशांति, दुःख आदि नहीं उत्पन्न होते हैं । अप्रमादी को किसी भी ओर से भय नहीं है ।

(६)

आवड्ढ सोए-संग मभिजाणइ ।

आ०, ३, १०८, उ, १

टीका—जो सम्यक् दर्शी है, वह आवर्त्त यानी जन्म, जरा, मरण आदि रूप संसार को और श्रुति रूप शब्द आदि को तथा काम-गुण रूप विषय की इच्छा को-इन दोनों के सम्बन्ध को भली-भांति जानता है । और ऐसा जानने वाला ही संसार के चक्र से तथा काम-गुणों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

(७)

जिण भक्खरो कस्सिइ
उज्जोयं सव्व लोणम्मि पाणिणं ।

उ०, २३, ७८

टीका—जिनदेव अर्थात् अरिहंत-रूप सूर्य, संपूर्ण ससार में मोहाघकार से आच्छादित जीवों के लिये ज्ञान और चारित्र के प्रकाश को प्रकट करते हैं, इसी प्रकार भविष्य में भी अनन्त अरिहत होंगे, जो कि इसी रीति से ज्ञान और चारित्र का प्रकाश करते रहेंगे ।

(८)

मुहादाई मुहाजीवि दो वि गच्छति सुगगं ।

द०, ५, १००, उ, प्र

टीका—नि स्वार्थ भाव से लेने वाले, और निःस्वार्थ भाव से ही देने वाले, दोनों ही सुगति को प्राप्त होते हैं । निःस्वार्थ सेवा ही आदर्श व्रत है । निःस्वार्थ सेवा में किसी भी प्रकार की आशा नहीं होती है, कोई आसक्ति या वासना अथवा विकार नहीं होता है । इसीलिये यह उच्च भावना धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान रूप होती है ।

(९)

से थं खु मेयं ण पमाय कुज्जा ।

सू०, १४, ९

टीका—“इसमें मेरा ही कल्याण है” ऐसा सोच-विचार कर, आत्मार्थी प्रमाद का सेवन नहीं करे । जो प्रमाद या आलस्य नहीं करेगा, उसी को लाभ होगा । अतएव प्रमाद के स्थान पर कर्मण्यता को ही जीवन में स्थान देना चाहिये ।

(१०)

**चरिस्त संपन्नयाप,
सेलेसी भावं जणयइ ।**

उ०, २९, ६१वां ग,

टीका—चारित्र-संपन्नता से जीवन में निर्मल गुण पैदा होते हैं । सात्विक वृत्ति से कर्मण्यता आती है । इस प्रकार शैलेसी भाव उत्पन्न

टीका— श्रावको की चार श्रेणियाँ और भी इस प्रकार हैं :—

(१) जैसा साधुजी कहते हैं, वैसी ही श्रद्धा रखने वाला श्रावक-दर्पण में पड़ने वाले प्रतिविम्ब के समान-आदर्श श्रावक है ।

(२) साधुजी की प्रसंगोपात्त-विविध देशना सुनकर चंचल बुद्धि का हो जाने वाला श्रावक पताका समान श्रावक है ।

(३) अपना हठ कभी भी नहीं छोड़ने वाला श्रावक ठूठ के समान स्थाणु श्रावक है ।

(४) साधुजी द्वारा हित की शिक्षा देने पर भी कठोर और दुष्ट वचन बोलने वाला श्रावक खर-कंटक समान श्रावक है ।



प्रशस्त-सूत्र

(१)

नो लोगस्सेसणां चरे ।

आ०, ४, १२८, उ, १

टीका—लोक-रुचि के अनुसार आचरण मत करो । लोक तो गाड़रिया प्रवाह है, लोक तो दो रगी चाल वाला है । लोक-समूह तो सस्कारो और वातावरण को गुलाम होता है । अतएव जिसमें अपना कल्याण प्रतीत होता हो, अपना स्वतंत्र विकास होता हो उसी मार्ग का अवलम्ब लेना चाहिये । लोक-भावना के स्थान पर कर्तव्य-भावना प्रधान है ।

(२)

बुद्धा धम्मस्स पारगा ।

आ०, ८, १८, उ, ८

टीका—जो बुद्ध होते हैं, जो ज्ञानी होते हैं, जो तत्व दर्शी होते हैं, वे ही धर्म और चारित्र्य का सम्यक् प्रकार से ज्ञान रखने वाले होते हैं । धर्म के गभीर रहस्य का सूक्ष्म स्वरूप उनसे छिपा हुआ नहीं रह सकता है ।

(३)

नाणी नो परिदेवए ।

उ०, २, १३

टीका—ज्ञानी कभी विषाद घानी खेद अथवा शोक नहीं करता है । ज्ञानी जानता है कि खेद करना प्रमादजनक है, ज्ञान-नाशक है, निरर्थक है, आर्त्तध्यान है और शक्ति विनाशक है ।

(४)

आणाय अभि समेच्चा अकुओभयं ।

आ०, १, २२, उ, ३

टीका—जैसा वीतराग देव ने फरमाया है, उसी के अनुसार जो जानता है, जो श्रद्धा करता है, तदनुसार जो आचरण करता है, तदनुसार जो प्ररूपणा करता है, उसको संसार का भय कैसे हो सकता है ? उसको संसार का मिथ्या-मोह कैसे आकर्षित कर सकता है ? वह पुरुष कैसे कर्त्तव्य-मार्ग से विचलित होकर भोगों में फस सकता है ?

(५)

सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं ।

आ०, ३, १२४, उ, ४

टीका—जो प्रमादी नहीं है, यानी जो विषय-विकार, वासना, तृष्णा आदि में फंसा हुआ नहीं है, उसको किसी भी तरह से भय, चिन्ता, अशांति, दुःख आदि नहीं उत्पन्न होते हैं । अप्रमादी को किसी भी ओर से भय नहीं है ।

(६)

आवट्ट सोए'संग मभिजाणइ ।

आ०, ३, १०८, उ, १

टीका—जो सम्यक् दर्शी है, वह आवर्त्त यानी जन्म, जरा, मरण आदि रूप संसार को और श्रुति रूप शब्द आदि को तथा काम-गुण रूप विषय को इच्छा को-इन दोनों के सम्बन्ध को भली-भांति जानता है । और ऐसा जानने वाला ही संसार के चक्र से तथा काम-गुणों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

(७)

जिण भक्खरो कस्सिइ
उज्जोयं सव्व लोगम्मि पाणिणं ।

उ०, २३, ७८

टीका—जिनदेव अर्थात् अरिहत-रूप सूर्य, संपूर्ण ससार में मोहांधकार से आच्छादित जीवों के लिये ज्ञान और चारित्र के प्रकाश को प्रकट करते हैं, इसी प्रकार (भविष्य में भी अनन्त अरिहत होंगे, जो कि इसी रीति से ज्ञान और चारित्र का प्रकाश करते रहेंगे ।

(८)

मुहादाई मुहाजीवि दो वि गच्छंति सुगई ।

द०, ५, १००, उ, प्र

टीका—नि.स्वार्थ भाव से लेने वाले, और नि.स्वार्थ भाव से ही देने वाले, दोनों ही सुगति को प्राप्त होते हैं । नि.स्वार्थ सेवा ही आदर्श व्रत है । नि.स्वार्थ सेवा में किसी भी प्रकार की आशा नहीं होती है, कोई आसक्ति या वासना अथवा विकार नहीं होता है । इसीलिये यह उच्च भावना धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान रूप होती है ।

(९)

से थ खु मेयं ण प्रमाय कुज्जा ।

सू०, १४, ९

टीका—“इसमें मेरा ही कल्याण है” ऐसा सोच-विचार कर, आत्मारथी प्रमाद का सेवन नहीं करे । जो प्रमाद या आलस्य नहीं करेगा, उसी को लाभ होगा । अतएव प्रमाद के स्थान पर कर्मण्यता को ही जीवन में स्थान देना चाहिये ।

(१०)

चरित्त संपन्नयाण,

सेलेसी भावं जणयइ ।

उ०, २९, ६१वां ग,

टीका—चारित्र-संपन्नता से जीवन में निर्मल गुण पैदा होते हैं । सात्विक वृत्ति से कर्मण्यता आती है । इस प्रकार शैलेसी भाव उत्पन्न

होते हैं, आत्मा ऊँचे दर्जे के विकास-भाव को प्राप्त होती है । आत्मा अनंत बलशाली और अनंत गुणशाली बनती है ।

(११)

सम्पन्नं तु जिणक्त्वायं,

एस मग्गे हि उत्तमे ।

उ०, २३, ६३

टीका—सम्यक् मार्ग और मोक्ष-मार्ग, भगवान् की तराफ प्रभु श्री जिनदेव का बतलाया हुआ ही है । यही मार्ग उत्तम है, यही श्रेष्ठ है, यही कल्याण कारी है और यही मोक्ष का दाता है ।

(१२)

अणुत्तरे नाणधरे जसंसी,

ओभासई सूरि एवं अंतलिवखे ।

उ०, २१, २३

टीका—सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर आत्मा; सर्वोत्तम और अप्रतिपाती केवलज्ञान का धारक होकर पूर्ण यश को प्राप्त करता हुआ ऐसा शोभा पाता है, जैसा कि आकाश में सूर्य ।

(१३)

अपमत्तो जए निच्चं ।

द०, ८, १६

टीका—अप्रमाद पाप का घर है, इसलिये संदेव अप्रमादी रहना चाहिये, कर्मण्यशील रहना चाहिये, यानी सत्कार्य, सेवा में ही लगे रहना चाहिये । अप्रमाद से इन्द्रियो और मन पर नियंत्रण रहता है । इससे कषाय और विकार जीतने में मदद मिलती है । कर्मण्यता जीवन का शृङ्गार है—भूषण है ।

(१४)

अचचन्त नियाणा खमा,

एप्पसा मे भासिया वई ।

उ०, १०, ११, १२

टीका—कर्म-मल के शोधन में, पाप को हटाने में दुष्कृतियों और विकारों को दूर करने में, अत्यंत समर्थ इस वाणी में यह उपदेश श्री चीतराग प्रभु महावीर द्वारा दिया गया है । यानी यह जिनवाणी, यह जैन धर्म, आत्मा में स्थित संपूर्ण द्रोषो को, वासना को, आस-क्ति को, अज्ञान को और अविवेक को, हटाने में पूर्ण रीति से समर्थ है—शक्ति गाली है ।

(१५)

भाव विसोहीए,
निष्वाण मभिगच्छइ ।

सू०, १, २७, उ, २

टीका—भावों की विशुद्धि से-अनासक्ति और निर्ममत्व भावना से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । भाव-विशुद्धि से कर्म-बन्धन नहीं होता है, और कर्म-बन्धन के अभाव में स्वभाव से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ।

(१६)

समो निन्दा पसंसासु
तहा माणावमाणओ ।

उ०, १९, ९१

टीका—निन्दा और स्तुति में, मान और अपमान में समभाव रखना चाहिए । अनुकूल और प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में समता रखने से बुद्धि का समतोलपना रहता है, विवेक बराबर बना रहता है और इससे पथ-भ्रष्ट होने का डर नहीं रहता है ।

(१७)

पणाए वीरे महा विहिं
सिद्धिपहं शाआउयं धुवं ।

सू०, २, २१, उ, १

टीका—कर्म का भेदन करने में समर्थ महापुरुष उस महान् मार्ग से चलते हैं, जो मोक्ष के पास ले जाने वाला है, जो ध्रुव है और जो सिद्धि मार्ग है ।

(१८)

नोऽवि य पूयण पत्थय सिया ।

[सू०, २, १६, उ, २]

टीका—जिसका ध्येय एक मात्र स्व-कल्याण और पर-सेवा ही है, उसको स्व-पूजा—और स्व-अर्चना की भावना से विल्कुल दूर ही रहना चाहिये ।

(१९)

गुरुणो छंदाणुवत्तगा,
विरया तिस्र महोघ माहिय ।

[सू०, २, ३२, उ, २]

टीका—गुरु की-अनासक्त महात्मा की एव ज्ञान-चारित्र्य सम्पन्न महापुरुष की आज्ञा में चलकर और विषय-कषाय से तथा वासनाओं से रहित होकर अनेक सरल आत्माओं ने इस महासागर रूप ससार को पार कर लिया है ।

(२०)

सासयं परिशिन्वुष ।

उ०, ३६, २१

टीका—जो पुरुष वीतरागी होते हैं, जो राग द्वेष से रहित होते हैं, जो आश्रव-भाव से दूर रहते हैं, वे ही शाश्वत् अवस्था को प्राप्त होते हैं, वे ही मुक्ति स्थान को प्राप्त करते हैं ।

(२१)

अप्यमत्तो कामेहिं उवरओ पावकस्मेहिं ।

आ०, ३, ११०, उ, १

टीका—जो ज्ञानी आत्मा, कामों से, तथा शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और आसक्ति आदि से अप्रमादी है, यानी इनमें नहीं फंसा हुआ है और ज्ञान, दर्शन, चारित्र को ही अपना एकमात्र लक्ष्य मानता है; वह पाप कर्मों से और नवीन-बन्धन से छूट जाता है। इस प्रकार वह शीघ्र ही निर्वाण अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

(२२)

अणोम दंसी निसणो,
पावेहिं कस्मेहिं ।

आ०, ३, ११५, उ, २

टीका—जो सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र वाला है, जो संयमी है, वह पाप कर्मों से निवृत्त हुआ जैसा ही है। क्योंकि उसके जीवन का तो प्रत्येक क्षण आत्म-चिंतन में ही जाता है, आत्म मनन में ही जाता है। ऐसी स्थिति में उसके पाप-कर्मों के बन्धने का कारण ही क्या रहा ?

(२३)

अदीणो वित्ति मेसिज्जा ।

द०, ५, २८, उ, द्वि

टीका—अदीन होकर यानी अपना गौरव अक्षुण्ण रख कर और आत्मा की अनन्त शक्ति पर विश्वास रखकर जीवन-निर्वाह के योग्य आवश्यक वस्तुओं की खोज करना चाहिये।

(२४)

जय संघ चंद ! निम्मल-
सम्मत्त विसुद्ध जोण्हागा ।

न०, ९

टीका—निर्मल सम्यक्त्व रूपी शुद्ध चांदनी वाले हे चन्द्र रूप श्रीसंघ ! तुम्हारी जय हो, सदा तुम्हारी विजय हो।

(२५)

संघ पञ्चमस्त भद्रं,
समगा गण सहस्र पञ्चस्त

न०, ८

टीका—श्रीसघ कमल रूप है, जिसके हजारों साधु रूपी सुन्दर आदर्श और गुणकारी पत्र लगे हुए हैं, ऐसा कमल रूप श्रीसघ हमारे लिये कल्याणकारी हो। ऐसे श्री सघ का सदैव कल्याण ही कल्याण हो।



योग-सूत्र

(१)

पंच निग्रहणा धीरा ।

द०, ३, ११

टीका—जो पाँचो इन्द्रियो का निग्रह करते हैं, विषयों से हटकर सेवा, त्याग, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति आदि सात्त्विक मार्ग में इन्द्रियो को चलाते हैं, वे ही धीर पुरुष हैं, वे ही आदर्श पुरुष हैं ।

(२)

आय गुप्ते सया वीरे ।

आ०, ३, ११७ उ, ३

टीका—जो वीर होता है, जो महापुरुष होता है, वह सदैव अपने मन, वचन और काया को नियंत्रण में रखता है । मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और काया-गुप्ति का वह सदैव सम्यक् रीत्या पालन करता है ।

(३)

भावणा जोग शुद्ध्या,
जलेणावा च आहिया ।

सू०, १५, ५

टीका—उत्तम-भावना के योग से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वह पुरुष ससार के स्वभाव को छोड़कर, ससार के मोह को त्याग कर, जल में नाव की तरह संसार-सागर के ऊपर रहता है । जैसे नाव जल में नहीं डूबती है, उसी तरह वह पुरुष भी संसार-सागर में नहीं डूबता । यह सब महिमा उत्तम भावना के साथ शुद्ध योग की है ।

(४)

पच्छा पुरा व चक्ष्यन्वे ।

फेण बुबुय सन्निभे ।

उ०. १९, १४

टीका—यह शरीर आगे या पीछे छोड़ना ही पड़ेगा, इसकी स्थिति तो जल के फेन-या झाग के बुलबुले के समान है, जो कि अचानक और शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला है ।



अनित्यवाद-सूत्र

(१)

जीवियं चेववि रूच च,
विज्जु संपाय चंचलं ।

उ०, १८, १३

टीका—यह जीवन और रूप-सौन्दर्य, भोग और पौद्गलिक सुख, ये सब विजली के प्रकाश के समान चंचल है, क्षणिक है । इसलिये भोगों में मूर्च्छित न बनो । वासना और विकार को छोड़ो ।

(२)

इमं शरीरं अणिच्चं,
असुइं असुइ संभवं ।

उ०, १९, १३

टीका—यह शरीर अनित्य है । न मालूम किस क्षण नष्ट हो जाने वाला है । अशुचि से भरा हुआ है । मल-मूत्र, मांस, हड्डी, खून आदि घृणित पदार्थों से बना हुआ है । इसी प्रकार अशुचिमय कारणों से ही, घृणित और निंदनीय मैथुन से ही, अब्रह्मचर्यमय क्रिया से ही इसकी उत्पत्ति हुई है ।

(३)

असांसिया वासमिणां,
दुक्ख केसाण भावणां

उ०, १९, १३

टीका—जीव और शरीर का सम्बन्ध अगाधवत् है, अस्थायी है, क्षणभंगुर है, अचानक और शीघ्र टूट जाने वाला है । इसी प्रकार यह शरीर दुःख और क्लेशों का, विपत्ति और रोगों का घर है ।

(४)

एगग्ग मणसंनिवेशेणा याप,
चित्तनिरोहं करेइ ।

उ०, २९, २५वाँ, ग

टीका—मनको एकाग्र करने से, चित्तको एक ही शुभ विचार पर स्थिर करने से अव्यवस्थित चित्तवृत्ति और अस्थिर चित्तवृत्ति से छुटकारा मिलता है । चित्त की समाधि होती है । और इससे मनोबल बढ़ता है, जिससे कर्मण्यता, निर्भयता तथा कार्यकुशलता आदि सद्गुणों की वृद्धि होती है ।

(५)

मणो साहस्सिओ भीमो,
दुट्ठस्सो परिधावई ।

उ०, २३, ५८

टीका—यह मन ही एक प्रकार का बड़ा दुस्साहसिक, भयकर और दुष्ट घोड़ा है, अनीति मार्ग पर दौड़ने वाला विनाशकारी घोड़ा है । यह रात और दिन सदैव स्वच्छद होकर विषयो के मार्ग पर दौड़ता रहता है । इस मन रूपी घोड़े पर नियन्त्रण रखना अत्यन्त आवश्यक है ।

(६)

मण गुत्तो वय गुत्तो काय गुत्तो,
जिंइदिओ जावज्जीवं दढव्वओ ।

उ०, २२, ४९

टीका—मनको गोपकर, वचन को गोपकर, जितेन्द्रिय होकर, यावत् जीवन तक व्रत में और धर्म मार्ग में दृढ़ रहना चाहिये । धर्म मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिये ।

(७)

अल्लीण गुत्तो निसिण ।

द०, ८, ४५,

टीका—सदैव मन और इन्द्रियो को वश में रखने वाला बने । वचन, मन और काया को 'उपयोग' के साथ मर्यादा में रखने वाला बने । उठने, बैठने आदि की क्रियाएँ मर्यादा वाली और विवेक वाली हो ।

(८)

गुत्ते जुत्ते सदा जए आय परे ।

सू०, २, १५, उ, ३

टीका—मन, वचन और काया को विषय, कषाय और भोग-उपभोग से हटाते हुए सदैव स्व और पर के कल्याण के लिये यत्न करते रहना ही मानवता है ।

(९)

आयाग गुत्ते वलया विमुक्के ।

सू०, १२, २२

टीका—कर्त्तव्य-निष्ठ पुरुष मन, वचन और काया को अपने वश में रखे, इन्हे स्वच्छंद-रीति से नहीं विचरने दे । जीवन में माया-कपट को स्थान नहीं दे । मायाचार स्व-कल्याण और पर-कल्याण का विघातक है । इसलिये कल्याण की भावना वाला योगी पर सयम रखता हुआ अमायावी होकर जीवन व्यतीत करता रहे ।

(१०)

अगुत्ते अणाणाए ।

आ० १, ४३, उ, ५

टीका—जो मन, वचन और काया पर नियंत्रण नहीं रखता है, इन योगो द्वारा अशुभ-प्रवृत्तियों का सेवन करता है, वह भगवान की आज्ञा का आराधक नहीं है, किन्तु विराधक है ।

कर्तव्य-मार्ग से अर्थात् मानवता के मार्ग से ऐसा पुरुष बहुत दूर है ।

(११)

जे इन्द्रियाणं विसया मणुन्ना,
न तेसु भावं निसिरे कयाइ ।

उ०, ३२, २१

टीका—इन्द्रियो के जो विषय, मनोज्ञ, सुन्दर और आकर्षक दिखाई देते हैं, उनमें चित्त को, आकाक्षा को और आसक्ति को कभी भी प्रस्थापित नहीं करना चाहिये ।

(१२)

नाणा रुचं च छन्दं च,
परिवज्जेज्ज संजओ ।

उ०, १८, ३०

टीका—नाना रुचि यानी मन की अस्थिरता को, अव्यवस्था को, अनवस्था को और छन्द यानी आसक्ति एवं मूर्च्छा आदि को साधु पुरुष छोड़ दे । मन की अस्थिरता और चित्त की आसक्ति आत्मा की शक्तियों को छिन्न-भिन्न करने वाली है । अतएव आत्मार्थी इनका परित्याग कर दे ।

(१३)

अमणुन्न समुप्पायं दुक्खमेव ।

सू०, १, १०, उ, ३

टीका—अशुभ अनुष्ठान करने से ही—मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियों से ही दुःख की उत्पत्ति होती है ।

(१४)

सावज्ज जोगं परिवज्जयेतो,
चरेज्ज मिक्खु सुसमाहिं इंदिए ।

उ०, २१, १३

टीका—सावद्य योग का-यानी पापकारी प्रवृत्तियों का परित्याग करते हुए समाधिस्थ होकर और चित्त वृत्तियों को रोक कर एवं इन्द्रियो का दमन करते हुए भिक्षु विचरे । आत्मार्थी अपना काल-क्षेप करे ।

(१५)

सरीर माहु नावत्ति,
जीवो वुञ्चवइ नाविओ ।

उ०, २३, ७३

टीका—यह मानव-शरीर संसार रूप समुद्र को तैरने के लिये नाव के समान है और भव्य आत्मा तैरने वाला नाविक है ।

(१६)

न सन्व सन्वत्थ अभिरोयणज्जा ।

उ०, २१, १५

टीका—प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक वस्तु के प्रति यानी सर्वत्र और सब वस्तुओं के प्रति मन को नहीं ललचावें । मन को वश में रखें ।

(१७)

सदेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं ।

उ०, ३२, ३७

टीका—जो शब्दों में-यानी रागात्मक गीत-गायनों में तीव्र गृद्धि भाव रखता है, इनमें मूर्च्छा-भावना और मूढ़ भावना रखता है, उसकी अकाल में ही मृत्यु होती है । वह अकाल में ही घोर-दुःख का भागी होता है ।

(१८)

सुवेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं ।

उ० ३२, २४

टीका—जो पुरुष रूप में और स्त्री-सौंदर्य में तीव्र मूर्च्छा रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। वह घोर, दुर्गति का भागी बनता है।

(१९)

गन्धाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।

उ०, ३२, ५८

टीका—गंध रूप घ्राण-इन्द्रिय के भोग में फसे हुए मनुष्य के लिये कैसे सुख प्राप्त हो सकता है ? कब सुख प्राप्त हो सकता है ? क्योंकि इन्द्रियाँ तो कभी तृप्त होती ही नहीं हैं, इनकी तृष्णा तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है।

(२०)

रसेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ स विणासं ।

उ०, ३२, ६३

टीका—जो प्राणी रस में, प्राणी जिह्वा के भोग में तीव्र गृद्धि भावना रखता है, महती आसक्ति रखता है, तो ऐसा प्राणी अनिष्ट एव नीच कर्मों का उपार्जन करता है और अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

(२१)

फासेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।

उ०, ३२, ७६

टीका—जो प्राणी स्पर्श-इन्द्रिय के भोगों में तीव्र आसक्ति रखता है, जो भोगों में ही तल्लीन है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।

(२२)

आवज्जई इन्द्रिय चोर वस्से ।

उ०, ३२, १०४

टीका—जो आत्मा इन्द्रिय-भोग रूपी चोरो के वश में पड़ा हुआ है, उसका जन्म-मरण कभी वद नहीं होने वाला है, वह तो ससार में परिभ्रमण करता ही रहेगा ।

(२३)

जे दूमणा ते हि णो णया,

ते जाणंति सम हि माहियं ।

सू०, २, २७, उ, २

टीका—मन को दुष्ट बनाने वाले जो शब्द-गंध आदि विषय हैं, जो इन्द्रियो के सुख हैं, उनमें जो आत्माये आसक्त नहीं होती हैं, वे ही अपने में स्थित राग-द्वेष का त्याग कर, अनासक्त होकर धर्म-ध्यान का असली रहस्य जानते ह या जान सकते हैं । इन्द्रिय सुख-भोग और धर्म-ध्यान का आराधन-दोनों साथ २ नहीं हो सकते हैं ।

(२४)

विहरेज्ज समाहि इदिप,

अत्तहियं ख दुहेण लब्भइ ।

सू०, २, ३०, उ, २

टीका—आत्महित का मार्ग, यानी वास्तविक कल्याण-मार्ग बहुत ही कठिनाई से प्राप्त होता है । इसलिये इन्द्रियो को वश में रखो-। मन धोड़ा रूप है और इन्द्रियाँ लगाव रूप हैं-इसलिये लगावों द्वारा धोड़े को नियंत्रित रखना चाहिए । इस तरह समाधि के साथ सयम का अनुष्ठान करे ।

(२५)

मणसा काय वक्केणं,
आरंभी ए परिग्रही ।

सू०, ९, ९

टीका—आत्महित की कामना वाला पुरुष, मन, वचन और काया से न तो आरंभी यानी तृष्णामय प्रयत्न वाला हो और न परिग्रही-यानी ममतामय संग्रह वाला हो । आरंभ और परिग्रह का त्याग करने पर ही आत्मा विकास की ओर गति कर सकती है ।

(२६)

तिविहेणावि पाण माइणे ।

सू०, २, २१, ३, ३

टीका—मन, वचन और काया से प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिये । मन से किसी भी प्राणी के लिये अनिष्ट और घातक विचार अथवा षड्यन्त्र नहीं सोचना चाहिये । वचन से किसी भी प्राणी के लिये मर्म घातक या कष्ट दायक शब्द नहीं बोलना चाहिये । काया से किसी भी प्राणी को कष्ट, हानि अथवा मरणान्त दुःख नहीं पहुँचाना चाहिये । यानी तीनों योगों से प्राणी मात्र के लिये हित की ही कामना करनी चाहिये, इसी में कल्याण है ।

(२७)

ज्ञाण जोगं समाहट्ट,
कायं विउसेज्ज सव्वसो ।

सू०, ८, २६

टीका—आत्मार्थी पुरुष अथवा परमार्थी पुरुष, ध्यान-योग को ग्रहण करके, चित्त वृत्तियों को सुस्थित और एकाग्र करके, सब प्रकार से शरीर को बुरे व्यापारों से रोक दे । शरीर-कार्यों को एकान्त रूप से स्व-पर सेवा में लगा दे । इस प्रकार स्व-पर कल्याण में ही मग्न हो जाय ।

(२८)

तओ गुत्तीओ पणत्ताओ,
मणगुत्ती, वयगुत्ती, कायगुत्ती ।

ठाणा, ३ रा ठा, १ ला, उ, ९

टीका—गुप्तियाँ तीन प्रकार की कही गई हैं.—१ मन-गुप्ति
२ वचन गुप्ति और ३ काया-गुप्ति । मन, शरीर और इन्द्रियों की
प्रवृत्तियों पर विवेक-पूर्वक धर्मानुसार नियंत्रण करना गुप्ति-धर्म है ।



कर्मवाद-सूत्र

(१)

रागो य दोसोऽवि य कम्मवीथं ।

उ०, ३२, ७

टीका—राग और द्वेष, इष्ट पदार्थों पर आसक्ति, प्रिय पदार्थों पर मुच्छा और रति भाव, इसी प्रकार अप्रिय पदार्थों पर घृणा, इर्षा और अरति भाव ही कर्म के मूल-बीज है ।

(२)

पदुट्ट चित्तो यो चिणाह कम्मं ।

उ०, ३२, ५९

टीका—मूर्त रूपसे, बाह्य रूप से, शरीर द्वारा कोई कार्य नहीं करने पर भी यदि चित्त में द्वेष भरा हुआ है, तो ऐसा प्राणी भी कर्मों का बंध करता रहता है । निस्सदेह कर्मों के बंधने और छूटने में मन की क्रिया का यानी चित्त की भावना का बहुत बड़ा सबंध रहा हुआ है ।

(३)

कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि ।

उ०, १३, १०

टीका—बाध हुए कर्मों को भोगे बिना उनसे मोक्ष यानी छुटकारा नहीं मिल सकता है । इसलिये कर्मों की निर्जरा के लिये तप, सयम, दया, दान, परोपकार, सेवा आदि का आचरण जीवन में अति आवश्यक है ।

(४)

कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ।

उ०, ४, ३

टीका—अपने किये हुए कर्मों को भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिल सकता है । इसलिये पाप-कर्मों को त्याग कर, पुण्य कर्मों का अर्थात् शुभ कर्मों का ही आचरण करना चाहिये ।

(५)

कस्माणि बलवन्ति हि ।

उ०, २५, ३०

टीका—कर्म ही बलवान् है । कर्मों के उदय होने पर वृद्धि और बल, धन और जन, सुख और सुविधा, कर्मानुसार हो जाते हैं । पुण्य कर्मों के उदय से अनुकूल सयोगो की प्राप्ति होती है और पाप-मय कर्मों के उदय से प्रतिकूल सयोगो की प्राप्ति होती है ।

(६)

कम्म च मोहप्प भवं ।

उ०, ३२, ७

टीका—कर्म ही मोहको उत्पन्न करता है, यानी द्रव्य-आश्रव से भाव-आश्रव होता है, और भाव-आश्रव से द्रव्य आश्रव होता है ।

(७)

गाढा य विवाग कस्मुणो ।

उ०, १०, ४,

टीका—कर्मों का फल महान् कटु होता है, भयकर रूप से चास कारी होता है, इसलिये आश्रव को-यानी कर्म-द्वार को रोकना चाहिये । पाप प्रवृत्ति से बचना चाहिये ।

(८)

कस्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो ।

सू० २, ४, उ १

टीका—अगुम-योग वाले प्राणी यानी अगुम-प्रवृत्तियाँ वाले प्राणी कर्मों से सर्ववित होते रहते हैं। उनके कर्मों का निरंतर आश्रय होता ही रहता है।

(९)

कम्मं च जाइ मरणस्स मूलं ।

उ०, ३२, ७

टीका—कर्म से ही जन्म और मृत्यु के दुख उठाने पड़ते हैं। जन्म-मृत्यु का मूल कर्म ही हैं।

(१०)

संसरइ सुहा सुहेहिं कम्महिं ।

उ०, १०, १५

टीका—गुम और अगुम कर्मों के बल पर ही, जीवन और मरण का, सुख और दुख का, उत्पत्ति और विनाश का चक्कर चलता है।

(११)

आहा कम्महिं गच्छई ।

उ०, ३, ३

टीका—प्रत्येक आत्मा स्व-कृत गुम और अगुम कर्मों के अनुसार ही सुख और दुख का भागी बनता है। मूल में कर्म ही सुख-दुख के कर्त्ता हैं। अन्य तो निमित्त मात्र हैं।

(१२)

कम्मणा उवाही जायइ ।

आ०, ३, ११०, उ, १

टीका—कर्मों से ही यानी अगुम कार्यों से ही, जन्म, मरण, वृद्धत्व, रोग, नानापीड़ाएँ, विषम संयोग-वियोग, भव-भ्रमण आदि उपाधियाँ पैदा हुआ करती हैं।

(१३)

इहं तु कम्माइं पुरे कडाइं ।

उ०, १३, १९

टीका—यहाँ पर जो कुछ भी सुख-दुःख मिलता है, वह सब पहिले किये हुए कर्मों का ही फल है ।

(१४)

सकम्म वीओ अवसो पयाइ,

परं भवं सुंदर पावणं वा ।

उ०, १३, २४,

टीका—यह जीव एक तो आप स्वयं और दूसरे कर्म को लेकर कैदी के समान परवशता को प्राप्त होता हुआ कर्मानुसार परलोक में या तो सुन्दर स्थान को अर्थात् देवगति आदि को—अथवा पाप स्थान को यानी नरक आदि को जाता है । यथा कर्म तथा गति अनुसार स्थिति को प्राप्त होता है ।

(१५)

असुहाण कम्माणं निज्जाणंपावणं

उ०, २१, ९

टीका—अशुभ कर्मों का अन्तिम फल निश्चय मे पाप रूप ही होता है, महान् वेदना रूप ही होता है ।

(१६)

अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे,

न मूलओ छिंदइ वन्धणं से ।

उ०, २०, ३९

टीका—जो आत्मा निर्वल होकर इन्द्रियो के अधीन हो जाता है तथा रसो मे मुग्ध हो जाता है, वह राग द्वेष जनित कर्म्म बधन का उच्छेद जड़-मूल से नहीं कर सकता है ।

(१७)

कर्त्तार मेव अणुजाइ कम्मं ।

उ०, १३, २३,

टीका—जो जीव कर्मों का बध करता है, वे कर्म सुख दुख देने की शक्ति को अर्थात् विपाक-शक्ति को साथ में लेकर ही उस जीव के साथ साथ जाते हैं । कर्म परमाणु जीव-कर्त्ता के अनुयायी होते हैं ।

(१८)

कम्मुणा तेण संजुत्तो गच्छई उ परं भवं ।

उ०, १८, १७

टीका—मृत्यु प्राप्त होने पर जीव केवल कर्मों से-यानी पाप-युक्तों से संयुक्त होता हुआ ही पर-भव को जाता है । धन-वैभव, कुटुम्ब आदि तो सब ज्यों के त्यों यही पर रह जाने वाले हैं ।

(१९)

अज्झत्थ हेउं निययस्स वन्धो,

संसार हेउं च वयन्ति वन्धं ।

उ०, १४, १९

टीका—अध्यात्म हेतु यानी मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, अशुभ योग और अव्रत, ये बन्ध के कारण हैं । और यह बन्ध ही संसार को बढ़ाने वाला है । ऐसा महर्षि, सन्त, महात्मा गण कहते हैं ।

(२०)

अमिण्णम वडोहिं मूच्छिण,

तिव्वं ते कस्मेहिं किच्चती ।

सू०, २, ७, उ, १

टीका—जो पुरुष मायामय कामों में सलग्न है, माया में मूर्च्छित है, वे कर्मों द्वारा अत्यन्त पीडित किये जाते हैं । उनको घोर दुख उठाना पड़ता है । सुख उनको मिल ही नहीं सकता है ।

(२१)

जहा कडं कम्म तहा से भारे ।

सू०, ५, २६, उ, १

टीका—पूर्व जन्म मे जिसने जैसे कर्म किये हैं, उन कर्मों के अनुसार ही उसे पीड़ा प्राप्त होती है । यथा कर्म-तथा फल, इसलिये दुःख के समय धैर्य और सतोष रखना चाहिये ।

(२२)

अं जारिस्स पुव्व मकास्सि कम्मं,

तमेव आगच्छति संपराय ।

सू०, ५, २३, उ, २

टीका—प्राणियो ने पूर्व जन्म मे जैसी स्थिति वाले तथा जैसे प्रभाव वाले जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट कर्म किये हैं, दूसरे जन्म मे वैसी ही स्थिति वाले और वैसे ही प्रभाव वाले जघन्य, मध्य और सयोग-वियोग रूप फल पाते हैं । इसलिये विचार कर काम करना चाहिये, जिससे इस लोक और पर लोक मे शांति मिले ।

(२३)

कम्मी कम्मेहिं किच्चतो ।

सू०, ९, ४

टीका—पाप कर्म करने वाला अकेला ही पाप कर्मों के फल को भोगता है । उसमे हिस्सा बटाने के लिये न तो कोई समर्थ है और न कोई हिस्सा बटाने के लिये ही आता है ।

(२४)

वाला वेदंति कम्माइं पुरे कडाइं ।

सू०, ५, १, उ, २

टीका—विवेक-भ्रष्ट और अनीति के मार्ग पर चलने वाले अज्ञानी मनुष्य पूर्व जन्म मे किये हुए अपने कर्मों का फल अवश्य

भोगते हैं। पाप का फल अवश्य भोगना पड़ता है, यह प्रकृति का अटल नियम है।

(२५)

सकम्मुणा विप्पारियासुवेइ ।

सू०, ७, ११

टीका—जीव अपने कर्म के बल से ही सुख के लिये इच्छा करता हुआ भी दुःख ही पाता है। कर्म-गति बलीयसी, बड़े २ तीर्थंकर, चक्रवर्ती, गणधर, आचार्य आदि सभी कर्म के आगे क्या कर सकते हैं?

(२६)

चउव्विहे बंधे, पगइ बंधे, ठिइबंधे,

अणुभाव बंधे, पएस बंधे ।

ठाणां०, ४ था, ठा, उ, २, २७

टीका—आत्मा के साथ बन्धने वाले कर्मों का बन्ध चार प्रकार का कहा गया है—१ प्रकृति बन्ध, २ स्थिति बन्ध, ३ अनुभाव बन्ध और ४ प्रदेश बन्ध।

(२७)

आयाणिज्जं परिन्नाय परियाण्णा विगिंचइ ।

आ०, ६, १८१, उ, २

टीका—कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कर्मों के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग आदि भेद-प्रभेद को और इनके स्वरूप को जान कर ज्ञानी सयम-धर्म के द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय करे। इस रीति से कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष को प्राप्त करे।

(२८)

देह दुक्खं महाफलं ।

द०, ८, २७

टीका—दुखो की उत्पत्ति पूर्व कर्मों के उदय का फल है । इस-
लिये यदि कर्मों के उदय से शरीर में व्याधि खड़ी हो जाय, शरीर
में नाना रोगों का श्री गणेश हो-जाय तो भी चित्त में शांति रखे,
सहिष्णुता से उन्हें सहन करे । इसीमें महान् सुख का खजाना रखा
हुआ है ।

कषाय-सूत्र

(१)

छिंदाहि दोसं विणणज्ज रागं ।

द०, २, ५,

टीका—द्वेष, अरति और ईर्ष्या को छोड़ दो । राग, मोह और आसक्ति का विनाश कर दो ।

(२)

रागस्स हेउं समणुत्ता माहु,

दोसस्स हेउं अमणुत्ता महु ।

उ०, ३२, ३६

टीका—राग का कारण आसक्ति भावना है और द्वेष का कारण घृणा-भावना है । इस प्रकार राग और द्वेष ही विश्व-वृक्ष है । ससार भ्रमण के मूल कारण है ।

(३)

राग होला दओ तिब्वा,

नेह पासा भयंकरा ।

उ०, २३, ४३

टीका—रागद्वेष आदि कषाय रूपी पाश और तीव्र मोह रूपी पाश बड़ी ही भयंकर है । मोह, माया और ममता पाश रूप ही है, जाल रूप ही है । ससारी आत्माएँ इसी जाल में फँसी हुई हैं । समर्थ और स्थिर समाधि वाली आत्माएँ ही इस पाश से मुक्ति पा सकती हैं

(४)

कसाया अग्गिणो फुत्ता,

सुय सील तवो जलं ।

उ०, २३, ८१

टीका—कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों जाज्वल्यमान अग्नि हैं, इनको शांत करने के लिये श्रुत-शास्त्र का और सात्विक साहित्यका अध्ययन, पठन-पाठन, मनन-चिन्तन ही शक्तिशाली जल है । ब्रह्मचर्य और मर्यादा पालन कषाय-अग्नि को शांत कर सकता है । तथा बारह प्रकार का बाह्य-और आभ्यंतर तप भी कषाय-अग्नि को बुझा सकता है ।

(५)

चत्तारि वमे सया कसाण ।

- द०, १०, ६

टीका—सदैव चारों कषायों का, क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करते रहना चाहिये । क्योंकि कषाय से मुक्ति होगी, तभी ससार से भी मुक्ति प्राप्त हो सकेगी ।

(६)

वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हिय मप्पणो ।

- द०, ८, ३७

टीका—क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चारो दोषों को छोड़ दो । यदि अपना हित चाहते हो तो इनका नाश कर दो । कषाय-मुक्ति ही मोक्ष का सच्चा मार्ग है, यह नहीं भूलना चाहिये ।

(७)

चत्तारि एण कसिणा कसाया,
सिंचिंति मूलाइं पुणभवस्स ।

- द०, ८, ४०

टीका—ये चारों कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ, पुनर्भव की अर्थात् जन्म-मरण की जड़े सींचते रहते हैं । इन कषायों के बल से ही अनन्त ससार की वृद्धि होती रहती है ।

(८)

वेराणुवंधीणि महम्मयाणि ।

सू०, १०, २१

टीका—वासना और कषाय के वश होकर, भोगों से आकर्षित होकर, जीव वैर तो बाँध लेते हैं, परन्तु यह नहीं जानते हैं कि वैर-बाँधना इस लोक और परलोक में महान् भय पैदा करना है, महान् दुःख मोल लेना है ।

(९)

वेराणुगिद्वे णिचयं करेति ।

सू०, १०, ९

टीका—जो प्राणी अन्य प्राणियों के साथ वैर-भाव रखता है, अति-स्पर्धा जनित राग-द्वेष के भाव रखता है, वह घोर पाप कर्म का उपार्जन करता है, वह चिकने कर्मों का बंध करता है ।

(१०)

माया मोसं विवज्जप ।

द०, ५, ५१, ८, द्वि०

टीका—बुद्धिमान् अपने कल्याण के लिये, अणु-मात्र भी, थोड़ा सा भी माया-मृपावाद नहीं बोले यानी कपट पूर्वक झूठ मिथ्यात्व का पोषक है और मोक्ष का नाशक है ।

(११)

माया मित्ताणि नासेइ ।

द०, ८, ३८

टीका—माया या कपट, मित्रता का नाश कर देता है । सम्यक्त्व का भी कपट से नाश हो सकता है । कपट से विश्वास उठ जाता है ।

(१२)

माया गई पडिग्धाओ,
लोभाओ दुह्माओ भयं ।

उ०, ९, ५४

टीका—माया से अच्छी गति का नाश होता है, और लोभ से दोनो लोक में भय पैदा होता है ।

(१३)

पेज्जवत्तिया मुच्छा दुविहा,
माए चेव लोहे चेव ।

ठाणा, २, रा, ठा, उ, ४, १३

टीका—राग यानी मूर्च्छा और राग जनित आसक्ति दो कारणों से हुआ करती है :— १ माया से और २ लोभ से ।

(१४)

मायं च वज्जणं सया ।

उ०, १, २४

टीका—माया का कपट का सदैव परित्याग करते रहना चाहिए क्योंकि माया आत्म-विकास के मार्ग में शल्य समान है, काटे के समान है । माया मैत्री का और सहृदयता का नाश करने वाली है ।

(१५)

जे इह मायाइ मिज्जई,
आगंता गम्भाय णंतसो ।

सू०, २, ९, उ, १

टीका—जो पुरुष यहाँ पर माया आदि कषाय का सेवन करता है, कपट क्रियाओं में ही सुख मानता है, उसे अनन्त बार जन्म-मरण चारण करने पड़ते हैं । उसे अनेक बार गर्भ में आने के दुःख उठाने पड़ेंगे ।

(१६)

जे माण दसी. से माया दंसी ।

आ०, ३, १२६, उ, ४

टीका—जो मान वाला है, उसके हृदय में कपट है ही । जिसके हृदय में मान होता है, उसके हृदय में कपट भी होता ही है । मान और माया का सहचर सम्बन्ध है ।

(१७)

माणो विणाय नासणो ।

द०, ८, ३८

टीका—मान विनय का नाश करता है, नम्रता को दूर भगाता है । मान से आत्मा में गुणों का विकास होना रुक जाता है ।

(१८)

आत्तणं न समुक्कस ।

द०, ८, ३०

टीका—अपने आपको बड़ा नहीं समझे, यानी अहकार का सेवन नहीं करे । अहकार-सेवन से आत्मा की उन्नति रुकती है, ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य में बाधा पहुँचती है, एव-मरणात् में दुर्गति की प्राप्ति होती है ।

(१९)

न बाहिरं परिभवे ।

द०, ८, ३०

टीका—कभी किसी को तिरस्कार नहीं करे । तिरस्कार करने से पर के मर्म की हिंसा होती है, तथा अपनी आत्मा में मान-कषाय का पोषण होता है ।

(२०)

सुअलामे न मज्जिज्जा ।

द०, ८, ३०

टीका—बहुत विद्वान् होने पर भी विद्या का अभिमान नहीं करे । अपने श्रुत-ज्ञान के प्रति अहंकार-भावना नहीं लावे । अहंकारी का सदैव सिर नीचा ही रहता है ।

(२१)

इमा पया बहु माया,
मोहेण पाउडा ।

सू०, २, २२, उ, २

टीका—भौतिक-सुख की मान्यता वाली आत्माएं माया आदि कषाय से युक्त होती हैं । और मोह से ग्रसित होती हैं । ऐसी आत्माएं अनन्त काल तक ससार में परिभ्रमण करती रहती हैं ।

(२२)

छन्नं च पसंस गौ करे,
न य उक्कोस पगास माहणे ।

सू०, २, २९, उ, २

टीका—विवेक शील पुरुष, छन्न यानी अभिप्राय को छिपाने रूप माया न करे । प्रशस्य-यानी सभी ससारी आत्माओं में रहने वाला लोभ भी न करे । उत्कर्ष यानी जन साधारण को विवेक हीन कर देने वाला जो अभिमान है, उसको भी स्थान न दे । इसी प्रकार प्रकाश यानी आत्मा के स्वभाव को विकृत रूप से पेश करने वाला जो क्रोध है, उसको भी तिलांजली दे दे । “कषाय-मुक्ति किल मुक्ति रेव” यही सिद्धांत आदर्श है ।

(२३)

अहे वयइ कोहेणं,
माणेणं अहमा गई ।

उ०, ९, ५४

टीका—क्रोध से अधोगति में जाता है और मान से नीच-गति की प्राप्ति होती है ।

(२४)

उक्कसं जलणं णूंम,
मज्झत्थं च विगिंचय ।

सू०, १, १२, उ, ४

टीका—आत्मा का हित चाहने वाला पुरुष, क्रोध. मान, माया और लोभ का त्याग कर दे । कषाय के त्याग में ही आत्मा का अमर मुख रहा हुआ है ।

(२५)

णो कुज्जे णो माणि ।

सू०, २, ६ उ, २

टीका—न तो क्रोध करे और न मान करे । आत्मार्थी का यही मार्ग है । परमार्थी का यही जीवन—व्यवहार है ।

(२६)

कोहं माणं ण पत्थय ।

सू०, ११, ३५

टीका—क्रोध और मान को सर्वथा छोड़ दो । क्रोध नाना पापों को लाने वाला है । यह विवेक, समता, सद्बुद्धि आदि गुणों का नाश करने वाला है । इसी प्रकार मान भी सभी गुणों का नाश करने वाला है । आत्माकी उन्नति को रोक कर उसे पीछे धकेलने वाला है ।

(२७)

जे कोह दंसी से माण दंसी ।

आ०, ३, १२६, उ, ४

टीका—जो क्रोधी है, वह मानी भी है ही । जिसके हृदय में क्रोध का निवास है, उसके हृदय में मान भी अवश्य है । क्रोध और मान का परस्पर में अविनाभाव सम्बन्ध समझना चाहिये ।

(२८)

दोस वत्तिया मुञ्छा दुविहा,
कोहे चेव, माणे चेव ।

ठाणा, २रा, ठा, उ, ४, १३

टीका—द्वेष-मूर्च्छा, अथवा द्वेष-जनित घृणा, दो कारणों से हुआ करती है :— १ क्रोध से और २ मान से ।

(२९)

सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे,
विउमंता पयहिज्ज संथवं ।

सू०, २, ११, उ, २

टीका—सूक्ष्म शल्य का नाश करना यानी अभिमान का त्याग करना बड़ा ही दुष्कर काम है । जड़ मूल से इसको उखाड़ फेंकना अत्यन्त कठिन है, इसलिये आत्मार्थी पुरुष वदना-पूजना आदि रूप परिचय से दूर रहे । मुमुक्षु आत्मा वदना-पूजना, यश-कीर्ति की चाछा न करे । सेवा और त्याग को ही सर्वस्व समझे ।

(३०)

दुविहे बंधे पेज्ज बंधे चेव,
दोस बंधे चेव ।

ठाणा, २ रा, ठा, उ, ४, ४

टीका—आत्मा के साथ कर्मों का बंधन दो कारणों से हुआ करता है— १ राग भाव से और २ द्वेष भाव से । माया और लोभ के कारण से राग भाव पैदा होता है, तथा क्रोध और मान से द्वेष भाव पैदा हुआ करता है ।

(३१)

एत्थ मोहे पुणो पुणो ।

आ०, ५, १४३, उ, १

टीका—जब तक ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का आराधन करके आत्मा को पूर्ण निर्मल नहीं किया जायगा, शान्त और अनासक्त नहीं किया जायगा, तब तक बार बार मोह अपनी ताकत लगाता ही रहेगा । मोह की प्रवृत्तियों का प्रवाह अनासक्त होने पर ही रुक सकता है, अन्यथा नहीं ।

(३२)

मोहेण गर्भं मरणाइं एह ।

आ०, ५, १४३, उ, १

टीका—मोह कर्म के कारण से ही ससारी जीव को बार बार गर्भ में आना पड़ता है और बार बार मृत्यु के चक्कर में फसना पड़ता है । मोह की महिमा बहुत ही गूढ़ है, वह अनेक रूप धारण कर जीवन में आता है । मोह आत्मा को मदिरा के समान वेभान कर देता है । ससार का सारा चक्र मोह रूपी नट के हाथ में ही स्थित है ।

(३३)

अहिगरणं न करेज्ज पंडिप्प ।

सू०, २, १९, उ, २

टीका—जो पंडित है, यानी जो आत्मा को शाश्वत् सुख में पहुँचाना चाहता है, तो उसको कलह से दूर ही रहना चाहिये । वैर-भाव, लड़ाई-झगडा आदि के स्थान पर प्रेम, सहानुभूति और बन्धुत्व भावना रखनी चाहिये ।

(३४)

आरम संमिया कामा,
न ते दुक्ख त्रिमोयगा ।

सू०, ९, ३

सूक्ति-सुधा]

टीका—जो विषय लोलुप है, और जो तृष्णा मय आरंभ कार्यों से भरे हुए है, ऐसे पुरुष दुःखों से यानी आठों कर्मों के जाल से मुक्त होने वाले नहीं है। वे तो कोल्हू के बेल के समान निरन्तर संसार में ही चक्कर लगाते रहेंगे।

(३५)

अणुवसन्तेणं दुक्करं दमसागरो ।

उ०, १९, ४३

टीका—जिस आत्मा की कषाय वृत्ति शान्त नहीं है, ऐसी आत्मा से दम रूप समुद्र का यानी इन्द्रिय-दमन रूप सागर का-तैरा जाना दुष्कर है। संसार से मुक्ति पाने के लिये कषायों पर विजय प्राप्त करना सर्व प्रथम आवश्यक है।

(३६)

अवि ओसिण धासति पावकम्मी ।

सू०, १३, ५

टीका—कलह आदि कषाय में और ईर्ष्या-द्वेष में सलग्न पुरुष अघम है, वह पाप कर्मों है, और दुःख का ही भागी है।

(३७)

जो विग्गहीण अन्नाय भासी,

न से समे होइ अझंझपत्ते ।

सू०, १३, ६

टीका—जिस पुरुष की वृत्ति ही झगडा करने की हो गई है, तथा जो न्याय को छोड़कर बोलता है, यानी अनीति पूर्वक भाषण करता है, ऐसा पुरुष राग और द्वेष से युक्त होने के कारण समता धर्म नहीं प्राप्त कर सकता है, वह शांति का अनुभव नहीं कर सकता है और न कलह से ही उसका छुटकारा हो सकता है।

कामादि-सूत्र

(१)

नागो जहा पंक तलाव सन्नो,
एवं वयं काम गुणोसु गिद्धा ।

उ० १३, ३०

टीका—जैसे हाथी कीचड़ वाले तालाव में फस जाता है और कीचड़ की बहुतायत से वही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही हम संसारी जीव भी काम-भोगों में फसे हुए हैं और अंत में मर कर दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

(२)

अबंभ चरिअ घोरं ।

द०, ६, १६

टीका—अब्रह्मचर्य, मैथुन या वीर्य-नाश घोर पाप है, इससे आत्मा का तो पतन होता ही है, परन्तु गारीरिक, मानसिक और वाचिक शक्तियाँ भी इससे नष्ट होती हैं। सामारिक आपत्तियाँ भी नाना प्रकार की इससे पैदा हो जाती हैं।

(३)

इत्थी वसं गया वाला,
जिण-सासन परम्मुहा ।

सू०, ३, ९, ३, ४

टीका—स्त्री के वश में गये हुए जीव यानी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करने वाले मूर्ख-अज्ञानी जीव, जिन-शासन से—अहिंसा धर्म से परामुख है यानी ऐसे कामी पुरुष जिन-शासन के पालक या आराधक नहीं कहे जा सकते हैं।

(४)

रुवेहिं लुप्यन्ति भयावहेहिं ।

मू० १३, ३१

टीका—स्त्री का रूप, अंग-प्रत्यंग आदि भयकर है, जो पुरुष स्त्री के रूप में आसक्त होते हैं, उनकी इस लोक में भी निंदा होती है, और पर लोक में नरक-आदि नीच-गति की प्राप्ति होती है । दोनों लोक में स्त्री-आसक्ति से विविध दुःख, ताड़ना, मारना आदि पीड़ाएँ सहन करनी पड़ती हैं ।

(५)

कामे कमाही, कमियं खु दुक्खं ।

द०, २, ५

टीका—कामनाओं को यानी पांचों इन्द्रिय संबंधी विषयों को और मन की वासनाओं को हटा दो । इससे दुःख, सक्लेश, जन्म-मरण आदि व्याधियाँ अपने आप ही हट जायगी । विषय-वासना का नाश ही दुःख का नाश है ।

(६)

मूलमेय महमस्स ।

द०, ६, १७

टीका—यह अब्रह्मचर्य पाप की जड़ है, अधर्म का मूल है । यह सभी प्रकार के पतन और दुःखों को लाने वाला है । इस लोक और परलोक में शांति चाहने वाले को इससे वचना चाहिये ।

(७)

सल्लं कामा विसं कामा,

कामा आसी विसोवमा ।

उ०, ९, ५३

टीका—ये काम-भोग तीक्ष्ण नोक वाले शल्य यानी काटे के समान हैं, जो कि शरीर और चित्त में गहरे घुसकर रात और दिन

घीड़ा पहुँचाते रहते हैं। ये मधु-मिश्रित विष के समान हैं, जो कि भोगते समय तो मधुर दिखाई देते हैं; किन्तु परिणाम में घोर दुःख के देने वाले हैं। ये काम-भोग, जिसके डाढ़ में जहर है ऐसे सर्प के समान हैं, जो कि देखने में तो सुन्दर हैं, किन्तु स्पर्श करते ही आत्मा में महान् अनर्थ पैदा करने वाले हैं।

(८)

दुष्परिच्छया इमे कामा,
नो सुजडा अधीर पुरिसेहि ।

उ०, ८, ६

टीका—ये काम-विकार अत्यन्त कठिनाई से छूटते हैं, इसलिये अधीर पुरुषों से-निर्बल आत्माओं से ये विकार सरलता के साथ नहीं त्यागे जा सकते हैं। इनके लिये धैर्य और दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है।

(९)

कामा दुरतिचक्रमा ।

आ०, २, ९३, उ, ५

टीका—काम-भोगों की इच्छाएं बहुत ही कठिनाई से जीती जाती हैं। बहुत ही सावधानी के साथ, ज्ञान-पूर्वक प्रयत्न करने पर ही इन पर विजय और नियन्त्रण किया जा सकता है। इसलिये कभी भी काम-इच्छा को जीतने के प्रति ढीलाई नहीं रखनी चाहिये। बल्कि हर क्षण इनके लिये जागृत और प्रयत्नशील रहना चाहिये।

(१०)

काम भोग रसगिद्धा,
उववज्जन्ति आसुरे काण्ड ।

उ०, ८, १४,

टीका—काम-भोगों में मूर्च्छित, इन्द्रिय-रसों में आसक्त, विकार और वासनाओं में मूढ़ आत्माएँ मर कर असुर कुमारों में-हलकी जाति के देवों में उत्पन्न होती हैं।

(११)

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणा फलं व पक्खी ।

उ०, १३, ३१

टीका—जैसे पक्षी फल हीन वृक्ष को छोड़कर चले जाते हैं, वैसे ही काम-भोग भी पुरुष को क्षीण करके छोड़ देते हैं, यानी काम-भोगों से पुरुष क्षीण होकर, अशक्त होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ।

(१२)

भोगा इमे संग करा हवति ।

उ०, १३, २७

टीका—ये काम भोग ही, इन्द्रिय-पोषण की प्रवृत्तियाँ ही, दुःख देने वाले कर्मों का अर्थात् अनन्त जन्म मरण कराने वाले कर्मों का घोर वधन कराने वाली होती है ।

(१३)

खाणी अणत्थाण उ काम भोगा ।

उ०, १४, १३

टीका—काम-भोग और इन्द्रिय-विषय-विकार, अनर्थों की खान है । ये अनन्त विपत्ति और घोर पतन को लाने वाले हैं ।

(१४)

कामे संसार वट्टणे,
संकमाणो तणुं चरे ।

उ०, १४, ४७

टीका—काम-भोग अर्थात् मूर्च्छा और विकार वासना, इन्द्रिय-भोगों की आसक्ति संसार के दुःखों को बढ़ाने वाली है । भोगों से कदापि तृप्ति होने की नहीं है । ऐसा समझ कर यत्न पूर्वक इन से दूर होकर विचरण करे, अपना जीवन व्यतीत करे ।

(१५)

दुज्जय काम भोगे य,
निच्चसो परिवज्जण ।

उ०, १६, १४

टीका—ये काम-भोग अत्यंत कठिनाई से जीते जाने वाले हैं, पूर्ण ज्ञान-साधना और सतत जागरूकता होने पर ही इन काम-भोगों पर विजय प्राप्त की जा सकती है । अतएव सदैव के लिये ब्रह्मचारी इनका परित्याग कर दे ।

(१६)

काम भोगे य दुच्चण ।

उ०, १४, ४९

टीका—ये काम-भोग अत्यंत कठिनाई से त्यागे जाते हैं । इनसे पिड छुड़ाना महान् कठिन है । यत्न पूर्वक और ज्ञान पूर्वक ही भोगों का त्याग किया जा सकता है । इसलिये सदैव भोगों के प्रति जागरूक रहने की-सावधान रहने की आवश्यकता है ।

(१७)

सन्ता कामेसु माणवा ।

आ०, ६, १७५, उ, १

टीका—आश्चर्य की बात है कि मनुष्य काम-भोगों में फसे हुए है । पर-लोक, मौत और नाना-विध दुखों का जरा भी विचार भोग भोगते समय नहीं किया करते हैं । आयु क्षीण हो रही है, परन्तु इसका उन्हें जरा भी ख्याल नहीं है । क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है ?

(१८)

न कामभोगा समयं उवेन्ति ।

उ०, ३२, १०१

टीका—काम-भोगो मे आमक्त रहता हुआ प्राणी कभी भी राग द्वेष से रहित नहीं हो सकता है ।

(१९)

काम भोगेणु रापणं केसं संपडिवज्जई ।

उ०, ५, ७

टीका—काम भोग के अनुराग से, भोगों में आसक्ति रखने से क्लेश ही क्लेश प्राप्त होता है । भोगो से सुख की आशा करना बालू से तेल निकालने के समान है ।

(२०)

काम भोगा विसं ताल उडं ।

उ०, १६, १३

टीका—काम-भोग तालपुट विष के समान है जो कि तत्काल मृत्यु को लाने वाले है । आत्मा के गुणो का नाश करने वाले है । शीघ्र ही अधोगति को देने वाले है । काम-भोगो से सिवाय विनाश के, सिवाय नाना विघ्न दुःखो की प्राप्ति के अन्य कुछ भी प्राप्त होने वाला नहीं है ।

(२१)

वित्ते निद्धे य इत्थसु,

दुहओ मलं संविणाइ ।

उ०, ५, १०

टीका—स्त्रियो मे और धन में मूर्च्छित होने से, इनमें आसक्ति रहने से, आत्मा इस लोक मे भी अपना समय, अपनी शक्ति-और अपना जीवन व्यर्थ खोता है, तथा पर लोक मे भी नाना तरह के दुःख उठाता है । वास्तव मे भोग घृणित वस्तु है ।

(२२)

जहाय किरपाग फलां मणोरमा,
एओवमा काम गुणाविवागे ।

उ०, ३२, २०

टीका—जैसे किरपाक-फल देखने में सुन्दर और आकर्षक होते हैं, खाने में स्वादिष्ट और मधुर होते हैं, परन्तु परिणाम में विपरिणाम रूप है, प्राण-नाशक है, वैसे ही काम-भोग भी देखने में सुन्दर, आकर्षक, मनोरम होते हैं और भोगने में क्षण-भर के लिये-थोड़ी देर के लिये आनन्द-जनक, सुख दायक प्रतीत होते हैं, परन्तु फल में आत्म-घातक, दुर्गति-दायक और अनन्त जन्म-मरण के बढ़ाने वाले होते हैं ।

(२३)

कामाणु गिद्धिप्पभवं खु दुक्खं ।

उ०, ३२, १९

टीका—निश्चय करके दुःख की उत्पत्ति काम-भोगों में मूर्च्छित होने से पैदा होती है । मूर्च्छा ही दुःख है ।

(२४)

कुररी वि वाभोग रसाणु गिद्धा,
निरट्ठ सोया परिताव मेह ।

उ०, २०, ५०

टीका—काम भोगों में और इन्द्रिय रसों में निरन्तर आसक्त जीव, विकार और वासनाओं में मूर्च्छित जीव, निरर्थक शोक करने वाली कुररी नामक पक्षिणी की तरह मरने पर घोर वेदना और असह्य परिताप को ही प्राप्त होता है ।

(२५)

सन्ताइह काम-मुच्छिया,
मोहं जंति नरा असंबुडा ।

सू०, २, १०, उ, १

टीका—जो पुरुष अथवा जो आत्माएँ इस मनुष्य-भव में, अथवा इस ससार में आसक्त हैं, एव काम-भोग में मूर्च्छित हैं, तथा हिंसा आदि पापों से निवृत्त नहीं हैं, वे पुरुष मोहनीय-कर्म का सचय करते हैं ।

(२६)

गिद्ध नरा कामेसु मुच्छिया ।

सू०, २, ८, उ, ३

टीका—क्षुद्र मनुष्य ही काम भोग में मूर्च्छित होते हैं । लघु प्रकृति के जीव ही विषयो में आसक्त होकर नरक आदि यातना-स्थान को प्राप्त करते हैं ।

(२७)

वज्जय इत्थी विसलित्तं, व कटंगं नञ्चा ।

सू०, ४, ११, उ, १

टीका—जैसे विष-लिप्त काटा तत्काल निकाल कर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार अनन्त जन्म-मरण को उत्पन्न करने वाले स्त्री रूप काटे को भी तत्काल छोड़ देना चाहिये । यानी पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ जीवन-व्यतीत करना चाहिए । जीवन विकास के इच्छुक को सर्व-प्रथम ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिये ।

(२८)

नो विहरे सह णमित्थीसु ।

सू० ४, १२, उ, १

टीका—आत्म-कल्याण की भावना वाला, स्व-पर-सेवा की इच्छा वाला, स्त्रियों के साथ विहार नहीं करे । स्त्रियों की सगति से सदैव दूर रहे ।

(२९)

अदङ्गखु कामाई रोगवं ।

सू०, २, २, ७, ३

टीका—जिन्होंने निश्चय रूप से, अडोल हृदय से, काम-भोगों को साक्षात् रोग रूप समझ लिया है, मैथुन को दुःखों का मूल-स्थान और आदि-कारण समझ लिया है, वे मुक्त-आत्मा के समान ही हैं, उन्हें गीघ्र ही मुक्ति प्राप्त होगी, इसमें जरा भी सदेह नहीं है ।

(३०)

विसन्ता विसयं गणाहिं,
दुह्योऽवि लोयं अणु संचरंति ।

सू०, १२, १४

टीका—जो जीव विषयो में अर्थात् भोगों में और स्त्रियो में आसक्त है, जो विषयांव है, भोगांव है या कामांव है, वे बार बार स्थावर और त्रस-योनियो में जन्म लेते हैं, अनन्त जन्म मरण करते हैं, उनको संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करना पड़ेगा ।

(३१)

विसण्णं झियायंति,
कंका वा कलुसाहमा ।

सू० ११, २८

टीका—जो विषय-भोगों की प्राप्ति का ध्यान करते रहते हैं, वे ढक पक्षी की तरह पापी और अवम है । जैसे ढक आदि पक्षी सदैव मछली पकड़ने का ही ख्याल रखते हैं, वैसे ही मूढ़ जन भी सदैव विषय-पोषण और विकार सेवन का ही ख्याल रखते हैं । ऐसे प्राणी निश्चय ही नीच और दुष्ट हैं, तथा निरन्तर दुःख के ही भागी हैं ।

(३२)

सच्च लोयंसि जे कामा,
ते विज्जं परिजाणिया ।

सू०, ९, २२

टीका—समस्त लोक में जो काम-भोग है, विद्वान् पुरुष उनको दुःख के कारण समझ कर तथा ससार में परिभ्रमण कराने वाले समझ कर उन्हें त्याग दे । काम भोग से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर दे ।

(३३)

पंचविहे काम गुणे निच्चसो परिवज्जय ।

उ०, १६, १०,

टीका—पांचो प्रकार के काम गुणो को—(१) मधुर काम वर्द्धक शब्द, (२) काम दृष्टि से देखना (३) पुष्प माला आदि सुगन्धित पदार्थों का शृङ्गार, (४) काम वर्द्धक-भोजन और (५) काम वर्द्धक स्पर्श-क्रिया आदि को ब्रह्मचारी सदैव के लिये छोड़ दे । ब्रह्मचर्य की धात करने वाली पांचो इन्द्रियो की प्रवृत्ति का ब्रह्मचारी परित्याग कर दे ।

(३४)

काम कामी खलु अयं पुरिसि,
से सोयइ, जूरइ, तिण्णइ, परित्पइ ।

आ०, २, ९३, उ, ५

टीका—जो कामान्ध होता है, जो भोगान्ध होता है, उसे भोग-पदार्थों का वियोग होने पर, रोग होने पर अथवा मृत्यु के सन्निकट आने पर शोक करना पड़ता है, झूरना पड़ता है, प्रलाप करना पड़ता है, आंतरिक बाह्य रूप से ताप, परित्याप भोगना पड़ता है, घोर

वेदना और असह्य मानसिक खेद उठाना पड़ता है । भोगी न तो कभी सुखी हुआ है और न कभी होगा ।

(३५)

अज्ज्ञोववन्ना कोमेहिं,
पूयणा इव तरुण ए ।

सू०, ३, १३, उ, ४

टीका—जैसे पूतना नामक डाकिनी अथवा रोग-विशेष बालकों पर आसक्त रहता है, वैसे ही आत्मिक सुख का विरोधी पुरुष भी—कामान्ध पुरुष भी—काम-भोगों में अत्यंत मूर्च्छित रहते हैं । जिसका परिणाम नरक, तिर्यच आदि गति में परिभ्रमण करना होता है ।

(३६)

थस्मा कोहा पमाएणं,
रोगेणाजस्सएण य सिक्खा न लब्भई ।

उ०, ११, ३

टीका—अहंकार से, क्रोध से, प्रमाद से, रोग से और आलस्य से—इन पाच-कारणों से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है । ज्ञान प्राप्ति के लिये विनय, नम्रता, प्रयत्न, और भावना में आकाक्षा की आवश्यकता है ।

(३७)

थद्धे लुद्धे षणिग्गहे अविणीय ।

उ०, ११, २

टीका—जो अहंकार युक्त है, लोभी है, और इन्द्रियो का गुलाम है, वह अविनीत है । वह भगवान की आज्ञा का विराधक है । जो विराधक है, वह मोक्ष से दूर है ।

(३८)

बोन्धिद सिगोहं मप्पणो ।

उ०, १०, २८

टीका—आत्मा मे रहे हुए मोह, मूर्च्छा, आसक्ति, वासना और विकार को काट दो, इन्हे हटा दो ।

(३९)

बहिया उद्ध मादाय,
नान्कखे कयाइ वि ।

उ०, ६, १४

टीका—अनासक्त जीवन को ही और स्थितप्रज्ञ अवस्था को ही सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ समझ कर आत्मार्थी पुरुष विषयसुख की किसी भी समय मे और किसी भी देश मे आकांक्षा न करे, भोग सुख की तृष्णा न करे ।



क्रोध-सूत्र

(१)

क्रोहो पीडं पणासेह ।

द०, ८, ३८

टीका—क्रोध, प्रेम का और मित्रता का नाश करता है । क्रोध से हिंसा की, अविवेक आदि दुर्गुणों की उत्पत्ति होती है ।

(२)

उवसमेण ह्वणे क्रोहं ।

द०, ८, ३९

टीका—शांति गुण से क्रोध को हटाना चाहिये । शांति के बल पर हिंसक से हिंसक प्राणी भी और विरोधी से विरोधी मनुष्य भी बन्ध में हो जाता है ।

(३)

क्रोहं असच्चं कुब्बेज्जा ।

उ०, १, ३४

टीका—सदैव क्रोध को दवाते रहना चाहिये । क्रोध का जड़-मूल से नाश हो ऐसा प्रयत्न करते रहना चाहिये । क्योंकि क्रोध वैर-विरोध का मूल है ।

(४)

कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जय ।

द०, ५, १२, उ, प्र,

टीका—हित को चाहने वाला पुरुष क्लेश को, वाक्युद्ध को और अन्यविध लड़ाई को दूर से ही छोड़ दे । यानी उसके समीप नहीं जावे ।

(५)

आसुरत्तं न गच्छिज्जा,
सुच्चाणं जिण-सासणां ।

द०, ८, २५,

टीका—जिन-शासन यानी जैन धर्म के सिद्धान्तों का रहस्य समझ कर कभी किसी पर क्रोध नहीं करे । क्रोध विवेक को भ्रष्ट करने वाला है, बुद्धि को उलझन में डालने वाला है, प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का भेद नहीं करने वाला है । क्रोध कलह को पैदा करने वाला है और अतः दुर्गति का दाता है ।

(६)

न ह्यमुणी क्रोवपरा हवन्ति ।

उ०, १३, ३१

टीका—मुनि, आत्मार्थी कभी क्रोध नहीं करते हैं । संयमी कषाय-भाव से दूर ही रहते हैं ।

(७)

दुक्खिहे कोट्ठे-आय पइट्ठिण चेव,
पर पइट्ठिण चेव ।

ठाणा०, २ रा, ठा, उ, ४, ६

टीका—क्रोध दो प्रकार का कहा गया है—१ आत्म प्रतिष्ठित और २ पर-प्रतिष्ठित । स्वभाव से ही आत्मा में उत्पन्न होने वाला क्रोध तो आत्म-प्रतिष्ठित है और बाह्य-कारणों से आत्मा में उत्पन्न होने वाला क्रोध पर-प्रतिष्ठित है ।

हिंसा-सूत्र

(१)

पाणि वहं घोरं ।

द०, ६, ११

टीका—प्राणियों का वध करना, मनु, वचन और काया से जीवों को कष्ट पहुँचना घोर पाप है ।

(२)

अजयं चरमणो अ पाण भूयाइं हिंसइ ।

द०, ४, १

टीका—जो अयत्ना से यानी अविवेक से और उच्छृखलता से चलता है, उसको प्राणियों की उसके द्वारा भले ही हिंसा न होती हो तो भी प्राणियों को मारने का पाप लग जाता है ।

(३)

अजयं भुजमाणो अ,

पाण भूयाइं हिंसइ ।

द०, ४, ५

टीका—जो अयत्ना से, अविवेक से और लोलुपता से, भोजन करता है, उसको प्राणियों की उसके द्वारा भले ही हिंसा न होती हो तो भी प्राणियों को मारने का पाप उसको लग जाता है ।

(४)

हिंसन्नियं वा ण कहं करेज्जा ।

सू०, १०, १०

टीका—जिन कथा-वार्त्ताओं से हिंसा पैदा होने की सम्भावना जनसे हिंसा को अर्थात् पर-पीडन को और गरीबों के शोषण

को उत्तेजना मिलती हो, ऐसी कथा-वार्ताओं से तथा चर्चाओं से दूर रहे ।

(५)

न हु पाणं वहं अणुजाणे,
मुच्चैर्ज्ज कयाह सव्व दुक्खाणां ।

उ०, ८, ८

टीका—प्राणियों के प्राणों के वध की, उनको नाश करने की अनुमोदना करने वाला मनुष्य कभी भी सम्पूर्ण दुखों से छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता है । ऐसा मनुष्य कभी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता है ।

(६)

किं हिंसाय पसज्जसि ।

उ०, १८, ११

टीका—हिंसा में क्यों आसक्त होते हो ? हिंसा कदापि सुख की देने वाली नहीं है । हिंसा राग और द्वेष को ही पैदा करने वाली है । हिंसा दुःख का ही मूल है ।

(७)

ए पंडिय अगणि समारम्भज्जा ।

सू०, ७, ६

टीका—पंडित मुनि, आत्मज्ञ पुरुष अग्नि का समारम्भ नहीं करे । यानी सम्यक्-दर्शनी और श्रावक आदि मनुष्य बड़े २ मील, कारखाने आदि रूप अग्नि का समारम्भ नहीं करे ! क्योंकि इनमें त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा के साथ साथ मनुष्यों का शोषण भी होता है तथा साथ में नैतिक पतन भी होता है ।

(८)

पाणाणि चैवं विणिहन्ति मंदा ।

सू०, ७, १६,

टीका—मूर्ख जीव, अज्ञानी नेताओं के पीछे चलकर भोगों के लिये और मनोरंजन के लिये नाना विध प्राणियों की घात करते रहते हैं, और अन्त में घोर कष्ट दायक कर्मों का बन्धन करते रहते हैं



लोभ-सूत्र

(१)

लोभो सव्व विणासणो ।

उ०, ८, ३८

टीका—लोभ सभी आत्मिक-गुणों का नाश कर देता है । लोभ पाप का वाप है । लोभ वशात् मनुष्य न जाने क्या क्या पाप कर बैठता है ?

(२)

इच्छा हु आगास समा अणन्तिया ।

उ०, ९, ४८

टीका—विश्व भर की संपत्ति और वैभव प्राप्त हो जाने पर भी लोभी चित्त को शांति नहीं हो सकती है, क्योंकि इच्छा-तृष्णा तो आकाश के समान अनन्त है, इनका कोई पार नहीं है, ऐसा सोच कर सतोष को ग्रहण करना चाहिये ।

(३)

दुष्पूरण इमे आया ।

उ०, ८, १६

टीका—संसार का संपूर्ण वैभव भी प्राप्त हो जाय, पुद्गलों की अपरिमित रूप से सुखमय प्राप्ति हो जाय, तो भी तृष्णा-ग्रस्त आत्मा सतुष्ट नहीं हो सकती है । तृष्णा के आगे तृप्ति अत्यंत कठिन है । इसलिये यह आत्मा दुष्पूर है ।

(४)

जहा लाहो तहा लोहो,
लाहा लोहो पवइढई ।

उ०, ८, १७

टीका—ज्यो ज्यो लाभ होता जाता है, त्यों त्यों लोभ बढ़ता जाता है, इस प्रकार तृष्णा के रहते हुए लाभ से लोभ बढ़ता ही रहता है ।

(५)

मोहाययणां खु तण्हा ।

उ० ३२, ६

टीका—तृष्णा ही मोह का स्थान है, मोह का नाश करने के लिये सर्व-प्रथम तृष्णा का नाश किया जाना चाहिये । तृष्णा रूपी लता के जन्म-मरण रूपी कटु फल है ।

(६)

मोहं च तण्हाययणां ।

उ०, ३२, ६

टीका—मोह तृष्णा का घर है, तृष्णा के नाश के लिये मोह की वृत्तियों पर नियंत्रण रखना परम आवश्यक है ।

(७)

भव तएहा लया बुत्ता,
भीमा भीम फलोदया ।

उ०, २३, ४८

टीका—ससार में तृष्णा यानी अतृप्ति एक प्रकार की विषलता के समान कही गई है, जो कि बड़ी ही भयंकर है, और जो भयंकर फलो को, यानी नानाविध आपत्तियों को और विपत्तियों को-

देने वाली है । तृष्णा कभी भी शांत होने वाली नहीं है और यह आकाश के समान अनन्त विस्तृत है ।

(८)

करेइ लोहं वेरं बद्धेइ अप्पणो ।

आ०, २, ९५, उ, ५

टीका—जो लोभ करता है, जो तृष्णा-वासना में फसा रहता है, उसके लिये चारों तरफ से वैर-भावना ही बढ़ती है । उसको प्रति क्षण क्लेश ही क्लेश आते रहते हैं । लोभ में वास्तविक शांति का सर्वथा अभाव है ।

(९)

इच्छा कामं च लोभ च,

सज्जथो परिवज्जेय ।

उ०, ३५, ३

टीका—सयती आत्मा और तत्त्व दर्शी आत्मा अपने में रहने हुई इच्छा को, मूर्च्छा को, मूढता को, पाचो इन्द्रियो के काम-गुणों को और लोभ को छोड़ दे ।

(१०)

अतुट्ठ दोसेण दुहीपरस्स,

लोमाविले आययई अदत्तं ।

उ०, ३२, ६८

टीका—जिस प्राणी का चित्त असतोष से भरा हुआ होता है, वह सदैव दुखी रहता है । ऐसा प्राणी दूसरे के सुख को देख कर अदर ही अदर मन में जला करता है, और लोभाघ होकर दूसरे की वस्तु को अदत्ता-रूप से अर्थात् चोरी रूप से लेने की तैयार हो जाता है ।

(११)

इच्छां लोभं न सेविज्जा ।

आ० ८, ३९, उ, ८

टीका—सासारिक पुद्गलो की अथवा सांसारिक सुखों की इच्छा कभी भी नहीं करनी चाहिये । लोभ-तृष्णा का भी परित्याग कर देना चाहिये । लोभ ही-अनर्थों की जड़ है । अतएव लोभ का नाश करना, तृष्णा-जाल को दूर फेक देना, जीवन-विकास के लिये आवश्यक सीढ़ी है ।

(१२)

संतोसिणो नो पकरेंति पावं ।

सू०, १२, १५

टीका—संतोषी पुरुष पाप कर्म नहीं करते हैं । संतोष से चित्त वृत्तियां स्थिर होती हैं, और इससे सेवा तथा कर्त्तव्य के मार्ग की तरफ अभिरुचि बढ़ती है । संवर और निर्जरा का आचरण जीवन में बढ़ता है । नवीन कर्म रुकते हैं, और प्राचीन कर्म क्षय होते हैं, इससे आत्मा निर्मल और सबल होती है, यही मोक्ष का मार्ग है ।

(१३)

आयं ण कुज्जा इह जीवियट्ठी ।

सू०, १०, १०,

टीका—कल्याण के अर्थी पुरुष, ससार का अंत करने वाले पुरुष, चिरकाल तक जीवित रहने की इच्छासे द्रव्य-पदार्थों का संचय नहीं करे । तृष्णा-भाव नहीं रखे । घनादि पदार्थों और मकानों का संग्रह नहीं करे ।

(१४)

विणीअ तिण्हो विहरे ।

द०, ८, ६०

टीका—तृष्णा को हटा कर, लालसा से रहित होकर, जीवन को परम संतोष के साथ व्यतीत करना चाहिये ।

(१५)

पथीयप कामगुणोसु तएहा ।

उ०, ३२, १०७

टीका—शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श, इन काम-भोगों में तृष्णा को हटाओ, इन्हें छोड़ोगे तभी सच्ची शांति प्राप्त होगी ।

(१६)

सर्वं पि ते अपज्जत्तं,

नेव ताणाय तं ।

उ०, १४, ३९

टीका—यदि सारे संसार का वैभव भी प्राप्त हो जाय, तो भी तृष्णा के लिये वह अपर्याप्त है । तृष्णा की शांति होना अत्यन्त कठिन है । संसार का वैभव आत्मा को जन्म-मरण से मुक्ति प्रदान करने में कदापि समर्थ नहीं हो सकता है । आत्मा की मुक्ति तो भोगों के छोड़ने में ही रही हुई है ।



अधर्म-सूत्र

(१)

अहम्सं कुण्माणस्स,
अफला जन्ति राइओ ।

उ० १४, २४

टीका—अधर्म करने वाले के लिये, पाप का सेवन करने वाले के लिये प्रत्येक रात्रि अर्थात् रात और दिन व्यर्थ ही जा रहे हैं ।

(२)

पडन्ति नरप् घोरे,
जे नरा पात्रे कारिणो ।

उ०, १८, २५

टीका—जो आत्माएँ पाप करने वाली हैं, जो पाँचों इन्द्रियों के भोग भोगने वाली हैं, जो मोह, माया और ममता में ही मस्त रहने वाली हैं, वे घोर नरक में पड़ती हैं । विविध दुःख को प्राप्त करने वाली होती हैं ।



भोग-दुष्प्रवृत्ति-सूत्र

(१)

णिक्खम्म से सेवइ अगारि कम्मं,
ण से पारए होइ विमोयणाए ।

सू० १३, ११

टीका—संयम-मार्ग पर आरुढ़ होकर भी जो पुरुष सांसारिक आरंभ-समारंभ करता है, या भोगो को भोगने की इच्छा करता है, ऐसा पुरुष अपने कर्मों को यानी अपनी दुष्प्रवृत्तियों को और वासनाओं को क्षय नहीं कर सकता है, और इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति भी या अनन्त निर्मलता की प्राप्ति भी उस कैसे हो सकती है ?

(२)

भोगा भुत्ता विसफलोवमा,
कडुय विवागा अणुबंध दुहावहा ।

उ०, १९, १२

टीका—हमने भोग तो भोगे है अथवा भोग रहे हैं, किन्तु इनके फल साक्षात् विष के समान हैं, इनका विषाक-या परिणाम अत्यंत कड़वा है. और निरन्तर दुःखो को देने वाला है ।

(३)

भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुन्दरो ।

उ०, १९, १८

टीका—भुक्ता भोगो का परिणाम कभी भी सुन्दर नहीं हो सकता है । इन भोगो का फल कदापि श्रेयस्कर नहीं हो सकता है ।

(४)

सदाणु गासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइणोगरूवे ।

उ०, ३२, ४०

टीका—जो पुरुष शब्द आदि इन्द्रिय-भोगो में सुख की खोज करता है, वह विविध रीति से अनेक त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है ।

(५)

दुष्खाइं अणुहोति पुणो पुणो,
मच्चु वाहि जरा कुले ।

सू०, १, २६, उ, १

टीका—भोगो में फँसी हुई आत्माएँ बार बार मृत्यु का, रोग का, दुःख का, सयोग-वियोग का, आदि नाना दुःखों का अनुभव करती हैं ।

(६)

रसा पगामं न निसेवियच्चा ।

उ०, ३२, १०

टीका—इन्द्रियो पर समय की इच्छा रखने वाले को दूध, दही, घृत, तेल, मेवा, मिठाई आदि रस-वर्धक एवं उत्तेजक आहार नहीं करना चाहिये ।

(७)

उवलेवो होइ भोगेसु,
अभोगी नोख लिप्पई ।

उ०, २५, ४१

टीका—पाचो इन्द्रियो के भोगों से कर्मों का ही बन्ध होता है, जीव को भोगों से नानाविध आपत्तियों का और विपत्तियों का ही सयोग होने की परिपाटी कायम होती है । और अभोगी जीव कर्मों से लिप्त नहीं होता है । अभोगी जीव को स्थायी आनन्द और निरा-चाह सुख की प्राप्ति होती है ।

(८)

भोगी भमइ संसारे,

अभोगी विष्णुचर्चई ।

उ०, २५, ४१, -

टीका—शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के भोगों में मूर्च्छित भोगी जीव-संसार में एवं नाना योनियों में परिभ्रमण करता ही रहता है । उसका अनन्त जन्म-मरण बढ़ जाता है । किन्तु अभोगी जीव, अनासक्त आत्मा या विषय मुक्त आत्मा, बन्धन के चक्कर से और दुःखों के जाल से छूट जाता है—मुक्त हो जाता है ।

(९)

जे गुणे से आवट्टे,

जे आवट्टे स गुणे ।

आ०, १, ४१, उ, ५

टीका—जहाँ पांचो इन्द्रियों के भोग हैं, वहाँ संसार है । और जहाँ संसार है, वहाँ पांचो-इन्द्रियों के भोग हैं । भोग और संसार का परस्पर में कार्य-कारण सम्बन्ध है, सहयोग सम्बन्ध है, तदुत्पत्ति सम्बन्ध है । भोगों के छोड़ने पर ही संसार का तथा सांसारिक तृष्णा और व्यामोह का भी छुटकारा हो सकेगा । गुण यानी भोग और आवट्टे यानी आवर्त्तन-सांसारिक जन्म मरण का चक्र ।

(१०)

पुणो पुणो गुणासाध,

वंक धेमांयारे ।

आ०, १, ४४, उ, ५

टीका—जो पुरुष बार बार इन्द्रियों के भोगों का आस्वादन करता है, भोगों में ही तल्लीन रहता है, वह असयमी है, वह पतित है, वह भ्रष्ट है । उसमें आत्म-बल, ज्ञान-बल, और कर्मण्यता-बल कभी भी विकसित नहीं हो सकते हैं, और जीवन में असयम के

कारण उसे अनेक नीच योनियों में जन्म-मरण और नानाविध दुखों का संयोग ग्रहण करना पड़ेगा ।

(११)

जे गुणसे मूल द्रुणे,

जे मूल द्वाणे से गुणे ।

आ०, २, ६३, उ, ११

टीका—जो आत्मा शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि भोगों में फँसा हुआ है, वह ससार के राग-द्वेष रूपी कीचड़ में ग्रसित है ही । इसी प्रकार जो ससार के राग-द्वेष में ग्रसित है, वह पाँचों इन्द्रियों के भोगों में अवश्यमेव ग्रसित है, जो गुण में यानी भोग में है, वह मूलस्थान में अथवा राग-द्वेष में है और जो मूल स्थान में है, वह गुण में है ही ।

(१२)

काम-समणुन्ने असमिय दुक्खे,

दुक्खी दुक्खमाणमेव आवट्ठं अणु परियद्वई ।

आ०, २, ८२, उ, ३

टीका—जो मनुष्य काम-भोगों को ही प्रिय समझता है, उसके दुःख कभी भी शान्त नहीं होते हैं, वह सदैव दुःखी होता हुआ ही दुःखों की परम्परा को प्राप्त करता रहता है ।

(१३)

जीवियं दुप्पडि बूढं ।

आ०, २, ९३, उ, ५

टीका—जो मनुष्य काम-भोगों में फँसकर अपना जीवन पूरा कर देता है, उसको पीछे घोर प्रश्नात्ताप करना पड़ता है, क्योंकि जीवन तो जितना है, उतना ही रहेगा, वह तो बढ़ाया नहीं जा सकता है, बल्कि भोगों के कारण अकाल मृत्यु भी हो सकती है । अतएव भोग में ग्रस्त रहना मूर्ख आत्माओं की वृत्ति है ।

(१४)

सर्वत्रो पमत्तस्स भयं ।

आ० ३, १२४, उ, ४

टीका—जो प्रमादी है, जो विषय में, विकार में, वासना में, तृष्णा, आदि में फसा हुआ है, उसको हर तरह से भय, चिन्ता और अशांति घेरे रहती है। प्रमादी को सब तरह से और सब ओर से भय ही बना रहता है।

(१५)

मंदा विसीयन्ति,
मच्छा विट्ठा व केयणे ।

सू०, ३, १३, उ, १

टीका—भोगों में मूर्च्छित जीव एवं मोह में डूबे हुए जीव इस तरह दुखे पाते हैं, जैसे कि जाल में फसी हुई मछली दुख पाती है। भोग ही रोग का और दुख का घर है।



कन्हैया लाल लोढा, एम० ए०
डी-८, नई अनाज सण्डी
बाँदपोल, जयपुर-१

अनिष्ट-प्रवृत्ति-सूत्र

(१)

संतप्पती असाहुकम्मा ।

सू०, ५, ६, उ, २

टीका—नीच कर्म करने वाला पुरुष महान् वेदनाएँ और ताप भोगता है। पाप और ताप का स्वाभाविक संबन्ध है।

(२)

दुक्खो इह दुक्खडेणं ।

सू०, ५, १६, उ, १

टीका—दुष्कृत से, इन्द्रिय-भोगों से, मन की वासनाओं से और सृष्ट्या से, इस लोक में भी अर्थात् इस जीवन में भी दुःख प्राप्त होते हैं और मरने पर भी दुःख प्राप्त होते हैं।

(३)

जे गारवं होइ सलोग गामी,

पुणो पुणो विप्परियासुवेति ।

सू०, १३ १२

टीका—जो अभिमान करता है, या जो अपनी स्तुति की यशः-कीर्ति की इच्छा रखता है, वह बार बार ससार में जन्म-मरण आदि दुःखों को भोगता है, वह अनिष्ट और विपरीत संयोगों को प्राप्त करता है, एवं तदनुसार नाना दुःखों का वह भागी बनता है।

(४)

अविणी अप्पा दीसंति दुहमेहंता ।

ब०, ९, ७, द्वि, उ,

टीका—अविनीत आत्माएँ-विकृत्यो, कलह, होंस्य, व्यसन, निद्रा, प्रमाद, आज्ञा-विराधना आदि दुर्गुणों में ग्रस्त आत्माएँ दुःख, रोग, वियोग, अपयश, अकीर्ति, विपत्ति, दरिद्रता, दुर्गति आदि अनिष्ट और अप्रिय सयोगों को प्राप्त करती हुई देखी जाती हैं।

(५)

बुद्धि से अविणी अष्पा,
कट्टं सोअगयं - जहा।

द०, ९, ३, द्वि, उ

टीका—जैसे समुद्र में सूखी लकड़ी का टुकड़ा कहीं का कहीं बह जाता है और लापता हो जाता है, वैसे ही अविनीत पुरुष भी धर्म-भ्रष्ट होकर ससार-समुद्र में डूब जाता है। अनन्त जन्म-मरण की वृद्धि कर लेता है।

(६)

न आवि-मुक्खो गुरु, हीलणाए।

द०, ९, ७, प्र, उ

टीका—गुरु की हीलना करने से, गुरु का अविनय करने से, उनकी आज्ञा का भंग करने से, मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

(७)

आसयण नत्थि मुक्खो।

द०, ९, ५, प्र, उ

टीका—आसातना में, यानी दृढ श्रद्धा के अभाव में, अविनय में और आज्ञा-भंग में मोक्ष नहीं रहा हुआ है। विकार-पोषण में और विकृत्यो में मोक्ष का अभाव है।

(८)

तिन्व जज्ज गुणवं, विहरिज्जासि।

द०, ५, ५२, उ, द्वि

टीका—लज्जा रहित जीवन और गुण रहित जीवन पृथ्वी पर भार-भूत है। इसलिये जीवन-विकास के लिये लज्जा शील और गुण शील होना चाहिये।

(९)

अगुणपेही गा आराहेइ संवरं ।

द०, ५, ४३, उ, द्वि

टीका—गुणों को नहीं देखने वाला यांनी छल-छिद्र को और अवगुणों को ही देखने वाला, सवर-धर्म का भागी नहीं हो सकता है, उसके लिये आश्रय अवस्था ही रहती है। उसकी आत्मा के साथ कर्मों का घोर बधन होता रहता है।

(१०)

पूयण्डा जसो कामी,
बहुं पसवइ पायं ।

द०, ५, ३७, उ, द्वि०

टीका—पूजा की, यश की इच्छा करने वाला, बहुत पाप का भागी होता है, क्योंकि पूजा, सन्मान और यश में आसक्ति रहने से, कपट, कृत्रिमता, झूठ आदि नाना पापों के साथ घोर पतन प्रारम्भ हो जाता है। इसलिये पूजा-सन्मान की और यश-कीर्ति की कामना नहीं रखना चाहिये।

(११)

अयेकरी अन्नेसी इखिणी ।

सू०, २, १, उ, २

टीका—दूसरे की निन्दा करने की बुराई कल्याण का नाश करने वाली है। पर-निन्दा करने से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, इससे कषाय-भाव पैदा होते हैं। इसलिये पर-निन्दा करना आत्म-घातक है और वह ससार को बढ़ाने वाली है।

(१२)

जो परिभवइ परं जगं,
संसारे परिवर्त्तई महं ।

सू०, २, २, उ, २

टीका—जो पुरुष दूसरे का तिरस्कार करता है, जो दूसरे का अपमान करता है, वह ससार में चिर काल तक घूमता है, वह अनेक-जन्म और मरण करता है ।

(१३)

इंखिणिया उ पाविया ।

सू०, २, २, उ, २

टीका—पर निन्दा साक्षात् पाप की प्रति-मूर्ति है, पाप की निधि ही है ।

(१४)

दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई ।

उ०, १, ४

टीका—दुराचारी, प्रतिकूल वृत्ति वाला और वाचाल प्रत्येक स्थान पर धिक्कारा जाता है । वह दुत्कारा जाता है । वह बहिष्कृत किया जाता है ।

(१५)

पडिणीए असंबुद्धे अविणीए ।

उ०, १, ३

टीका—व्यवहार से और मर्यादा से प्रतिकूल वृत्ति वाला, तथा समझदारी यानी योग्यता नहीं रखने वाला अविनीत कहलाता है । वह विनय-शून्य कहा जाता है ।

(१६)

बेराणुबद्धा नरयं उव्वेति ।

उ०, ४, २

टीका—जो अन्य जीवों से वैर बाधता है, जो हिंसा, कष्ट, पराधिकार-अपहरण आदि रूप वैर कार्य करते हैं, वे मर कर नरक में उत्पन्न होते हैं । वे घोर-कष्ट प्राप्त करते हैं ।

(१७)

पमत्ते अगार मावसे ।

आ०, १, ४५, उ, ५

टीका—जो पुरुष साधु वेश धारण करके भी अर्थात् त्याग-भावना का वेश धारण करके भी शब्द आदि इन्द्रिय-विषयो में अनुरागी है, वह द्रव्य साधु है, वह दिखाऊ त्यागी है । ऐसा पुरुष तो भोगों में फसे हुए पुरुष के समान ही है । गृहस्थ-पुरुष के समान ही वह आरभी-समारभी है । वह पाप-पंक में ही मग्न है ।

(१८)

दोसं दुग्गद वड्डणां ।

द०, ६, २९

टीका—दोष यानी आत्म-निर्वलता ही दुर्गति को बढ़ाने वाली है । इसलिये आत्मा को मवल, निर्भय, साहसी और सेवा-मय बनाना चाहिये ।

(१९)

सप्पहासं विवज्जय ।

द०, ८, ४२

टीका—अत्यन्त हसना भी नहीं चाहिये । क्योंकि अधिक हंसना असभ्यता का द्योतक है । यह गैर जिम्मेदारी को बढ़ाने वाला होता है ।

(२०)

जे इह आरंभ निस्सिया, आत दंडा ।

सू०, २, ९, उ, ३

टीका—जो पुरुष यहाँ पर आरंभ-परिग्रह में ही एवं स्वार्थ-पोषण में ही रत रहते हैं, वे अपनी आत्मा के प्रति घोर अत्याचार करते हैं, अपनी आत्मा के लिये वे नाना प्रकार का दुःख संचय करते हैं।

(२१)

मज्ज मंसं लसुणं च भोच्चा,
अनत्थ वासं परिकल्पयन्ति ।

सू०, ७, १३

टीका—प्राणी मोह-वश, एव भोग वश, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार न कर, मद्य, मांस लशुन आदि अभक्ष्य पदार्थों को भोग कर अपना ससार बढ़ाया करते हैं। इन्द्रिय-तृष्णा पर क्या कहा जाय ? मनुष्य इन्द्रियो के दास बन कर नाना दुःख उठाया करते हैं।

(२२)

रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किञ्चि ।

उ०, ३२, ७१

टीका—जो मनुष्य रात और दिन रसों में ही अनुरक्त है, उसको कभी भी कैसे सुख मिल सकता है।

(२३)

दुक्खी मोहे पुणो पुणो ।

सू० २, १२, उ, ३

टीका—दुःखी-प्राणी बार बार मोह को प्राप्त होता रहता है वह बार बार भले और बुरे के विवेक से रहित होता रहता है।

(२४)

पावाइं कम्माइं करन्ति ख्वा,
तिव्वाभितावे नरण पडन्ति ।

सू०, ५, ३, उ, १

टीका—प्राणियों के लिये नाना प्रकार का भय उत्पन्न करने वाले अज्ञानी जीव, सकारण और अकारण घोर पाप करते रहते हैं, और वे मर कर तीव्र ताप वाली एव घोर अधिकार वाली तथा महा दुःख देने वाली नरक में जाकर उत्पन्न होते हैं ।

(२५)

पावोवगा य आरभा,
दुक्खफासो य अंतसो ।

सू०, ८, ७

टीका—आरभ-समारभ ही, और तृष्णा की तृप्ति के लिये किया जाने वाला प्रयत्न ही, हिंसा झूठ आदि पाप को उत्पन्न करता है, और अन्त में परिणाम स्वरूप दुःख की परंपरा ही उत्पन्न होती है ।

(२६)

भुज्जो भुज्जो दुहावासं,
असुहत्तं तहा नहा ।

सू०, ८, ११

टीका—अज्ञान-भाव, स्वार्थ-भाव, इन्द्रिय-पोषण भाव और भोग-उपभोग की वृत्ति, ये सब जीव को बार बार दुःख ही दुःख देती रहती हैं, और ज्यो ज्यो अज्ञानी जीव दुःख-भोगता है, त्यो त्यो उसका अशुभ-विचार बढ़ता जाता है । इस प्रकार अज्ञान से अशुभ विचार और अशुभ-विचार से दुःखोत्पत्ति-यह चक्र चलता ही रहता है ।

(२७)

मिच्छ दिट्ठो अणालिया ।

सू०, ३, १३; ७, ४

टीका—जो अनार्य है, जो माम-मदिरा के खाने वाले है, जो

अहिंसा और ब्रह्मचर्य में विश्वास नहीं रखने वाले हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं, वे अनार्य हैं, और जो अनार्य हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं ।

(२८)

असमियंति मन्त्रमाणस्स,
समिया वा असमिया वा असमियाहोइ ।

आ०, ५, १६४, उ, ५

टीका—जो आत्मा ज्ञान में, दर्शन में और चारित्र में विश्वास नहीं करता है, जो जिन-वचनों के प्रति अश्रद्धा प्रकट करता है, वह मिथ्यात्वी है । उस मिथ्यात्वी के लिये सत्य भी झूठ हो जाता है । और झूठा ज्ञान तो उसके लिये झूठा है ही । यानी सत्य और झूठ दोनों ही उस मिथ्यात्वी के लिये झूठ रूप ही हैं । यह मिथ्यात्व-श्रद्धा का परिणाम है ।

(२९)

पाप दिट्ठी विहज्जई ।

उ०, २, २२

टीका—पाप दृष्टि वाला प्राणी विकार का और विषय का पोषण करने वाला होता है । वह मर्यादा का उल्लंघन करने वाला होता है । वह वीतराग भगवान् की वाणी और आज्ञा की विराधना करता है ।

(३०)

अणियते अयं वासे,
णायपहि सुहीहि य ।

सू०, ८, १२

टीका—आत्मा-अज्ञानवश “यह मेरा, यह मेरा” ऐसा कहता ही रहता है और अपने आपको इस मोह में भूलाये रखता है । परन्तु

आत्मा इस बात को भूल जाता है कि ज्ञाति वालों के साथ और वन्धु-वाधवों के साथ तथा वैभव एवं सुख सुविधाओं के साथ आत्मा का सम्बन्ध अनित्य है और एक दिन इन सब को छोड़ कर जाना है ।

(३१)

वीरा असमत्त वंसिणो,
असुद्धं तेसिं परक्कंतं ।

सू०, ८, २२

टीका—जो मिथ्यात्वी है, यानी जिनकी दृष्टि में पौद्गलिक सुख प्राप्त करना ही एक मात्र ध्येय है, ऐसे पुरुष भले ही वीर हों परन्तु उनका मारा प्रयत्न चाहे वह सत् हो या असत् कैसा भी हो—तो भी वह अशुद्ध ही है यानी पाप मय ही है । क्योंकि उनकी भावना, उनका दृष्टिकोण विपरीत है, इसलिये वे ससार में परिभ्रमण कर्त्ता है ।

(३२)

णिदं पि नो पगामाए ।

आ०, १६, ६९, छ, २

टीका—जिसको अपनी आत्मा का कल्याण करना है, उसके लिये अति निद्रा लेना अपराध है । अति निद्रा लेना प्रमाद है, और प्रमाद सेवन से इन्द्रियाँ सुख की अभिलाषा करने लग जाती हैं । इस प्रकार पतन का प्रारम्भ हो जाता है, इसलिये अति-निद्रा लेना आत्म-घातक पाप समझो ।

(३३)

तेसिं पि तवो ण सुद्धो,
निक्खता जे महाकुला ।

सू०, ८, २४

टीका—जो महापुरुष-चाहे वे बड़े कुल के ही क्यों न हों, किन्तु यदि उनके तप करने का और पर सेवा करने का ध्येय अपनी यशः

कीर्ति और मान मर्यादा प्राप्त करने मात्र जितना ही है, तो उनका यह तप और सेवा कार्य शुद्ध और हितावह नहीं कहा जा सकता है ।
वल्कि ससार बढ़ाने वाला ही कहा जायगा ।

(३४)

कीवा जत्थ य किस्संति,
नाइ संगेहिं मुच्छिया ।

सू०, ३, १२, उ, २

टीका—नपुंसक यानी दुर्बल आत्मा वाले पुरुष अपने ज्ञाति वर्ग-
वालों के साथ, या माता-पिता, पुत्र, भाई-बन्धु आदि के साथ मोह
में पड़ कर और भोगों से सम्बन्ध जोड़ कर, कर्त्तव्य-मार्ग से भ्रष्ट
हो जाते हैं और बाद में पश्चात्ताप करते हैं, इस प्रकार वे घोर दुःख
उठाते हैं ।

(३५)

आरंभा विरमेज्ज सुव्वप ।

सू०, २, ३, उ, १

टीका—आरम्भ-समारम्भ के कामों से, जीव-हिंसा और पर-
पीडन के कामों से, बड़े २ कल-कारखानों से, आत्म-हित की इच्छा-
वाला पुरुष दूर ही रहे । बड़े २ कल-कारखाने अनीति का प्रचार-
करने वाले, बेकारी को बढ़ाने वाले, जीव-हिंसा को उत्तेजना देने
वाले, तृष्णा को बढ़ाने वाले और मोह में ग्रस्त करने वाले होते हैं ।

(३६)

चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्ख
जोणियत्ताए, कम्मं पगरेंति,
माइल्लयाए, नियडिल्लयाए,
अलियवयणेणां, कूड तुल्ल कूड माणेणं ।

ठाणा०, ४ था, ठा, उ, ४, ३९

टीका—चार प्रकार के कामो से जीव तिर्यच-गति का बंध करते हैं—१, माया के कामो से, २ वचना करने से ठगाई से, ३ असत्य बोलने से और ४ खोटा तोल तथा खोटा माप करने से ।

(३७)

चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए
कम्मं पगरैति, महारभयाए,
महापरिग्रहयए, पचेन्द्रिय वहेणं,
कुणिमहारेणं ।

ठाणां०, ४ था, ठा, उ, ४, ३९

टीका—चार प्रकार के कामो से जीव नरक-गति का बंध करते हैं—१ महा आरभ के कामो से, २ महा परिग्रह से, ३ पचेन्द्रिय जीवो की घात करने से और ४ मास का आहार करने से ।

(३८)

प्राणा पाणे किलेसंति ।

आ०, ६, १७४, उ, १

टीका—प्राणी ही प्राणियो को दुःख देते हैं । राग-द्वेष-वशात् और कषाय-विकार-वशात् परस्पर में कलह करते हैं । एक दूसरे को हानि पहुँचाते हैं । एक दूसरे की हत्या करते हैं । परस्पर में ताड़ना, फटकारना-मारना-आदि क्लेश वर्धक कार्य करते हैं ।

(३९)

तिविहा उवही,

सच्चित्ते, अच्चित्ते, मीसए ।

ठाणा, ३, रा, ठा १, ला, ३, २७

टीका—वस्तुओं का संग्रह करना उपाधि है और वस्तुओ पर ममता-भाव रखना परिग्रह है । उपाधि तीन प्रकार की कही गई है—१ सचित्त उपाधि, २ अचित्त-उपाधि, और ३ मिश्र उपाधि ।

दास, दासी, नौकर-चाकर, पशु, पक्षी आदि का संग्रह करना सचित्त उपाधि है। मोटर, गाड़ी, खेत, मकान, सोना, चाँदौ, धान्य आदि का संग्रह करना अचित्त उपाधि है। सचित्त-अचित्त-दोनों का संग्रह मिश्र उपाधि है।

(४०)

छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्षं ।

उ०, ४, ८

टीका—इच्छाओं को तथा वासनाओं को, और आसक्ति को रोकने से ही, इन पर काबू करने से ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकती है। इच्छा, वासना और आसक्ति पर काबू नहीं करने वाला अनन्त जन्म-मरण करता है।

बाल-जन-सूत्र

(१)

बाल भावे अण्पाणं नो उवदंसिज्जा ।

आ०, ५, १६४, उ, ५

टीका—अन्य साधारण पुरुषों द्वारा आचरित मार्ग पर अपनी आत्मा को नहीं लगाना चाहिये, यानी जन-साधारण के मार्ग पर अपने जीवन को नहीं खेचना चाहिये । बल्कि जिस मार्ग को ऋषि-मुनियों ने और सत-महात्माओं ने श्रेष्ठ बतलाया है उसी पर चलना चाहिये । साधारण आदमियों का ज्ञान और आचरण सामान्य कोटि का, एवं इन्द्रिय-सुख प्राप्ति का होता है । साधारण आदमी तत्त्व के तह तक कैसे पहुँच सकते हैं ? अतएव आदर्श मार्ग का अवलम्बन करो ।

(२)

बाले य मन्दिप मूढे,
बुद्धि मच्छिन्ना व खेलन्नि ।

उ०, ८, ५,

टीका—बाल यानी आत्मा के गुणों की उपेक्षा करने वाला, मंद यानी हित और अहित का विवेक नहीं रखने वाला, मूढ़ यानी काम भोगों में और इन्द्रिय-विकारों में मूर्च्छित रहने वाला, ससार-चक्र में इस प्रकार फँस जाता है, जैसे कि मक्खी नाक और मुख के मल में यानी श्लेष्म में फँसकर जीवन खत्म कर देती है । इसी प्रकार भोगी आत्मा भी अपने सभी गुणों का नाश कर देती है ।

(३)

बालाणं मरणां असहं भवे ।

उ०, ५, ३

टीका—मूर्खों की, अज्ञानियों की और भोगियों की मृत्यु बार-बार होती है । उनको अनेक जन्म-मरण करने पड़ते हैं ।

(४)

लुप्यन्ति बहुसो मूढा,

संसारमि अणन्तप ।

उ०, ६, १

टीका—मूढ आत्माएँ यानी विषय और विकारों में ही मूर्च्छित रहने वाली आत्माएँ, इस दुःख पूर्ण संसार में अनन्त बार जन्म और मरण के चक्कर में फँसती हैं और निरन्तर दुःख ही दुःख भोगती हैं ।

(५)

अक्रोविया दुक्खं ते न इतुहंति,

सउणी पंजरं जहा ।

सू०, १, २२, उ, २

टीका—जैसे पक्षी पीजरे को नहीं तोड़ सकता है, वैसे ही अक्रोविद यानी भोगों में मूर्च्छित प्राणी, आसक्त-प्राणी भी कर्म-बन्धन को नहीं तोड़ सकते हैं । मूढ आत्माएँ तो निरन्तर कर्मों के जाल में फँसती ही रहती हैं ।

(६)

न कम्मणा कम्म खवेति बाला ।

सू०, १२, १५

टीका—अज्ञानी जीव तृष्णा और भोगों में फँसे रहते हैं । इस लिये वे निरन्तर पाप का ही आश्रय करते रहते हैं और अपने कर्मों का क्षय नहीं कर सकते हैं । निरन्तर आश्रय होने से निर्जसु का-

मौका ही कैसे मिल सकता है ? आश्रय रहे तो संवर की और निर्जरा की सम्भावना हो ।

(७)

अद्वेसु मदे अजरामरेव्वा ।

सू०, १०, १८

टीका—मूढ आदमी तृष्णा और वासना के वश होकर धन कमाने में इतना अंधा, आसक्त और अविवेकी हो जाता है कि मानो वह कभी मरेगा ही नहीं । मानो कभी उसको बुढ़ापा आवेगा ही नहीं ।

(८)

अन्नं जगं खिसति बालपन्ने ।

सू०, १३, १४

टीका—मूर्ख पुरुष, मदमति पुरुष, अन्य जनों की निंदा करता ही रहता है । अज्ञानी को दूसरे की निंदा करने में ही आनन्द आता है । बाल बुद्धि पुरुष दूसरे का तिस्कार ही करता है ।

(९)

जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं,

न तं सुदृढं कुसत्ता वयन्ति ।

उ०, १२, ३८

टीका—जो केवल बाह्य-विशुद्धि को ही, स्नान-शृंगार-शरीर-सफाई को ही सब कुछ मानते हैं और इसी में कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं, उन्हें ज्ञान शील पुरुष सुयोग्य, सुदृढ और धर्मानुगामी नहीं कहते हैं । आन्तरिक शुद्धि अर्थात् कषाय त्याग के अभाव में बाह्य-शुद्धि निरर्थक है । यह तो मृत पुरुष को शृंगारित करने के समान है ।

(१०)

मिच्छादिदृष्टी . अणारिया,
संसारं अणुपरिच्युतं ।

सू०, १, ३२, उ, २

टीका—जो मिथ्या दृष्टि है, जो भोग-उपभोग को ही सर्वत्र समझने वाले है, इन्द्रिय-सुख को ही मोक्ष का सुख समझने वाले हैं, वे अनार्य है । और इससे संसार में परिभ्रमण करना ही उनके जीवन का प्रमुख अंग बन जाता है । यानी ऐसी आत्माएँ संसार में ही परिभ्रमण करती रहती है ।

(११)

न शरणं बाला पंडित्य माणिणो ।

सू०, १, १ उ, ४

टीका—जो पंडित या आत्म ज्ञानी नहीं होते हुए भी अपने आप को पंडित मानते है और इन्द्रिय भोगों में फसे हुए हैं, ऐसी बाल आत्माओं के लिये संसार में कहीं भी शरण नहीं है, उनके लिये कहीं भी वास्तविक सुख नहीं है । य आत्माएँ तो फुट बाल (Foot Ball) के समान इधर की उधर जन्म-मरण करती रहती है ।

(१२)

बाल जणो पगच्छइ ।

सू०, २१, उ, २

टीका—जो मूर्ख है, जो वासना और विषय में मूर्च्छित है, वही पापी है । मूर्च्छा ही पाप है ।

(१३)

बाले गणहिं मिज्जती ।

सू०, २, २१, उ, २

टीका—विवेक हीन आत्माएँ पापों से लिप्त होती हैं । विवेक हीन का सत्कार्य भी अमत्य कार्य ही है । ऐसी आत्माएँ शौण्डालिक सुख को ही वास्तविक सुख समझती है ।

(१४)

धित्तं पसवो य नाइओ,
तं वाले सरणं ति मच्चइ ।

सू०, २, १६, उ, ३

टीका—मूर्ख प्राणी, विषयासक्त प्राणी ही वन को, पशु को, जुष्टुम्य को, जाति-बन्धुओं को अपना शरण देने वाले मानता है । उन्हें अवार-भूत मानता है । “ये मुझे दुःख से बचा सकेंगे” ऐसी मान्यता रखता है ।

(१५)

हिंइंति भयाउला सठा,
जाइ जरा मरणहिं अभिदुता ।

सू०, २, १८, उ, ३

टीका—जन्म, जरा और मरण से पीडित प्राणी, भयाकुल शठ प्राणी, भोगी प्राणी बार बार ससारचक्र में भ्रमण करते हैं । भोगों से इस लोक और परलोक में नाना दुःख उठाते हैं, नाना कष्ट सहते हैं ।

(१६)

मंदा मोहेण पाउडा ।

सू०, ३, ११ उ, १

टीका—मूर्ख प्राणी, वासना-ग्रसित प्राणी, विवेकहीन प्राणी, मोह से ढके हुए रहते हैं । उन्हें हित का और अहित का भान नहीं रहता है । ऐसे जीव भोग-सुख को ही आत्म-सुख समझते हैं । स्वच्छंदता को ही स्वतंत्रता समझते हैं ।

(१७)

बुद्धामोति य मन्नंता,
अंत प ते समाहिण ।

सू०, ११, २५

टीका—जो अपने आप को ज्ञानी मानते हैं, स्वयं को पंडित समझते हैं, तथा ऐसी धारणा रखते हैं कि हम तो परिपूर्ण ज्ञाता हैं, वे अभिमानी हैं, उनका आत्मविकास रुक जाता है, वे वास्तविक मार्ग से बहुत दूर हैं तथा उनका बाल-मरण होने से अंत में उन्हें चरक गति, तिर्यच गति आदि नीच गति की ही प्राप्ति होती है ।

(१८)

सीयंति अबुहा ।

सू०, ३, १४, उ, २

टीका—अज्ञानी पुरुष, कर्तव्य-मार्ग से पतित होकर और भोगों में आसक्त होकर, महा दुःख भोगते हैं ।

(१९)

कीवा वसगया गिहं ।

सू०, ३ १७ उ, १

टीका—कायर पुरुष, इन्द्रियो के दास-पुरुष, निर्बल आत्मा-वाले पुरुष, स्व-पर के कल्याण मार्ग में आने वाले उपसर्गों से, कठिनाइयों से घबरा कर पुनः ससार मार्ग पर और इन्द्रिय-पोषण मार्ग पर चलने लग जाते हैं । यानी सेवा-मार्ग को या धर्म-मार्ग को त्याग देते हैं ।

(२०)

मंदा विसीयंति,

उज्जाणसि व दुव्वला ।

सू०, ३, २० उ, २

टीका—जैसे दुर्बल बैल ऊँचे मार्ग में दुःख पाते हैं, गिर जाते हैं और महान् वेदना का अनुभव करते हैं, वैसे ही वासना-प्रसिद्ध और मूर्च्छित मूर्ख जीव भी विभिन्न जन्मों में नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं । इन्हें अनेक प्रतिकूल पदार्थों का और प्रिय वस्तुओं के वियोगों का सामना करना पड़ता है ।

(२१)

बद्धे विसय पासेहिं,
मोह मावज्जइ पुणो मंदे ।

सू०, ४, ३१, उ, १

टीका—विषय-वासना रुपी जाल में फंसा हुआ मूर्ख मनुष्य बार बार मोह को प्राप्त होता है । वह आत्मा का स्वरूप भूल जाता है, और ससार में अनेक जन्म-मरण की वृद्धि करता है, नाना तरह के प्रतिकूल सयोग-वियोग को वह प्राप्त करता रहता है ।

(२२)

रागदोषस्सियो बाला,
पावं कुव्वंति ते बहं ।

सू०, ८, ८,

टीका—राग-द्वेष के आश्रित होकर तथा मूर्च्छा और ममता में पड़ कर, मूर्ख जीव या अज्ञानी और स्वार्थी जीव नाना प्रकार के पाप कर्म और जघन्य कर्म-करते रहते हैं । वे अंत में दुःख प्राप्त होने पर पश्चात्ताप करते हैं ।

(२३)

कूराइं कम्माइं बालेपकुव्वमाणो,
तेण दुवखेण संभूढे विप्परियास मुवेइ ।

आ० २, ८१, उ, ३

टीका—जो मद बुद्धि वाला है, जो मूर्ख है, ऐसा बाल प्राणी क्रूर कर्म करता है, घोर पाप पूर्ण कर्म करता है । अंत में उन कर्मों के कारण उत्पन्न दुःख से वह मूढ होता हुआ, हित-अहित के विवेक से शून्य होता हुआ विपर्यास स्थिति को प्राप्त होता है, राग-द्वेष के चक्कर में फस जाता है । इस प्रकार मूढ बुद्धि वाले की ससार-परम्परा चक्रवत् चालू ही रहती है ।

(२४)

मंदस्सा विगणओ ।

आ० १, ५०, उ, ६

टीका—जो मंद बुद्धि है, यानी मिथ्या-शास्त्रो के कारण से जिसकी बुद्धि में भ्रम आ गया है, जो सासारिक-विषय-वासना को ही सर्वस्व और आराध्य मानता है, वह विवेक हीन है, और ऐसा पुरुष चिर काल तक नाना दुखो का भाजन बनता है ।

(२५)

मंदा नरथं गच्छन्ति,

वाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ।

उ०, ८, ७

टीका—मन्द यानी हित और अहित का विवेक नहीं रखने वाले और बाल यानी आत्मा के गुणो की उपेक्षा करने वाले, पाप-पूर्ण विचारो मे ही ग्रस्त रहने के कारण से तथा अनीति पूर्ण आचरणों में ही ग्रस्त रहने के कारण से मर कर नरक मे जाते है, नीच गति मे जाते है ।

(२६)

ममाइ लुप्पई वाले ।

सू०, १, ४ उ, १

टीका—“यह मेरा है” ऐसा करके ही मूर्ख आत्मा पापों से-दुष्ट कार्यों से और दुर्भावनाओ से परिलिप्त होती है । ससार-समुद्र मे डूबती है ।

(२७)

सत्ता कामे हि माणवा ।

उ०, १, ६, उ, १

टीका—मद बुद्धि वाले मनुष्य ही कामो में-यानी इन्द्रिय-भोगों में आसक्त रहते है । मूर्च्छित रहते है ।

(२८)

अन्नाणिया नाणं वयंतावि,
निच्छयत्थं न याणंति

सू०, १, १६, उ, २

टीका—अज्ञानी आत्माए-यानी सासारिक- भोगों में ही सुख मानने वाली आत्माए ज्ञान सबधी चर्चा करती हुई भी निश्चित अर्थ को नहीं जानती है । सच्चे मार्ग को या मोक्ष-मार्ग को नहीं जानती है ।

(२९)

अण्णो य परं नालं,
कुतो अन्नाणु सासिउं ।

सू०, १, ११७, उ, २

टीका—अज्ञानी पुरुष या भोगी पुरुष जब स्वयं को भी ज्ञान देने में समर्थ नहीं है, तब वे अन्य को तो ज्ञान दे ही कैसे सकते हैं ? भोगी-पुरुषों द्वारा स्व-पर-हित की साधना नहीं हो सकती है ।

(३०)

अन्नपपत्ते धणा मेसमाणो,
पण्णोति मच्छुं पुरिसे जरं च ।

उ० १४, १४

टीका—दूसरों के लिये दूषित प्रवृत्ति करने वाला और धन कमाने में ही जीवन समाप्त कर देने वाला अन्त में बुढ़ापा तथा मृत्यु को प्राप्त कर असह्य कष्टों को प्राप्त होता है ।

(३१)

पवड्ढती वेर मसंजतस्स ।

उ०, १०, १७

टीका—जो अपनी इन्द्रियों और मन पर काबू नहीं रखता है, वह असयमी है । प्रतिदिन विभिन्न प्राणियों के साथ असयम के कारण उसका वैर-विरोध और शत्रुता बढ़ती रहती है ।

(३२)

सब्धं विलविं गीयं,
सब्धं नटं विडम्बियं ।

उ०, १३ १६

टीका—ससार के गीत-गायन विलाप रूप है, और सब प्रकार का खेल-तमाशा, मनोरजन-कार्य, नाचना, नाटक आदि विडम्बना रूप है, क्योंकि ये क्षण भर के लिये आनन्ददायी हैं और अंत में परिणाम की दृष्टि से विष समान है ।

(३३)

सपण दुक्खेण मूढे विप्परियास मुवेइ ।

आ०, २, ९८, उ, ६

टीका—मोह और अज्ञान के कारण भोगों में फसा हुआ मूढ़ प्राणी अपने ही किये हुए कर्मों के कारण दुःख पाता है, और सुख का प्रयत्न करने पर भी दुःख ही का संयोग मिलता है । कर्मों के कारण अच्छा करने के प्रयत्न में भी बुरा संयोग ही पाता है ।

(३४)

जरा मच्चु व सोवणीए नरे,
सययं मूढे धम्मं नाभि जाणइ ।

आ०, २, १०९, उ, १

टीका—महामोहनीय कर्म के उदय के कारण मूढ़ आत्मा अज्ञान में ग्रसित होता हुआ तथा मृत्यु और जन्म के चक्कर में ही सदैव घूमता हुआ धर्म के स्वरूप को और ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य के रहस्य को नहीं समझ सकता है । वह इस चक्कर से नहीं छूट सकता है ।

(३५)

कायरा जणा लूसगा भवन्ति ।

आ० ६, १९० उ, ४

टीका—जो मनुष्य कायर होते हैं, अस्थिर और चंचल बुद्धि के होते हैं, वे अन्त में जाकर धर्म से भ्रष्ट हो जाते हैं। वे सम्यक् दर्शन से धृति हो जाते हैं, और अपना अनन्त जन्म मरण रूप संसार बद्ध लेते हैं। कायर पुरुष हर कार्य में विफल होता है, अयशस्वी होता है।

(३६)

सीयन्ति एगे बहु कायरा नरा ।

उ०, २०, ३०

टीका—अनेक आत्माएँ कायर बनकर, निर्बल बनकर, नैतिक और आध्यात्मिक मार्ग पर चलने में असमर्थ होकर दुःखी बन जाती हैं। हतोत्साह होकर शुभ-कार्य से हट जाना ही कायरता है। ऐसी कायरता ही विनाश का मार्ग है।

(३७)

कुप्पवयगा पासंडी,
सव्वे उम्मग्ग पट्ठिया ।

उ०, २३, ६३,

टीका—कुदर्शन वादी सभी पाखंडी हैं, मिथ्यात्वी हैं, वे सब उन्मार्ग में—मोक्ष मार्ग से सर्वथा विपरीत मार्ग में स्थित हैं। क्योंकि उनका ध्येय संसार के भोगों को भोगने की तरफ है।

(३८)

सयं सय पसंखंता, गरहंता
परं वथं, संसारं ते विउत्तिसिया ।

सू० १, २२, उ, २

टीका—जो मूर्ख केवल अपनी मान्यता की प्रशंसा करते रहते हैं और दूसरों की मान्यता की सदैव निंदा करते रहते हैं, वे संसार में दृढ़ रूप से बंध जाते हैं, यानी वे अनन्त जन्म मरण करते हैं और विविध आपत्तियों में से गुजरते हैं।

संसार-सूत्र

(१)

जन्मदुःखं जरा दुःखं दुःखो ह्यसंसारो ।

उ०, १९, १६

टीका—यह संसार दुःख ही दुःख से भरा हुआ है, जन्म का दुःख है, जरा यानी बुढ़ापे का दुःख है, रोग, मृत्यु, आकस्मिक संयोग-वियोग का दुःख है, इस प्रकार नाना विपत्तियों का जमघट इस संसार में भरा हुआ है ।

(२)

एकान्त दुःखे जरिष्व लोपः ।

सू०, ७, ११

टीका—यह संसार ज्वर के समान एकान्त दुःख रूप ही है । जैसे-ज्वर-ताप-बुखार-एकान्त रूप से दुःखदायी ही है, वैसे ही यह संसार भी जन्म-मरण, संयोग-वियोग से युक्त होने के कारण एकान्त रूप से दुःखमय ही है ।

(३)

दाराणि य सुया चैव,

मयं नाणुव्रथन्ति यः ।

उ०, १८, १४

टीका—जीवन में और कुटुम्ब में, वैभव में और भोगों में, इतनी आसक्ति, इतनी मूर्च्छा क्यों रखते हो ? याद रखो कि मरने पर स्त्री और पुत्र आदि साथ नहीं आनेवाले हैं, ये तो जहाँ के तहाँ ही रह जाने वाले हैं, केवल पाप और पाप ही साथ में आने वाले हैं ।

(४)

उज्झमाणं न बुज्झामो,
राग द्वेसग्गिणा जगं ।

उ०, १४, ४३

टीका—राग और द्वेष की अग्नि से जलते हुए ससार को हम नहीं पहिचान रहे हैं—अर्थात् आत्मा में स्थित राग और द्वेष का हम विचार नहीं कर रहे हैं, यह एक लज्जा जनक और दुख जनक बात है ।

(५)

संसारो अण्णवो वुत्तो ।

उ०, २३, ७३

टीका—ससार एक भयकर समुद्र है, जिसमें कषाय, विषय, वासना, विकार, मूर्च्छा, परिग्रह, मोह और इन्द्रियभोग आदि भयकर और विषम एवं विनाशकारी जलचर प्राणी हैं, जो कि भव्य आत्मा को निगलने के लिये तैयार बैठे हैं ।

(६)

सारीर माणासा चैव,
वेयणा उ अणंतसो ।

उ०, १९, ४६

टीका—इस ससार में शारीरिक और मानसिक वेदनाएं अनन्त प्रकार की रही हुई हैं । कर्मोंका उदय आने पर प्रत्येक आत्मा को इन्हे भोगना ही पड़ता है ।

(७)

महब्भयाओ भीमाओ,
नरएसु दुह वेयणा ।

उ०, १९, ७३

टीका—नरक स्थानों में महाभय उत्पन्न करनेवाली, सुनने मात्र से ही भय पैदा करने वाली, प्रचंड और नानाविध दुःख रूप वेदनाएँ हैं ।

(८)

अगांत गुणिया नरएसु दुख वेयणा ।

उ०, १९, ७४

टीका—नरक-स्थानो मे यहा से अनन्तगुणी भयकर दुख वेदनाएँ है । वेदनाएँ अनन्तगुणी ठडी, अनन्तगुणी उष्ण, अनन्तगुणी भूख-प्यास वाली और अनन्तगुणी चिन्ता और खेद जनक है ।

(९)

पास । लोप महम्भय ।

आ०, ६, १७४, उ, १

टीका—देखो ! ससार मे कितना भय रहा हुआ है । मौन का, वियोग का, अनिष्ट सयोग का, रोग का, हानि-लाभ का, कलह-अशांति का, नाना तरह का भय और शोक ससार में व्याप्त है । इसलिये हमें ईश्वर और आत्मा पर विश्वास करके, सत्कार्यों द्वारा नैतिक और सात्त्विक आचरण द्वारा इस ससार-परिभ्रमण को समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये । आत्मा को निर्मल बनाना चाहिये ।

(१०)

बहु दुक्खा हु जन्तवो ।

आ०, ६, १७५, उ, १

टीका—इस ससार मे सभी प्राणी विभिन्न दुखो में, विभिन्न क्लेशो मे, विभिन्न सतापो मे, विभिन्न पीडाओ और वेदनाओ मे फसे हुए है । इसका मूल कारण पूर्व-जन्मो में कृत और सचित्त अशुभ कार्य और कर्म ही है । इसलिये कार्य करते समय ध्यान रखो कि यह मैं अशुभ कार्य कर रहा हूँ या शुभ कार्य कर रहा हूँ । अन्यथा घोर दुख उठाना पड़ेगा ।

(११)

अणिच्चे जीव लोगमि किं पसज्जसि ।

उ०, १८, १२

टीका—इस अनित्य, नाशवान् और दुःख पूर्ण संसार में क्यों आसक्त होते हो ? क्यों इसमें मूर्च्छित हो रहे हो ? आत्मा के स्वरूप को क्यों भूल रहे हो ?

(१२)

अणागयं नेव य अत्थि किंचि,

सद्धा खमं णे विणइत्तु रागं ।

उ०, १४, २८

टीका—संसार में ऐसा कोई पदार्थ बाकी नहीं रहा है, जो कि जीव को अतीत के जन्म-काल में, पूर्व जन्मों में न मिल चुका हो । इसलिये राग-द्वेष को, रति—अरति को, वासना और विकार को मूर्च्छा और माया को हटाकर धर्म में, तप और सयम में पूर्ण श्रद्धा तथा पराक्रम रखना चाहिये ।

(१३)

चउव्विहे संसारे, दव्व संसारे,

खेत्त संसारे, काल संसारे, भाव संसारे ।

ठाणा०, ४, था, ठा, उ, १, ३१

टीका—संसार चार प्रकार का कहा गया है —द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, काल संसार और भाव संसार । १—जीव द्रव्यों और मुद्गल द्रव्यों का परिभ्रमण ही द्रव्य संसार है । २—चौदह राज्ज-लोक जितना लोकाकाश ही क्षेत्र संसार है । ३—दिन रात्रि आदि से लगाकर पल्योपम सागरोपम आदि तक की परिभ्रमण अवस्था ही काल संसार है । ४—संसारी आत्मा में कर्मोदय से पैदा होनेवाले विभिन्न राग-द्वेषात्मक विचार ही भाव संसार है ।

(१४)

अणंते निङ्ग लोप,
सासण ण विणास्सती ।

सू०, १, ६, उ, ४

टीका—यह लोक अनन्त है, नित्य है, शाश्वत है और इसका कभी भी-किसी भी काल में विनाश नहीं होता है ।



प्रकीर्णक-सूत्र

(१)

रमह श्रज्ज वयणम्मि,
तं वयं वूम माहणं ।

उ०, २५, २०

टीका—जो आर्य वचनो में, सत्य, अहिंसा, अनुकम्पा, दान, शील, तप, भावना आदि में रमण करता है, विश्वास करता है, तदनुसार आचरण करता है, उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं ।

(२)

राग दोस भयाई यं,
तं वयं वूम महाणं ।

उ०, २५, २१

टीका—जो राग, द्वेष और भय आदि दुर्गुणों से रहित है उसीको हम ब्राह्मण कहते हैं । आचरण से और गुणों से वर्ण-व्यवस्था है, न कि जाति से और जन्म से । ऐसा श्री जैन धर्म का आदेश है ।

(३)

कम्मणा वम्मणो होइ,
कम्मणा होइ खत्तिओ ।

उ०, २५, ३३

टीका—कर्म से ही (यथा नाम तथा गुण होने पर ही) ब्राह्मण होता है, और कर्म से ही-आचरण से ही क्षत्रिय होता है । जो क्षमा, दान, ध्यान, सत्य, सरलता, वैर्य, ज्ञान-विज्ञान, दया, ब्रह्मचर्य, आस्तिकता आदि का आचरण करता हो तो वह चाहे किसी भी जाति अथवा वर्ण में पैदा हुआ हो, तो भी ब्राह्मण ही कहा जायगा । और

इसके विपरीत-सद्गुणों से रहित एवं दुर्गुणों से ग्रसित ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ भी वास्तव में ब्राह्मण नहीं है। इसी प्रकार जो जनता की रक्षा करे, परोपकार के लिए जीवन व्योछावर करे, वही क्षत्रिय है। गुणों के अभाव में क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुआ भी वास्तविक क्षत्रिय नहीं कहा जा सकता है। आचरण-अनुसार वर्ण-व्यवस्था है।

(४)

वईसो कम्मुणा होइ,

सुदो हवइ कम्मुणा ।

३०, २५, ३३

टीका—कर्म से ही, आचरण से ही वैश्य होता है, और कर्म से ही शूद्र होता है। जो कृषि-कर्म, पशु-पालन और व्यापार करता है, वही सच्चा वैश्य है, फिर चाहे वह किसी भी कुल अथवा वर्ण में उत्पन्न हुआ हो।

इसी प्रकार जो शिल्प-कला और सेवा-कार्य में लगा हुआ हो, वही शूद्र है। फिर चाहे जन्म से और वर्ण से कोई भी हो।

जैन धर्म गुणों के आधार से और आचरण के आधार से वर्ण-व्यवस्था का विधान करता है।

रुढ़ि के आधार से और जाति-कुल के आधार से जैन धर्म वर्ण-व्यवस्था को नहीं मानता है।

(५)

असंविभागी न हुत्तस्स मुक्खो ।

४०, ९, २३, द्वि० उ,

टीका—असंविभागी को, स्वार्थी को, दूसरों के सुख दुख का, हित-अहित का ख्याल नहीं करने वाले को मोक्ष-सुख प्राप्त नहीं हो सकता है। उसे कदापि शाश्वत् सुख प्राप्त नहीं हो सकता है।

(६)

विवत्ती अविणीश्रस्र,
संपत्ती विणिश्रस्र अ ।

द०, ९, २२ द्वि, उ,

टीका—अविनीत आत्मा को सदैव इस लोक और पर लोक में दुःख ही दुःख मिलता है, तथा विनीत आत्मा को सदैव इस लोक और पर लोक में सुख ही सुख मिलता है ।

(७)

गिहे दीव मपासंता,
पुरिसा दाणियानरा ।

सू०, ९, ३४

टीका—भोगों में फँसे हुए रहने की हालत में न तो ज्ञान रूप दीपक के प्रकाश की प्राप्ति हो सकती है, और न चारित्र्य रूप द्वीप ही ससार-समुद्र की दृष्टि से प्राप्त हो सकता है । इसीलिये परमार्थ की आकाक्षा वाले पुरुष आध्यात्मिक पुरुषों की शरण लेते हैं ।

(८)

कीलेहिं विज्झंति असाहु कम्मा ।

सू०, ५, ९, उ, १

टीका—पापी नाना प्रकार के दुःख पाते हैं, नरक-आदि गति में कील आदि तीखे शस्त्रों से पीड़ित किये जाते हैं, परम-अधार्मिक देवता उन्हें घोर पीड़ा पहुँचाते हैं, ऐसा शास्त्रीय विधान है ।

(९)

थगांति लुप्पंति तस्संति कम्मी ।

सू०, ७, २०

टीका—पाप कर्म करने वाले प्राणी पाप का उदय होने पर, असह्य वेदना होने पर रोते हैं, तलवार आदि के द्वारा छेदन किये जाते हैं और नाना विधि से डराये जाते हैं, भयभीत किये जाते हैं ।

(१०)

निरुद्धं वा वि न दीदृज्जा ।

सू०, १४, २३,

टीका—व्याख्याता पुरुष छोटी बात को भी शब्दों के आडम्बर से बड़ी नहीं बनावे । इसी प्रकार जो बात थोड़े में कही जा सकती है या समझाई जा सकती है, उसे लम्बे चौड़े वाक्यों द्वारा और विस्तृत शब्दों द्वारा कभी नहीं कहे । क्योंकि ऐसा व्याख्यात बख़्खि आदि दोषों को पैदा करने वाला होता है और इसमें सिवाय समय-नष्ट करने के और स्व-विद्वत्ता-प्रकाशन के और दूसरा कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता है ।

(११)

कोलावासं समासज्ज वितहं पाउरे सए ।

आ०, ८, ३३, उ, ८

टीका—जैसे काठ का कीड़ा अपना घर बनाने में मशगूल हो जाता है, और अन्ततोगत्वा घोर परिश्रम कर घर बना कर उसमें रहने लगता है, वैसे ही तत्त्वदर्शी पुरुष भी अपनी आत्मा की वास्तविकता को ढूँढने में और उसको प्राप्त करने में सदैव लगा रहें । जब तक आत्मा की परिपूर्णता प्राप्त नहीं हो जाय, तब तक निरन्तर ज्ञान की आराधना में और अपने चारित्र्य को अति उज्ज्वल करने में लगा रहे । प्रत्येक क्षण कर्त्तव्य-मार्ग में लगन की दृढ़ता उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाय, ऐसा ही प्रयत्न रहे ।

(१२)

एगे जिण जिया पंच,

पंच जिण जिया दस ।

उ०, २३, ३६०

टीका—एक के जीत लेने पर, पाँचों को जीत लिया जाता है, और पाँचों के जीत लेने पर दसों को जीत लिया जाता है ।

अर्थात् एक यानी आत्मा, पाच यानी मन और चारो कषाय, दस यानी पाँचो इन्द्रियाँ, तीनों योग, कषाय और नोकषाय वृत्ति ।

(१३)

दुक्खं च जाई मरणं ।

उ०, ३२, ७

टीका—जन्म-मृत्यु ही दुःख है, यानी जन्मने और मरने के अन्तर घोर दुःख दूसरा और कोई नहीं है । जन्म-मृत्यु दुःखो की प्रथम श्रेणी में है ।

(१४)

पुरिमा उज्जु जड्ढा उ,
वक्क जड्ढा य पन्निमा ।

उ० २३, ३६

टीका—पहले तीर्थंकर के समय में जनता सरल और अति सामान्य बुद्धि वाली थी, किन्तु चौबीसवे तीर्थंकर के शासन-काल में जनता कपटी, और मूर्ख होती है । मूर्खता को ही चतुरता समझने वाली होती है ।

(१५)

मज्झिमा उज्जु पन्ना उ ।

उ०, २३, २६

टीका—द्वितीय तीर्थंकर से लगा कर २३ वे तीर्थंकर तक के शासन-काल में जनता सरल हृदय वाली और बुद्धि-शालिनी थी ।

(१६)

बहु मायाओ इत्थिओ ।

सू०, ४, २४, उ, १

टीका—स्त्रियाँ बहुत माया वाली होती हैं, और इसलिये स्त्रियों के संसर्ग से उनकी सगति करने वालों में भी माया-जाल की उत्पत्ति

हो जाती है । स्त्रियों का सहवास घन, धर्म, शक्ति और सद्गुण आदि का नाश करने वाला है ।

(१७)

पुढो य छंदा इह माणावा उ ।

सू०, १७, १७

टीका—इस लोक में मनुष्यों की भिन्न भिन्न रुचि होती है, एक समान रुचि होना अत्यंत कठिन है । “मुड़े मुड़े मति भिन्ना” इसका समर्थक है ।

(१८)

जीवो उवयोग-लक्षणं ।

उ०, २८, १०

टीका—जीव का लक्षण, आत्मा का लक्षण उपयोग है । यानी अनुभूति, ज्ञान या चेतना ही आत्मा का मुख्य और असाधारण धर्म है ।

(१९)

वण्ण रस गध फासा,

पुग्गलानं तु लक्खणं ।

उ०, २८, १२

टीका—पुद्गल का यानी अचेतन रूप जड़ पदार्थ का—रूपी तत्त्व का लक्षण वर्ण, गंध, रस और स्पर्श धर्म वाला होना है । छः द्रव्यों में से केवल इस जड़ द्रव्य में ही रूप, रस, गंध और स्पर्श-धर्म पाये जाते हैं और किसी में नहीं । शेष पांचो द्रव्य अमूर्त हैं, अरूपी हैं, अवर्ण वाले हैं, अगंध वाले हैं, अस्पर्श वाले हैं और अरस वाले हैं ।

(२०)

गइ लक्खणो उ धम्मो ।

उ०, २८, ९

टीका—धर्मास्तिकाय का लक्षण, जीव और पुद्गल को गति देने में—आवश्यकता पड़ने पर सहायक रूप होना है, जैसे जल मछली की चाल में सहायक है ।

(२१)

अहम्भो ठाण लक्खणो ।

उ०, २८, ९

टीका—अधर्मास्तिकाय का लक्षण जीव और पुद्गल को “स्थिति” धारण करने के समय में सहायक रूप होना है । जैसे—धूप में थके हुए मुसाफिर के लिये वृक्ष की छाया है ।

(२२)

भायसां सव्व दव्वाणं,

नहं ओगाह लक्खणं ।

उ० २८, ९

टीका—आकाश सभी द्रव्यों का भाजन है, सभी द्रव्यों के अवगाहन के लिये, यानी रहने के लिये स्थान देता है । छ ही द्रव्यों के रहने के लिये आकाश ही केवल एक—आधार भूत द्रव्य है ।

(२३)

वत्तणा लक्खणो कालो ।

उ०, २८, १०

टीका—काल वर्तना लक्षण वाला है, यानी नये को पुराना करना और पुराने को जीर्ण-शीर्ण करना ही, वस्तुओं के विनाश में मदद पहुँचाना ही काल का लक्षण है । जैसे कि कैंची और कपड़े का संवध है ।

(२४)

छक्काय. आहिया,

णावरे कोइ विज्जई ।

सू०, ११, ८-

टीका—सपूर्ण लोक में—सपूर्ण ब्रह्मांड में, सभी जीवों का संवि-
भाजन केवल ६ अवस्थाओं में या ६ काया में किया गया है । इसमें
सभी जीवों का समावेश हो जाता है । वे छ. काय इस प्रकार हैं—
१ पृथ्वीकाय, २ अपकाय, ३ तेजसकाय, ४ वायुकाय, ५ वनस्पति-
काय और ६ त्रसकाय ।

(२५)

दुविहा पोगला,
सुहुमा चेव वायरा चेव ।

ठाणा, २ रा, ठा, उ, ३, ३

टीका—पुद्गल दो प्रकार के कहे गये हैं—१ सूक्ष्म और २ वादर ।
पुद्गल यानी जड़ और रूपी द्रव्य, जिनमें रूप, रस, गंध और स्पर्श
पाया जाता है, ऐसे जड़ द्रव्य पुद्गल कहे जाते हैं । जो आखों
से दिखाई देते हैं, वे तो वादर पुद्गल हैं, और जो नहीं दिखाई देते
हैं, वे सूक्ष्म पुद्गल हैं ।

(२६)

दुविहे आगासे,
लोगागासे चेव, अलोगागासे चेव ।

ठाणा०, २रा, ठा, उ, १, २८

टीका—आकाश दो प्रकार का कहा गया है—१ लोकाकाश
और २ अलोकाकाश ।

सभी द्रव्यों को स्थान देने वाला-अवकाश देने वाला द्रव्य-
आकाश है । जहाँ तक-जिस परिधि तक छः ही द्रव्य पाये जाते
हैं, वहाँ तक तो लोकाकाश समझा जाता है, और उससे आगे पाँच
ही द्रव्यों का अभाव है, इसलिये वह अलोकाकाश कहलाता है ।
अलोकाकाश की कोई सीमाएँ नहीं हैं । वह तो अनंतानन्त,

अपरिमित और असीम कोसो तक फैला हुआ है। तीर्थकर और ज्ञानी भी उसकी सीमाएं नहीं बतला सकते हैं। किन्तु लोकाकाश परिमित है, ससीम है। लोकाकाश की कुल मर्यादा चौदह राजतक की है।

(२७)

दो दंडा पन्नता तंजहा,
अट्टा दंडे चैव अगाट्टा दंडे चैव ।

ठाणा०, २रा, ठा, १ला उ, २२

टीका—पाप दो कारणों से उत्पन्न हुआ करता है—एक तो इन्द्रियो का पोषण करने से एव स्वार्थ भावना की दृष्टि से और दूसरा विना किसी कारण के केवल भूर्खता वश किया जाने से। प्रथम पाप को अर्थ दंड पाप कहा जाता है, और दूसरे को अनर्थ-दंड पाप कहते हैं। ये दोनों पाप समुच्चय रूप से चारों गति में पाये जाते हैं, किन्तु व्यवितगत रूप से अनेक विवेकी आत्माएँ इनसे बचते भी हैं।

(२८)

लोगे तं सव्वं दुपडीआरं,
जीवा चैव अजीवा चैव ।

ठाणा०, २रा ठागा, १, १ला उ,

टीका—ससार में यानी संपूर्ण ब्रह्मांड में या सम्पूर्ण विश्व में पाये जाने वाले सभी पदार्थों को, सभी द्रव्यों को, सभी वस्तुओं और सभी तत्त्वों को केवल दो मूलभूत द्रव्यों में या दो मूलभूत वस्तुओं में बाटा जा सकता है। इन दो मूलभूत तत्त्वों के सिवाय और तीसरा कोई तत्त्व नहीं है। वे दो हैं :—जीव और अजीव-अर्थात् चेतन और अजड। जीव तत्त्व में या चेतन में-सभी आत्म द्रव्य आ जाते हैं और अजीव में-या अजड तत्त्व में, धर्मास्तिकाय,

अवर्मास्ति काय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, और काल द्रव्य समझना चाहिये ।

(२९)

तत्रो सुसन्नप्पा,

अदुट्ठे अमूढे, अबुग्गाहिण ।

ठाणा० ३रा, ठा, उ, ४, १४

टीका—तीन प्रकार के मनुष्यों को समझाना सुलभ है १ अदुष्ट यानी द्वेष रहित को—सरल प्रकृति वाले को, २ अमूढ़ को यानी बुद्धि शाली को और ३ कुसगति में नहीं पड़े हुए को अर्थात् मिथ्यात्वियों से भ्रमित नहीं हुए को ।

(३०)

तत्रो दुसण्णप्पा,

दुट्ठे, मूढे, कुग्गाहिण ।

ठाणा०, ३रा, ठा, उ, ४, १४

टीका—तीन प्रकार के पुरुषों को समझाना बहुत ही कठिन होता है — १ दुष्ट यानी सात्त्विक बातों के कट्टर विरोधी को, खल पुरुष को, २ मूढ़ यानी सर्वथा अज्ञानी को, और ३ मिथ्या धर्म मोह में पूरी तरह से असित पुरुष को, यानी कुगुरुओं द्वारा अथवा कुसगति से भ्रमित पुरुष को ।

(३१)

तत्रो सुग्गया, सिद्ध सुग्गया,

देव सुग्गया, मणुस्स सुग्गया ।

ठाणा०, ३रा, ठा, ३ उ, १५

टीका—सुगति तीन प्रकार की कही गई है :— १ सिद्ध सुगति, २ देव सुगति, और ३ मनुष्य-सुगति ।

(३२)

चउच्चिहे संघे, समणा,
समणीओ, सावगा, साविगाओ ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ४, ३०

टीका—भगवान महावीर स्वामी की शासन-व्यवस्था, यानी महावीर स्वामी के अनुयायी चार भागों में विभाजित किये गये हैं—१ साधु, २ साध्वी, ३ श्रावक और ४ श्राविका ।

(३३)

चत्तारि वायणिज्जा विणीण,
अविगइपडिवद्धे, विउसवियपाहुडे अमायी ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ३, २७

टीका—चार प्रकार के पुरुष वाचना देने के योग्य होते हैं — (१) विनीत, (२) स्वाद-इन्द्रिय में अगृह्य-अनासक्त, (३) क्षमा-शील और (४) सरल हृदय वाला ।

(३४)

चत्तारि अवायणिज्जा,
अविणीण, विगइप्पडिवद्धे,
अविउसविय पाहुडे, मायी ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ३, २७

टीका—चार प्रकार के पुरुष वाचना देने के अयोग्य हैं— (१) अविनीत, (२) स्वाद-इन्द्रिय में गृह्य-आसक्त, (३) क्रोधी और (४) मायावी-कपटी ।

(३५)

चत्तारि समणो वासगा,
अग्गमापिइ समाणे, भाइसमाणे
मित्तसमाणे, सवत्ति समाणे ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ३, २०

टीका—चार प्रकार के श्रावक कहे गये हैं ।—

(१) बिना किसी बदले की भावना के विशुद्ध हृदय से “साधु-साध्वियो के लिये सुसमाधि रहे ”—ऐसी हितकारी व्यवस्था करने वाला श्रावक माता-पिता समान श्रावक है ।

(२) साधु-साध्वियो को प्रमादी देख कर ऊपर से क्रोध करे, किन्तु मन में हित की भावना ही रखे—ऐसा श्रावक भाई समान श्रावक है ।

(३) साधु-साध्वियो के दोषों को ढक कर, दोषों की उपेक्षा कर केवल गुणों की तरफ ही लक्ष्य देने वाला श्रावक मित्र समान श्रावक है ।

(४) जो श्रावक साधु-साध्वियो के गुणों को तो नहीं देखता है, किन्तु दोष ही दोष देखता है, ऐसा श्रावक शत्रु-श्रावक है ।

(३६)

चत्तारि शूरा, खंति शूरे,
तपशूरे, दाणशूरे, जुद्धशूरे ।

ढाणा०, ४था, ठा, उ, ३, ७

टीका—चार प्रकार के शूरवीर-माने गये हैं —१ क्षमा-शूर, कठिनाइयों में और विकट एवं प्रतिकूल परिस्थिति में भी घोर क्षमा रखने वाले क्षमा-शूर हैं ।

२ तप-शूर :—तपश्चर्या में-एवं सेवा में असाधारण वीरता रखने वाले तप-शूर हैं ।

३ उदारता पूर्वक और अनासक्ति के साथ मुक्त हस्त होकर दान देने वाले महापुरुष दान-शूर हैं ।

४ कायरता को भगाकर असाधारण साहस के साथ युद्ध करने वाले युद्ध-शूर होते हैं ।

(३७)

खंति सूर्य अरहंता, तवसूर्य अणगात्,
दाणसूरे वैश्रमणे, जुद्धसूरे वासुदेवे ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ३, ७

टीका—क्षमा-शूरो मे सर्वोत्तम क्षमा-शूर अरिहंत हैं । तप-
शूरो मे असाधारण तप-शूर अणगार-साधु होते हैं । दानियों में
दान-शूर वैश्रमण है और युद्ध मे शूर-वीर वासुदेव हैं ।

(३८)

चत्तारि बिकहाओ पणत्ताओ,
इत्थिकहा, भत्त कहा, देस कहा, राय कहा ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ २, ६

टीका—चार प्रकार की विकथाएँ कही गई हैं :—१ स्त्री कथा,
२ भोजन कथा, ३ देश-कथा और ४ राज कथा ।

(३९)

चत्तारि ज्ञाणा, अट्टे ज्ञाणे,
रोद्धे ज्ञाणे, धम्मं भाणे, सुक्के ज्ञाणे ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, १, १५

टीका—ध्यान चार प्रकार के कहे गये हैं :—आर्त्तध्यान,
रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ।

(४०)

चउव्विहे वड्ढे,
गज्जे, पज्जे, कथ्थे, गेये ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ४, ४३

टीका—चार प्रकार का काव्य कहा गया है :—१ गद्य, २ पद्य,
३ कथा, और ४ गेय ।

(४१)

पंचविहे सोण, पुढविसोण, आउसोण,
तेउ सोण, मंतसोण, बंभसोण ।

ठाणा०, ५ वा, ठा, उ, ३, ६

टीका—पांच प्रकार की वस्तुओं से पवित्रता का कार्य संपादन किया जा सकता है ।

१ पृथ्वी-मिट्टी से, २ पानी-से, ३ अग्नि से, ४ मंत्र से और ५ ब्रह्मचर्य से ।

(४२)

पंचविहे व्यवहारे, आगमे,
सुए, आणा, धारणा, जीए ।

ठाणा०, ५ वा, ठा, उ, २, ७

टीका—पाच प्रकार के व्यवहार कहे गये हैं —१ आगम, २ सूत्र ३ आज्ञा, ४ धारणा, और ५ जीत ।

(१) केवल ज्ञानी, मन पर्याय ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, पूर्वघर आदि का जीवन-व्यवहार-आगम-व्यवहार है ।

(२) सूत्रानुसार व्यवहार सूत्र-व्यवहार है ।

(३) अनुभवी, विद्वान् महापुरुष की आज्ञानुसार व्यवहार करना आज्ञा-व्यवहार है ।

(४) पूर्व महापुरुष कृत व्यवहार को देखकर और प्रसंगोपात्त उसे याद कर तदनुसार व्यवहार करना धारणा-व्यवहार है ।

(५) परम्परा से चले आये हुए व्यवहार के अनुसार व्यवहार करना जीत-व्यवहार है ।

आगम-व्यवहार के सद्भाव में शेष चार निषिद्ध हैं ।

सूत्र-व्यवहार के सद्भाव में शेष तीन निषिद्ध हैं ।

आज्ञा-व्यवहार के सद्भाव में शेष दो निषिद्ध हैं ।

धारणा-व्यवहार के सद्भाव में जीत-व्यवहार निषिद्ध है ।

प्रथम चार व्यवहारों के अभाव में ही जीत-व्यवहार आचरणीय है ।

(४३)

पञ्चगिही-पुत्तगिही, मित्तगिही,

सिप्पगिही, धणगिही धन्नगिही ।

ठाणां०, ५वां ठा, उ, ३, ६

टीका—पाच प्रकार की निधि कही गई हैं — १ पुत्र निधि,

२ मित्र निधि, ३ ज्ञान निधि, ४ धन-निधि, और ५ धान्य निधि ।

(४४)

छव्विहे भावे, उदइए, उवसमिए, खइए,

खयोवसमिए, पारिणामिए, संनिवाइए ।

ठाणां०, ६ व्हा, ठा, उ, १, ११५

टीका—छ प्रकार के भाव आत्मा के परिणाम कहे गये हैं :-

१ औदयिक, २ औपशमिक, ३ क्षायिक, ४ क्षायोपशमिक, ५ पारिणामिक और ६ सान्निपातिक ।

१-कर्मों के उदय से होने वाले आत्मा के विचार-विशेष औदयिक भाव है । २-कर्मों के उपशम से यानी अनुदय के कारण से आत्मा में पैदा होने वाले विचार-विशेष औपशमिक भाव है । ३-कर्मों के क्षय होने से उत्पन्न होनेवाले आत्मा के विचार-विशेष क्षायिक भाव है । ४-कर्मों में से कुछ एक के क्षय होने पर और कुछ एक के उपशम होने पर आत्मा में उत्पन्न होने वाले विचार विशेष क्षायोपशमिक भाव है । ५-आत्मिक विचारों का स्वाभाविक स्वरूप परिणमन ही पारिणामिक भाव है ।

६-संमिश्रित भावों को सान्निपातिक भाव कहते हैं ।

(४५)

सत्त भय द्वाणा, इह लोग भय,
पर लोग भय, आदाण भय,
अक्रम्हा भय, वेयणा भय,
मरण भय, असि लोग भय ।

ठाणा०, उवा, ठा, १५

टीका—सात प्रकार के भय के स्थान कहे गये हैं—(१) इस लोक का भय, यानी मनुष्य को मनुष्य का, (२) पर लोक का भय, (३) चोरी, वटवारा आदि का भय, (४) अकस्मात् रूप से पैदा होने वाला भय, (५) वेदना, रोग आदि का भय, (६) मृत्यु भय और (७) अयश, अपकीर्ति का भय ।

(४६)

सत्तविहे आउमेदे, अज्झवसाण,
निमित्ते, आहारे, वेयणा, पराघाण,
फासे, आणाषाणू ।

ठाणा०, उवा, ठा ३८

टीका—सात प्रकार से आयुष्य टूट सकती है—(१) भयानक विचार से, भयानक कल्पना अथवा भयानक स्वप्न से, (२) शस्त्र आदि के निमित्त से, (३) बहुत आहार करने से, (४) शूल आदि से, (५) पराघात से-दूसरो की चोट आदि देखने पर कायर होने की हालत में हृदय के फेल हो जाने पर, (६) सर्पादि के दश से, और (७) श्वास आदि रोग से ।

परिशिष्ट नं. १

अकारादि क्रम से छाया सहित

मूल सूक्ति-कोश

(बायी ओर प्राकृत भाग और दाहिनी
ओर शब्दानुलक्षी हिन्दी अनुवाद)

—*—*—

नोट:—सूक्तियों के आगे कोष्ठक में जो शब्द और संख्या अङ्कित है, उनका तात्पर्य विषय-नाम और उसी विषय की सूक्ति संख्या से है, जो कि पुस्तक के मूल भाग में मुद्रित है ।

अ

१—अकप्पिय न गिण्हज्जा । (उपदेश, ६९)

२—अकम्मुणा कम्म खवेति धीरा । (सात्विक, ७)

३—अकिरियं परिवज्जए । (कर्त्तव्य, १)

४—अकुसीले सया भिवखू, णव ससग्गिय भए, (श्रमण—भिक्षु, ३५)

५—अकुव्वओ णव णत्थि । (सात्विक, १२)

६—अकोहणे सच्च रए सिक्खा सीले । (सद्गुण, ३)

७—अकोहणे सच्च रते तवस्सी । (तप, ९)

८—अकोविया दुक्ख ते नाइ तुट्ठति, सउणी पजर जहा । (बाल, ५)

९—अगुणप्पेही ण आराहेइ सवर । (अनिष्ट, ९)

१०—अगुणिस्स नत्थि मोकखो । (मोक्ष, १७)

११—अगुत्ते अणाणाए । (योग, १०)

१२—अच्चन्त नियाण खमा, एसा मे भासिया वई । (प्रशस्त, १४)

१३—अच्चेही अणुसास अप्पगं । (उपदेश, ९४)

१४—अजय भुजमाणो अ पाण भूयाइ हिंसइ । (हिंसा, ३)

१५—अजय चरमाणो अ पाण भूयाइ हिंसइ । (हिंसा, २)

१६—अजरा अमरा असगा । (मोक्ष, ९)

१७—अज्जाइ कम्माइ करेहि । (उपदेश, ६१)

अ

- १—अकल्पनीय ग्रहण नहीं करे ।
- २—वीर पुरुष अकर्म द्वारा, (आश्रय रहित होकर) कर्म का अय कर देने है ।
- ३—अकर्तव्य का परिवर्जन कर दे ।
- ४—भिक्षु सदा अकुशील हो, ससर्ग वाला नहीं हो ।
- ५—अकर्ता होता हुआ नवीन (कर्म वाला) नहीं है ।
- ६—अक्रोधी, मन्य रत, मित्रा शील (होता है) ।
- ७—अक्रोधी, सत्य रत तपस्वी (होता है)
- ८—वे अक्रोधि दुःख को नहीं तोड़ सकते हैं, जैसे कि शकुनिः (पक्षी) पीजरे को ।
- ९—अगुणप्रेक्षी मवर को नहीं आराधता है ।
- १०—अगुणी का मोक्ष नहीं है ।
- ११—अगुण्य अनाज्ञा वाला है । (अगुणि वाला आज्ञा से रहित होता है)
- १२—मेरे द्वारा भाषित यह वाणी अत्यन्त निदान क्षमा (कर्म काटने में अत्यन्त समर्थ) है ।
- १३—न्यायी अपनी आत्मा को अनुशासित करे ।
- १४—अयन्ता पूर्वक भोजन करता हुआ प्राणियो की, और भूतो की हिंसा करता है ।
- १५—अयत्नापूर्वक चलता हुआ प्राणियो की, और भूतो की हिंसा करता है ।
- १६—वे (मुक्त जीव) अजर हैं, अमर हैं और असंग हैं । (निरुद्ध निराकार हैं)
- १७—आर्य कर्मों को (श्रेष्ठ कामों को) करो ।

१८—अज्जत्थ हेउ निययस्स वन्धो ससार हेउ चवयन्ति वन्ध ।

(कर्म १९)

१९—अज्जप्परए सुसमाहि अप्पा जे स भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ९)

२०—अज्जोववत्ता कामेहि पूयणा इव तरुण ए । (काम ३५)

२१—अट्टेमु मूढे अजरामरेव्वा ।

(बाल ७)

२२—अणगारे पच्चक्खाय पावए ।

(श्रमण ५०)

२३—अणगार चरित्त धम्मे दुविहे,

सराग सजमे चेव, वीयरग सजमे चेव । (श्रमण-५२)

२४—अणट्ठा जे य सव्वत्था परिवज्जेज्ज ।

(कर्त्तव्य ६)

२५—अणाइले या अकसाइ भिक्खू ।

(श्रमण-भिक्षु ११)

२६—अणागय नेव य अत्थि किंचि,

सट्ठा खम मे विणइत्तु रार्ग ।

(ससार १२)

२७—अणावाह सुहाभिकखी,

गुरुप्प सायाभिमुहो रमिज्जा ।

(उपदेश ७१)

२८—आणासए जो उ सहिज्ज कटए, स पुज्जो । (महापुरुष ११)

२९—अणिच्चे जीव लोगम्मि कि पमज्जसि । (ससार ११)

३०—अणियते अय त्रासे, णायएहि मुहीहि य । (अनिष्ट ३०)

३१—अणियाणभूते मुपरिच्चाज्ज ।

(अहिंसा २२)

१८—आत्मस्थ हेतु— (मिय्यात्व आदि) निज का बन्ध करने वाले हैं और वंघ को ससार का हेतु कहते हैं ।

१९—जो अध्यात्मरत्त सुसमाधि वाली आत्मा है, वही भिक्षु है ।

२०—पूतना (रोग विशेष) से जैसे तरुण बालक (दुःखी होते हैं) वैसे ही कामो से —(भोगो से) विषयो में आसक्त (आत्माएं दुःखी होती हैं)

२१—मूढ आर्त्त (आर्त्तध्यान सबधी कामो) में अजर अमर की तरह (फसे हुए हैं)

२२—प्रत्याख्यात अनगार (प्रतिज्ञा लिया हुआ साधु) प्राप्त करे । (निर्मल आत्मावाला होता है) ।

२३—अनगार का चारित्र धर्म दो प्रकार का है, सराग सयम और वीतराग सयम ।

२४—जो अनर्थ रूप है, उन्हें सर्वथा परिवर्जित कर दे । (छोड़ दे)

२५—अनाविल (पाप रहित) अथवा अकषायी ही भिक्षु होता है ।

२६—किञ्चित् भी अनागत नहीं है (यानी कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो कि पहले नहीं मिला हो) अतः मेरे राग को दूर करने के लिये श्रद्धा ही समर्थ है ।

२७—अव्यावाध सुख का आर्काक्षी (मोक्ष का अभिलाषी) गुरु की प्रसन्नता के अभिमुख होता हुआ रमण करे । (गुरु की आज्ञा-नुसार चलता रहे ।)

२८—अनासक्त होता हुआ जो काटो को (कष्टो को) सहता है, वही पूज्य है ।

२९—अनित्य (नाशवान्) जीव-लोक में क्यों आसक्त रहता है ?

३०—सुख जील जाति वालों के साथ यह वास, अनित्य है ।

३१—अनिदान भूत होता हुआ (आश्रय रहित होना हुआ) जीवन-व्यवहार चलावे ।

३२—अणिहे से पुट्ठे अहिवानए । (क्षमा ५)

३३—अणुक्कसे अण्णलीणे, मज्जेण नुणि जावए । (श्रमण-भिक्षु २३)

३४—अणु चित्तिं वियागरे । (मत्त्यादि १५)

३५—अणुत्तरे नाणधरे जससी, ओभासई मूरि एव अतलक्खे ।
(प्रयाम्ब १२)

३६—अणुत्तमं धम्मं मिण जिणाण, णेयं सुभी कासव आसुपत्ते ।
(प्रा मं १६)

३७—अणुत्तं सज्जं जगसि विज्जं, गथा अतीते अभए अणाज्ज ।
(प्रा. म १५)

३८—अणुत्तए तावणए महेसी । (महापुरुष ३१)

३९—अणु पुव्व पाणेहिं सजए । (अहिंसा १६)

४०—अणुवमन्तेण दुक्ककरं वमसागरो । (कपाय ३५)

४१—अणुसासणं नेव पक्कमे । (उपदेस ३८)

४२—अणुमायिओ न कुग्गिज्जा । (उपदेस ५४)

४३—अणोमं वसीं णि मण्णे, पावेहिं कम्महेहिं । (प्रवस्त २०)

३२—अनिह (क्रोध आदि से रहित) होना हुआ स्पर्श किये हुए (प्राप्त हुए उपसर्गों को) सहन करे ।

३३—अनुत्कर्ष वाला (किसी भी प्रकार का अहंकार नहीं करने वाला), अप्रलीन वाला (आसक्ति रहित वाला), मुनि मध्यस्थ भाव से (तटस्थ भाव से) विचरे ।

३४—अनुचितवन करके (गंभीर विचार करके) बोले ।

३५—अनुत्तर (श्रेष्ठ) ज्ञान के धारण करने वाले, यशस्वी होते हुए ऐसी शोभा पाते हैं (ऐसे प्रकाश शील होते हैं) जैसा कि सूर्य अन्तरिक्ष में (आकाश में) ।

३६—जिनेन्द्रो का (राग द्वेष जीतने वालों का) यह अनुत्तर (श्रेष्ठ) वर्म है, और इसके नेता, मुनि आशु प्रज्ञ (शीघ्र बुद्धिवाले) काव्यप है । (प्रभु महावीर द्वारा यह शासित है)

३७—(वे महावार स्वामी) सारे जगत् में अनुत्तर हैं (श्रेष्ठ हैं) निज हैं, ग्रथि से (कषाय और परिग्रह से रहित हैं) अतीत हैं, अभय हैं और अनायु (चरम शरीरी) हैं ।

३८—महर्षि न तो उन्नत (अभिमानी) हो और न अवन्त (दुःख से दीन) हो ।

३९—प्राणियों के साथ अनुपूर्व रीति से (क्रम ने) समय शील हो, (यत्न वाला हो) ।

४०—अनुपशान्त द्वारा (जिसका कषाय शान्त नहीं हुआ है, ऐसे मनुष्य द्वारा) इन्द्रिय-दमन रूप सागर, (पार कर लेना) दुष्कर है ।

४१—अनुशासन में ही (भगवान की आज्ञा में ही) पराक्रम शील हो ।

४२—अनुशासित किया जाता हुआ (उपदेश दिया जाता हुआ) क्रोध नहीं करे ।

४३—पूर्ण दशी (उच्च ज्ञान-चारित्र्य वाला) पाप कर्मों से निवृत्त ही होता है ।

४४—अणत्तं गुणियां नरएसुं दु खं वेयणा । (मत्तार ८)

४५—अणत्ते निडए लोए, सासए ण विणस्संती । (सत्तार १४)

४६—अत्तत्ताए परिव्वए । (कत्तव्य १६)

४७—अत्ताण न ममूक्केसे । (कपाय १८)

४८—अत्तुट्ठिं दोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्त ।
(लोभ १०)

४९—अतुलं सुहं सागरं गया, अव्वावाहं अणोषमं पत्ता ।
(मोक्ष ११)

५०—अदक्खुं कामाईं रोगं वं । (काम २९)

५१—अदिन्तमन्नेसु यं णो गहेज्जा । (उपदेस १०)

५२—अदीणो वित्तिं मेसिज्जा । (प्रगम्त २३)

५३—अन्तो बहिं विऊस्सिज्ज, अज्जत्थं सुद्धं मेसए । (उपदेस ११)

५४—अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिट्ठे । (श्रमण-भिक्षु २८)

५५—अन्नपमत्ते वणं मेसमाणे, पप्पोति मच्चु पुरिसे जरं च ।
(बाल ३०)

५६—अन्ताणं मोहस्सं विवज्जणाए, एगन्तं सोक्खं समुवेडं मोक्खं ।
(मोक्ष १५)

५७—अन्ताणियां ताणं वयनां वि निच्छयत्थं न याणंति ।
(बाल २८)

५८—अन्नं जणं त्ससति बालपन्ने । (बाल ८)

४४—नरको मे दुःख वेदना अनन्त गुणी है ।

४५—यह लोक अनन्त है, नित्य है, शाश्वत् है और विनष्ट नहीं होता है ।

४६—आत्मा के त्राण के लिये, (आत्मा को पाप से बचाने के लिये)
संयम शील हो ।

४७—आत्मा के (निर्मलता के) लिये समुत्कर्ष शील (अहकारी)
न हो ।

४८—जो अतुष्ट है, (अमत्तुष्ट है-लोभी है), वह इस दोष से स्वर्ण
दुःख है और पर के लिये भी दुःख पैदा करता है । लोभ से
व्याकुल होता हुआ अदत्त को भी ग्रहण कर लेता है,
(चोरी कर लेता है) ।

४९—(मुक्त जीव) अतुल सुख सागर को प्राप्त हुए है, अव्यावाच
(अन्त) और अनुपम (सर्व श्रेष्ठ), (अवस्था को) प्राप्त हुए है ।

५०—काम-भोगो को रोग (पैदा करने) वाले ही देखो ।

५१—नहीं दो हुई वस्तुओं को नहीं ग्रहण करे ।

५२—अदीन (गौरव वाला) होकर वृत्ति—(आहार आदि को) दूबे ।

५३—आंतरिक आर बाह्य रूप से त्यागी होकर आत्मा सबधा शुद्धि की
इच्छा करे । अथवा अनुसंधान करे ।

५४—अन्न के लिये और पानी के लिये अनुगृह्य (आसक्ति वाला)
न हो ।

५५—अन्य के लिये प्रमाद शील होता हुआ, धन की अकाक्षा या अनु-
संधान करता हुआ पुरुष मृत्यु को और बुढ़ापे को प्राप्त होता है ।

५६—अज्ञान रूपी मोह के विवर्जन से (त्याग से) एकान्त मोक्ष-सुख
को प्राप्त करता है ।

५७—अज्ञानी ज्ञान को बालते हुए भी निश्चित अर्थ को नहीं
जानते हैं ।

५८—बाल प्रज (मूर्ख बुद्धि वाला) दूसरे मनुष्य की ही निंदा करता है ।

५९—अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे, न मूलओ छिदई वन्वण से ।

(कर्म १६)

६०—अप्पडि चक्कस्स जओ, होउ, सया सघ चक्कस्स ।

(प्रा २०)

६१—अप्पणा मच्च मेसेज्जा ।

(सत्यादि १)

६२—अप्पणो य परं नाल, कुतो अन्नाणु सासिउ । (बाल २९)

६३—अप्पमत्तो कामेहि उवरओ पाव-कम्ममेहि । (प्रगम्त २१)

६४—अप्पमत्तो जए निच्च ।

(प्रगम्त १३)

६५—अप्पमत्तो परिव्वए ।

(सद्गुण ११)

६६—अप्पाण रक्खी चरे अप्पमत्तो ।

(उपदेश ८२)

६७—अप्पाहारे तित्तिक्खए ।

(क्षमा ६)

६८—अप्पाकत्ता विकत्ता य, दुहाण य मुहाण या । (आत्म १२)

६९—अप्पा काम दुहा धेणू, अप्पा मे नन्दण वण । (आत्म १३)

७०—अप्पाण जडत्ता मुह मेहए ।

(आत्म ९)

७१—अप्पाणमेव जुज्झाहि, कि ते जुज्झेण वज्जओ । (आत्म ८)

७२—अप्पा दन्तो मुही होइ ।

(तप १०)

७३—अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूड मामली । (आत्म १४)

५९—रमो मे गृह (मृच्छित) और अनिग्रह वाली (अजीतिन्द्रिय) आत्मा मूल से वधन को (कर्मों को) नहीं काट सकती है ।

६०—नहीं है मम कक्ष इसरा चक्र जिसके, ऐसे सघ रूप चक्र की सदा जय हो ।

६१—अपनी आत्मा द्वारा ही सत्य का अनुसंधान करो ।

६२—जो स्वयं को शिक्षा देने के लिये समर्थ नहीं है, वह अन्य का शिक्षा देने के लिये कैसे समर्थ हो सकता है ?

६३—जो काम-भोगों से अप्रमत्त है वही पाप-कर्मों से उपरत है—
दूर है ।

६४—अप्रमादी होता हुआ नित्य नयम मे प्रवृत्त रहे ।

६५—अप्रमादी होता हुआ ही विचरे ।

६६—अपनी आत्मा की रक्षा करने वाला अप्रमादी होता हुआ ही विचरे ।

६७—अल्प आहार वाला होता हुआ तितिक्षा वाला होवे,—सहनशीलता वाला होवे ।

६८—दुःखों का अथवा सुखों का कर्त्ता या अकर्त्ता आत्मा ही है ।

६९—आत्मा ही इच्छा पूर्ति करने वाली काम-वेनु है और अपनी आत्मा ही नदन बन है ।

७०—आत्मा को जीतकर ही सुख प्राप्त करो ।

७१—आत्मा से ही—(आत्मन्थ कषायों से ही) युद्ध करो, बाह्ययुद्ध से तुम्हे क्या (प्राप्त होने वाला है) ?

७२—दमन करने वाली आत्मा ही मुखी होती है । अथवा आत्मा का (आत्मन्थ कषायों का) दमन करने वाला ही सुधी होता है ।

७३—आत्मा ही वेतरणी नदी है और अपनी आत्मा ही कूट-शात्मली वृक्ष है ।

७४—अप्पा मित्त ममित्त च, दुप्पट्टिय मुपट्टिओ । (आत्म ११)

७५—अप्पियस्सावि मित्तन्म रहे कल्लाण भासई । (सद्गुण २)

७६—अमुच्छिओ न भासिज्जा । (सत्यादि ३४)

७७—अप्प भासिज्ज सुव्वण । (सत्यादि ११)

७८—अवभचरिअ घोर । (काम २)

७९—अभय्य करे वीरे अणत चक्खू । (प्रा म, ६)

८०—अभय करे भिक्खू अणाविलापा । (श्रमण-भिक्षु ४७)

८१—अभय दाया भवाहि । (अहिमा १८)

८२—अभिणूम वडैहि मूच्छिए, तिव्वं ते कम्मेहि किच्चती ।
(कर्म २०)

८३—अभिसवए पाव त्रिवेगभिक्खू । (उपदेय ७३)

८४—अमणुत्त समुप्पाय दुक्खमेव । (योग १३)

८५—अरइ आउट्टे से मेहावी, खणसि मुक्के । (सात्विक १४)

८६—अरए पयामु । (शील १०)

८७—अरुवी सत्ता, अपयस्स पय नत्थि । (आत्म ४)

८८—अल्लीण गुत्तो निसिए । (योग ७)

८९—अलोगे पडिहया सिद्धा, लीयग्गे य पडिट्ठिया । (मोक्ष १०)

९०—अल्लोल भिक्खू न रसेमु गिज्जे । (श्रमण भिक्षु ४१)

७४—आत्मा ही मित्र भी है और अमित्र भी है । दुष्प्रतिष्ठित और
मुत्प्रतिष्ठित करने वाली भी आत्मा ही है ।

७५—अप्रिय मित्र के लिए भी एकान्त में जो कन्याण युक्त ही बोलता
है, वही आदर्श है ।

७६—नहीं पूछा हुआ, नहीं बोले ।

७७—मुत्रती अल्प ही बोले ।

७८—अब्रह्मचर्य घोर पाप है ।

७९—प्रभु महावीर अभय देने वाले हैं और अनन्त चक्षु वाले हैं ।
(महा ज्ञानी हैं) ।

८०—राग-द्वेष रहित आत्मा वाला भिक्षु अभयदान देता रहे ।

८१—अभय दान देने वाले होओ ।

८२—माया आदि कुकृत्यो से मूच्छित, अन्त में वह कर्मों द्वारा तीव्र
क्लेश पाता है ।

८३—भिक्षु पाप का विवेक रखता हुआ निर्दोष वचन बोले ।

८४—अमनोज्ञ की समुत्पत्ति ही दुःख है ।

८५—जो अरति को नष्ट कर देता है, वही मेधावी है, वही क्षण भर
में मुक्त हो जाता है ।

८६—प्रजाओ में अर्थात् स्त्रियों में आसक्त मत हा ।

८७—(मुक्त जीव) अरूपी सत्ता वाला होता है, शब्दातीत के लिये
गन्ध नहीं होता है । अपद के लिये पद नहीं है ।

८८—गुरु आदि के आश्रित रहता हुआ, गुप्ति धर्म का पालन करता
हुआ बैठे, अथवा रहे ।

८९—सिद्ध प्रभु अलोक में जाने से रुके हुए हैं और लोक के अन्न भाग
पर प्रतिष्ठित हैं ।

९०—अचल होता हुआ (अनासक्त होता हुआ) भिक्षु रसों में मृदु
नहीं हो ।

९१—अलोलुए रमेसु नाणु गिज्जेज्जा । (नद्गुण १२)

९२—अल दालस्स सगेण । (कर्त्तव्य १२)

९३—अप्पावाह मुक्ख अणुहोती सासय सिद्धा । (मोक्ष ४)

९४—अविअत्त चेव नो वण । (सत्यादि १८)

९५—अवि अप्पणो वि देहमि नायरुति ममाडय । (महापुरुष १७)

९६—अवि ओमिए धासति पाव कम्मी । (कषाय ३६)

९७—अविणी अप्पा दीसति दुहमेहता । (अनिष्ट ४)

९८—अवि वाम सय नारि वभयारी विवज्जए । (जील ११)

९९—अविस्सासो अ भूआण तम्हा मोस विवज्जए । (सत्यादि ४२)

१००—असमिय, ति मत्त माणस्स, समिया वा असमिया वा
असमिया होड । (अनिष्ट २८)

१०१—असावज्ज मिय काले भास भासिज्ज पत्तव । (सत्यादि ५)

१०२—असामया वासमिण दुक्खकेसाण भायण । (अनित्य ३)

१०३—असाहु धम्माणि ण सवएज्जा । (उपदेश १७)

१०४—असि धारा गमण चेव दुक्करं चरिड तवो । (तप १४)

१०५—असुहाण कम्माण निज्जाण पावगा । (कर्म १५)

१०६—अस्सेयकरी अत्तेसी इक्विणी । (अनिष्ट ११)

१०७—असखयं जीविर्य मां पमायए । (उपदेश २५)

९१—अलोलुप होता हुआ रसो में अनुगृह्य नहीं हो ।

९२—बाल पुरुषों के (मूख आदमियों के) मनन से वक्त करो, यानी -
दूर रहो ।

९३—सिद्ध प्रभु जायवत् रूप से अव्यावाय्य सुख का अनुभव करते -
रहते हैं ।

९४—अव्यक्त भाषा नहीं बोले ।

९५—(महा पुरुष) अपने शरीर के प्रति भी मनस्त्व भाव का आचरण -
नहीं करते हैं ।

९६—कपाय में सलग्न पापकर्मी दुःख का ही भागी हैं ।

९७—अविनीत आत्माएं दुःख प्राप्त करती हुई ही देखी जाती हैं ।

९८—ब्रह्मचारी सौ वर्ष की आयुवाली स्त्री से भी दूर ही रहे ।

९९—झूठ प्राणियों के लिये अविश्वान का स्थान है, अतएव झूठ को -
छोड़ दो ।

१००—असम्यक्त्व का मानने वाले के लिये सम्यक्त्व और असम्यक्त्व,
दोनों ही मिथ्यात्व रूप ही होते हैं ।

१०१—प्रजावान् समयानुसार असावद्य निर्दोष और परिमित भाषा
ही बोलें ।

१०२—यह वाम नयोग अशाश्वत् है और दुःख एवं क्लेशों का ही -
भाजन है ।

१०३—अमायु के बमों को—(नीच कर्तव्यों को) मत बोलो ।

१०४—तप का आचरण करना तलवार की धारा पर चलना है -
निश्चय ही यह दुष्कर है ।

१०५—अशुभ कर्मों का निदान (अंतिम फल) पाप ही है ।

१०६—दुमरो की निदा अश्रेयस्कारी—(हानि प्रद) ही है ।

१०७—यह जीवन नष्ट हो जाने पर पुनः नहीं जोड़ा जा सकता -
योग्य है, अतः इसमें प्रमाद मत करो ।

१०८—अमनत्तो अमुच्छिओ, भत्तपाण गवेसिए । (श्रमण भिक्षु-१८)

१०९—असविभागी न हु तस्स मुक्खो । (प्रकी ५)

११०—असन्मत्त पलोडज्जा । (सषदेवा २८)

१११—अहम्मो ठाण लक्खणो । (प्रकी २१)

११२—अहम्म कुणमाणस्स अफला जन्ति राइओ । (अधर्म १)

११३—अहि गरण न करेज्ज पडिए । (कषाय ३३)

११४—अहिपासए आय तुले पाणेहि । (उपदेश ७७)

११५—अहिंसा निज्जा दिट्ठा । (अहिंसा ३)

११६—अहीण पचेदियया हु दुल्लहा । (दुर्लभ-११)

११७—अहे वयड कोहेण, माणेण अहमा गई । (कषाय २३)

११८—अहो जिणेहि असावज्जा, विन्ती साहूण देसिया ।

(श्रमण-भिक्षु १७)

११९—आणाइ सुद्ध वयण भिज्जे । (सत्यादि ३८)

१२०—आणाए अभिसमेच्चा अकूओभय । (प्रशस्त ४)

१२१—आणाए मामग धम्म । (धर्म २१)

१२२—आयगुत्ते मया दत्ते, छिन्नसोए अणासवे । (महापुरुष ४४)

१०८—असभ्रात होता हुआ, अमृष्टित-(अनासक्त) होता हुआ भोजन-पानी की गवेषणा करे ।

१०९—जो दूसरो के साथ विषमता रखने वाला है, उसका मोक्ष नहीं हो सकता है ।

११०—आसक्ति पूर्वक किसी भी ओर मत देखो ।

१११—अधर्मास्त्रिकाय का लक्षण ठहरने में सहायता देना है ।

११२—अधर्म कार्य करने वाले की रात्रियाँ-दिन और रात निष्फल ही जाती है ।

११३—पंडित-अविकरण क्रिया का (शस्त्र अस्त्र सबही क्रियाओं को) नहीं करे ।

११४—अपनी आत्मा के समान ही प्राणियों को देखो को अथवा समझो ।

११५—अहिंसा, निपुण यानी अनेक प्रकार के मुख को देने वाली देखी गई है ।

११६—परिपूर्ण पाचो इन्द्रियो की स्थिति प्राप्त होना दुर्लभ है ।

११७—क्रोध से नीचे की गति को जाता है, और मान से अधम गति प्राप्त होती है ।

११८—अहा ! (हर्ष है कि) जिन द्वारा (अरिहत-तार्थकरो द्वारा) साधुओं की वृत्ति असावद्य कही गई है ।

११९—भगवान की आज्ञानुसार शुद्ध वचनों का ही उच्चारण करो ।

१२०—आज्ञानुसार अच्छी तरह से निःसंशय पूर्वक (तत्त्वों को) जान कर (तदनुसार कार्य करने वाले के लिये) कहीं पर भी भय नहीं रहता है ।

१२१—आज्ञानुसार चलना ही मेरा धर्म है ।

१२२—आत्मा को गोपने वाला, सदा इन्द्रियो का दमन करने वाला, शोक से रहित और आश्रय से रहित (ही- महापुरुष होता है) ।

१२३—आयगुत्ते सया वीरे । (योग २)

१२४—आयरिअत्त पुण रावि, दुल्लहं । (दुर्लभ ९)

१२५—आयरिय उवचिदुडज्जा, अणत्त नाणोवगओ वि सत्तो ।
(सात्त्विक १३)

१२६—आयरिय विदित्ताण, मव्व दुक्खा विमुत्तई । (धर्म १४)

१२७—आयाण गुत्ते वलया विमुक्के । (योग ९)

१२८—आयाणिज्ज पण्णाय परियाएण विगिच्चइ । (कर्म २७)

१२९—आयक दसी न करेइ पाव । (सात्त्विक १६)

१३०—आय ण कुज्जा इह जीवियट्ठी । (लोभ १३)

१३१—आरिय उव सपज्जे । (धर्म २२)

१३२—आरिय मग्ग परम च समाहिए । (धर्म २३)

१३३—आरभ सभिया कामा न ते दुक्ख विमोयगा । (कपाय ३४)

१३४—आरभा विरमेज्ज मुव्वए । (अनिष्ट ३५)

१३५—आलोयणाए उज्जु भाव जणयइ । (तप २२)

१३६—आवज्जई इन्द्रिय चोर वन्से । (योग २२)

१३७—आवट्ट सोए सग मभि जाणइ । (प्रशस्त ६)

१३८—आवट्ट तु पेहाए इत्थ, विरमिज्ज वेयवी । (सद्गुण १४)

१२३—प्रभु महावीर मदैव आत्मा को गोपने वाले ही थे । (वीर

पुरुष सदा आत्मा को वश में करने वाले ही होते हैं) ।

१२४—(सात्विक वातो का) आचरण करना ही सब से अधिक दुर्लभ है ।

१२५—(गिष्य) अनन्त ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी आचार्य के षष्ठ्य विनय पूर्वक ही बैठे ।

१२६—आचरण-योग्य धर्म को जान करके सभी दुःख नाश किये जा सकते हैं ।

१२७—आदान पर्यानी आश्रय पर गुप्ति रखने वाला ससार से (कष्ट से) विमुक्त हो जाता है ।

१२८—(ज्ञानी) आश्रय और वध का स्वरूप जानकर साधुता रूपा प्रयत्न द्वारा उन्हें दूर करता है ।

१२९—आतक दर्शी-(सम्यक्त्व) पाप नहीं करता है ।

१३०—जीवितार्थी—(आत्महितैषी) लोभ नहीं करे ।

१३१—ज्ञानी के शरण में जाओ ।

१३२—ज्ञानी का मार्ग ही श्रेष्ठ है और (वही) समाधि आला है ।

१३३—काम-भोग आरम्भ से भरे हुए ही होते हैं, इसलिये वे दुःख के विमोचक नहीं हो सकते हैं ।

१३४—सुव्रती-ज्ञानी, आरम्भ के कामों से दूर रहे ।

१३५—आलोचना से ऋजु भाव-याने निष्कपटता के भाव पैदा होते हैं ।

१३६—इन्द्रिय रूपी चोर के वश में (पड़ी हुई आत्मा ससार में ही) भ्रमण-करती है ।

१३७—(जो ज्ञानी है, वह) आवर्तन रूप ससार को और श्रुति आदि इन्द्रियो के विषय के पारस्परिक संबन्ध को भलीभाँति जानता है ।

१३८—शास्त्रों का ज्ञाता आवर्तन रूप ससार को देख कर यहाँ पर पाप-कामों से दूर हो जाय ।

१३९—आसयण नत्थि मुक्खो । (अनिष्ट ७)

१४०—आसुरत्त न गच्छिज्जा, सुच्चाण जिण सासण । (क्रोध ५)

१४१—आस च छद च विणि च धीरे । (उपदेश ४६)

१४२—आहा कम्मेहि गच्छई । (कर्म ११)

इ

१४३—इओ विद्वसमाणस्स, पुणो सवोहि दुल्लभा । (दुर्लभ १४)

१४४—इच्छा काम च लोभ च सज्जओ परिवज्जए । (लोभ ९)

१४५—इच्छा लोभ न सेविज्जा । (लोभ ११)

१४६—इच्छा हु आगास समा अणत्तिया । (लोभ २)

१४७—इखिणिया उ पाविया । (अनिष्ट १३)

१४८—इगियागार सपत्ते से विणीए । (सात्त्विक २)

१४९—इत्थियो जे ण सेवन्ति, आइ मोक्खा हु ते जणा ।
(शील २)

१५०—इत्थियाहि अणगारा सवासेण णास मुवयति । (शील २४)

१५१—इत्थी निलयस्म मज्झे न वम्भयारिस्स खमो निवासो ।
(शील २०)

१५२—इत्थी वमगया वाला जिण-सासण परम्मूहा (काम ३)

१५३—इमा पया बहु माया. मोहेण पाउडा । (कपाय २१)

१३९—आसातना में—आज्ञा भग में मोक्ष नहीं है ।

१४०—जिन-शासन को सुन कर (जैन-धर्म का ज्ञान प्राप्त कर) क्रोध मत करो ।

१४१—हे धीरज वाले आदमी ! तू विषयो सबधी आशा को और अभिलाषा को छोड़ दे ।

१४२—(आत्मा) अपने किये हुए कर्मों के अनुसार ही (परलोक को) जाता है ।

इ

१४३—यहाँ से विध्वंस हुई आत्मा के लिये पुन ज्ञान प्राप्त होना दुर्लभ है ।

१४४—सयती, इच्छा को, काम-वासना को, और लोभ को छोड़ दे ।

१४५—(विषय की) इच्छाओं को और लोभ को मत सेवो, इनकी सेवना मत करो ।

१४६—निश्चय करके इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं ।

१४७—निन्दा ही पाप है ।

१४८—“इंगित और आकार में ही” यानि संकेत-ईशारे में ही समझ लेने वाला विनीत कहा जाता है ।

१४९—जो स्त्रियो को नहीं सेवते हैं, वे महापुरुष निश्चय ही आदि मुक्त यानि मोक्ष प्राप्त किये हुए ही हैं ।

१५०—स्त्रियो के साथ सहवास करने से अनगरि नाश को प्राप्त होते हैं ।

१५१—स्त्रियो के निवास के मध्य में ब्रह्मचारी का निवास योग्य नहीं है ।

१५२—जो बाल-मूर्ख स्त्री के वश में गये हुए हैं, वे जिन-शासन से परा-ङ्मुख हैं । (यानि दूर हैं)

१५३—ये स्त्रियाँ बहुत माया वाली हैं और मोह से ढँकी हुई हैं ।

१५४—इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ । (कर्त्तव्य १४)

१५५—इम च मे अत्थि इम च नत्थि, हरा हरति त्ति कह
पमाओ । (उपदेश ५९)

१५६—इम सरीर अणिच्च, असुइ, असुइ सभव । (अनित्य २)

१५७—इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे । (प्रा म ८)

१५८—इह माणुस्सए ठाणे, धम्म माराहिउणरा । (धर्म ६)

१५९—इह सति गया दविया, णाव कखति जीविउ । (सात्विक २२)

१६०—इह तु कम्माइ पुरे कडाइ । (कर्म १३)

उ

१६१—उक्कस जलण णूम, मज्झत्थ च विगिंचए । (कषाय २४)

१६२—उग्ग महव्वय बभ घारेयव्व सुदुक्खर । (शील ७)

१६३—उच्चावएसु विसएसु ताई, निस्ससरय भिक्खू समाहिपत्ते ।
(श्रमण-भिक्षु ३०)

१६४—उत्तम धम्म सुई हु दुल्लहा । (दुर्लभ १)

१६५—उदही नाणा रयण पब्बिपुण्णे, एव हवइ बहुस्सुए । (ज्ञान १६)

१६६—उवणिज्जई जीविय मप्पमाय, मा कासि कम्माइ
महालयाइ । (वैराग्य ११)

१६७—उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोव लिप्पई । (भोग ७)

- १५४—(आत्मस्थ केपायो से ही) युद्ध करो, तुम्हारे बाह्य युद्ध से क्या, (लाभ है ?) ।
- १५५—यह मेरा है, और यह मेरा नहीं है, ऐसा कहते कहते ही मृत्यु रूपी चोर आत्मा को चुरा ले जाते हैं, तो फिर प्रमादा वनकर कैसे बैठे हो ।
- १५६—यह शरीर अनित्य है, अशुद्ध है और अशुद्धि से ही उत्पन्न हुआ है ।
- १५७—इस प्रकार ऋषियों में सर्व श्रेष्ठ श्री वर्धमान महावीर स्वामी हैं ।
- १५८—इस मनुष्य-लोक में धर्मारोपन के लिये मनुष्य ही (समर्थ) है ।
- १५९—यहा पर शांति को प्राप्त हुई भव्य आत्माएं-जीवन के लिये— (ससार परिभ्रमण के लिये) आकाक्षाएं नहीं रखती हैं ।
- १६०—यहा पर जो कर्म (फल दे रहे हैं) वे पहिले किये हुए हैं, पहिले वांछे हुए हैं ।

उ

- १६१—(आत्महितैषी) मान को, क्रोध को, माया को और लोभ का छोड़ दे ।
- १६२—जो उग्र है, महाव्रत है, सुदुष्कर है, ऐसे ब्रह्मचर्य को धारण करना चाहिये ।
- १६३—उच्च आपत्तियों को लाने वाले, और महान् दुःखों को पैदा करने वाले विषयों से जो अपनी रक्षा करता है, निस्सदेह वह भिक्षु है, और उसने समाधि प्राप्त कर ली है ।
- १६४—निश्चय ही उत्तम धर्म का श्रवण दुर्लभ है ।
- १६५—जैसे उदवि-समुद्र, नाना रत्नों से परिपूर्ण होता है, वैसे ही बहु-श्रुत भी (विविध ज्ञान से परिपूर्ण) होता है ।
- १६६—यह जीवन बिना प्रमाद के, बिना ढील किये ही मृत्यु के पास चला जा रहा है, अतः महती दुर्गति के देन वाले कर्मों को तू मत कर ।
- १६७—भोगों के भोगने पर ही, उपलेष याने कर्मों का लेप होता है, किन्तु अभोगी कर्मों से उपलिप्त नहीं होता है ।

- १६८—उववाय कारी य हरी मणे, य एगत दिट्ठी य अमाइ रुवे ।
 (सात्त्विक. ८)
- १६९—उवसमेण हणे कोहें ।
 (क्रोध २)
- १७०—उविच्च भोगा पुरिस चयन्ति, दुम जहा खीण फल व
 पक्खी ।
 (काम. ११)

ए

- १७१—एक्को सय पच्चणु होइ दुक्ख ।
 (वैराग्य १८)
- १७२—एक्को हु धम्मो ताण न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ।
 (धर्म १२)
- १७३—एगग मण सनिवेसण याए, चित्त निरोह करेइ ।
 (योग ४)
- १७४—एगत्त मेय अभिपत्थएज्जा ।
 (वैराग्य १९)
- १७५—एगन्त दुक्खे जरिए व लोए ।
 (ससार २१)
- १७६—एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य । (उपदेश ५०)
- १७७—एगस्स जतो गति रागती य ।
 (वैराग्य २०)
- १७८—एगे अह मसि, न मे अत्थि कोइ, न या हमवि कस्स वि ।
 (वैराग्य १)
- १७९—एगे आया ।
 (आत्म १)
- १८०—एगे चरित्ते ।
 (चारित्र १)
- १८१—एगे जिए जिया पंच, पच जिए जिया दस । (प्रकी १२)
- १८२—एगे नाणे ।
 (ज्ञान १)
- १८३—एगो सय पच्चणु होइ दुक्ख ।
 (वैराग्य १२)

१६८—आज्ञाकारी लज्जा वाला, एकान्त सम्यक्-दृष्टि पुरुष अमायाही होता है—निष्कपट होता है ।

१६९—शान्ति द्वारा क्रोध का नाश करे ।

१७०—जैसे पक्षी नष्ट हुए फल वाले वृक्ष को छोड़ कर चले जाते हैं, वैसे ही भुक्त-भाग भी पुरुष को छोड़ देते हैं । (भोगों से क्षीण होकर अंत में पुरुष मर जाता है ।)

ए

१७१—दुःख का अनुभव अकेले को ही आर खुद को ही करना पड़ता ।

१७२—अकेला धर्म ही रक्षक है, अन्य कोई यहाँ पर रक्षक नहीं पाया जाता है ।

१७३—एकाग्र रूप से मन का सन्निवेश करने से चित्त निरोध होता है ।

१७४—एकत्व भावना की ही प्रार्थना करो ।

१७५—यह लोक ज्वर के समान एकान्त दुःख रूप ही है ।

१७६—वश में नहा किया हुआ आत्मा एक शत्रु रूप ही है, इसा प्रकार केपाय और इन्द्रियाँ भी शत्रुरूप ही हैं ।

१७७—प्राणी अकेला ही जाता है और अकेला ही आता है ।

१७८—मैं अकेला ही हूँ, मेरा कोई नहा है, और मैं भी किसी का नहीं हूँ ।

१७९—एक ही आत्मा है ।

१८०—एक ही चारित्र्य है ।

१८१—एक के जीत लेने पर पाँच जीत लिये जाते हैं, पाँच के जीत लेने पर दस जीत लिए जाते हैं ।

१८२—एक ही ज्ञान है ।

१८३—अकेला स्वयं हा दुःख का अनुभव करता है ।

१८४—एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ । (आत्म ७)

१८५—एगत दिट्ठी अपरिगहे उ, वुज्झिज्ज लोयस्स वस न
गच्छे । (उपदेश ९०)

१८६—एत्थ मोहे पुणो पुणो । (कपाय ३१)

१८७—एत्थोवरए मेहावी सब्ब पाव कम्मं ओसइ । (महापुरुष २८)

१८८—एयाइ मयाइ विगिच्च धीरा । (उपदेश १८)

१८९—एय खु नाणिनो मार जन्न हिंसइ किचणं । (अहिंसा २)

ओ

१९०—एस धम्मे वुवे निच्चे सासए जिण देसिए । (धर्म ११)

१९१—ओए तहीय फरुम वियाणे । (सत्यादि ३७)

अ

१९२—ओमा सणाण दमि इन्दियाण, न राग सत्तू धरि सेइ
चित्त । (सद्गुण ९)

१९३—अताणि धीरा सेवति, तेण अंतकरा इह । (महापुरुष ६)

क

१९४—कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि । (कर्म ४)

१९५—कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि । (कर्म ३)

१९६—कत्तार मेव अणुजाइ कम्म । (कर्म १७)

१९७—कप्पिओ फालिओ छिन्नो, उक्कित्तो अ अणेगसो ।
(आत्म १६)

१८४—अकेली आत्मा पर ही विजय प्राप्त करो, यही सर्व श्रेष्ठ विजय है ।

१८५—एकान्त सम्यक् दृष्टि वाला अपरिग्रही ही है, और वह लोक का स्वरूप समझ कर उसके वश में नहीं जावे ।

१८६—यहाँ पर मोह बार बार (आकर्षित करता रहता) है ।

१८७—इस मोह से उपरत- (दूर) होता हुआ मेघावी सभी पाप कर्म को जला डालता है ।

१८८—धीर पुरुष इन अभिमान- मद के कारणों को दूर कर दे ।

१८९—ज्ञानी के लिये यही सार है कि वह किसी की भा हिंसा नहीं करता है ।

१९०—जिन भगवान द्वारा उपदिष्ट यह धर्म ही ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत् है ।

जो

१९१—राग द्वेष रहित हो, किन्तु कठोर हो तो ऐसे वचन नहीं बोले ।

१९२—अल्प आहार करने वाले के आरंभ इन्द्रियो का दमन करने वाले के चित्त को राग रूप शत्रु नहीं जीत सकता है ।

अं

१९३—धीर पुरुष राग द्वेष को अंत करने वाली क्रियाओं का सेवन करते हैं, इसलिये यहाँ पर वे अन्त करा याने चरम-शरीरी कहलाते हैं ।

क

१९४—कृत कर्मों को (भोगे बिना) मोक्ष नहीं है ।

१९५—कर्म करने वालों का मोक्ष नहीं है ।

१९६—कर्म कर्त्ता का ही अनुगमन करता है ।

१९७—(यह आत्मा) अनेक बार कतरा गया, फाड़ा गया; छेदन किया गया, आर उत्कर्त्तन-याने चमड़ी उतारी गई ।

१९८—कम्माणि बलवन्ति हि । (कर्म, ५)

१९९—कम्मी कम्मेहिं किच्चती । (कर्म २३)

२००—कम्म च मोहप्पभव । (कर्म ६)

२०१—कम्म च जाइ मरणस्स मूल । (कर्म ९)

२०२—कम्मुणा उवाही जायइ । (कर्म १२)

२०३—कम्मुणा तेण सजुत्तो, गच्छई उ परं भवं । (कर्म १८)

२०४—कम्मुणा वम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
(प्रकी. ३)

२०५—कम्मेहि लुप्पन्ति पाणिणो । (कर्म ८)

२०६—करेइ लोह वेर वड्ढेइ अप्पणो । (लोभ ८)

२०७—कलह जुद्ध दूरओ परिवज्जए । (क्रोध ४)

२०८—कपाय पच्चक्खाणेण, वीयरग भाव जणयइ ।
(सात्त्विक २०)

२०९—कसाया अग्गिणो कुत्ता, सुय सील तवो जल ।
(कषाय ४)

२१०—कह धीरो अहे अहिं, उम्मत्तो व महिं चरे ।
(महापुरुष ४२)

२११—काउस्सग्गेण तीय पडुप्पन्न, पायच्छित्त विसोहेइ ।
(तप १८)

२१२—काम कामी खलु अय पुरिसे, से सोयइ, जूरइ, तिप्पइ,
परितप्पइ, (काम ३४)

२१३—काम भोग रस गिद्धा, उव-वज्जन्ति आसुरे काए ।
(काम १०)

२१४—काम भोगाणुराएण केसं सपडिवज्जई । (काम १९)

१९८—निश्चय मे कर्म बलवान है ।

१९९—कर्मों कर्मों से ही दुःख पाता है ।

२००—कर्म मोह से ही उत्पन्न होते हैं ।

२०१—कर्म ही जन्म और मरण का मूल है ।

२०२—कर्म से उपाधि (नाना विपत्तियाँ) पैदा होती हैं ।

२०३—उस कर्म से संयुक्त होता हुआ ही (जीव) परलोक को जाता है ।

२०४—कर्म याने आचरण से ही ब्राह्मण होता है और आचरण से ही क्षत्रिय होता है ।

२०५—प्राणी कर्मों से ही डूबते हैं ।

२०६—जो लोभ करता है, उसके लिये चारों ओर से वैर बढ़ता है ।

२०७—कलह को और युद्ध को दूर से ही छोड़ दे ।

२०८—कषाय का परित्याग करने से वीतराग-भाव उत्पन्न होता है ।

२०९—कषाय को अग्नि कहा गया है और ज्ञान, शील, तप को जल - बतलाया है ।

२१०—घोर पुरुष क्यों रात और दिन, इधर उधर उन्मत्त की तरह से पृथ्वी पर घूमते रहते हैं ?

२११—कायोत्सर्ग से अतीत काल का और वर्तमान काल का प्रायश्चित्त - विशुद्ध होता है ।

२१२—जो पुरुष निश्चय करके काम-भोगों का कामी है—इच्छुक है; वह शोक करता है, वह झूँरता है, वह ताप भोगता है और वह परिताप को प्राप्त होता है ।

२१३—जो काम-भोगों के रस में गूढ़ है, वे अन्त में असुर काया में - (नीच जाति में) उत्पन्न होते हैं ।

२१४—काम-भोगों में अनुराग रखने से (जीव) क्लेश को संप्राप्त - होता है ।

२१५—काम भोगा विस ताल उड । (काम २०)

२१६—काम भोगे य दुच्चए । (काम १६)

२१७—काम समणुन्ते असमिय दुक्खे, दुक्खी दुक्खाणमेव
आवट्ट अणु परियट्टइ । (भोग १२)

२१८—कामाणु गिट्ठिप्पभव खु दुक्ख । (काम २३)

२१९—कामा दुरतिक्कमा । (काम ९)

२२०—कामे कमाही, कमिय खु दुक्ख । (काम ५)

२२१—कामे ससार वड्ढणे, सक माणो तणु चरे । (काम १४)

२२२—कायरा जणा लूसगा भवन्ति । (वाल ३५)

२२३—काले काल समायरे । (उपदेश २२)

२२४—किरिय चरो अए धीरो । (महापुरुष २२)

२२५—किसए देह मणासणाइहि । (तप २६)

२२६—किं हिन्साए पसज्जसि । (हिंसा ६)

२२६—कीलेहि विज्जन्ति असाहु कम्मा । (प्रकी. ८)

२२८—कीवा जत्थ य किस्सन्ति, नाइ सगेहि मुच्छिया ।
(अनिष्ट ३४)

२२९—कीवा वसुगया गिह । (वाल १९)

२३०—कुज्जा साहूहि सन्थव । (उपदेश, ७०)

२३१—कुप्प वयण पासन्डी, सव्वे उम्मग्ग पट्टिया । (वाल ३७)

२३२—कुम्मुव्व अल्लीण पलीण गुत्तो । (उपदेश ६६)

२३३—कुररी विवाभोग रसाणु गिद्धा, निरट्ट सोया परिताव
मेइ । (काम २४)

- २१५—काम-भोग साक्षात् तालपुट विप के समान ही है ।
- २१६—काम-भोग कठिनाई से त्यागे जाते हैं ।
- २१७—जिमको काम-भोग ही प्रिय है, उसके दुःख शांत नहीं होते हैं ।
वह दुःखी हाता हुआ दुःखी की आवृत्ति की ही प्राप्त करता रहता है ।
- २१८—दुःख निश्चय ही काम-भोगों में अनुगृद्ध होने से उत्पन्न होते हैं ।
- २१९—काम-भोगों पर विजय प्राप्त करना बड़ा ही कठिन है ।
- २२०—काम-भोगों को हटा दो, इससे निश्चय ही दुःख भी हट जायगा ।
- २२१—काम-भोग ससार को बढ़ाने वाले हैं, ऐसा समझते हुए उन्हें पतला कर दे — (क्षीण कर दे) ।
- २२२—कायर पुरुष व्रत के नाश करने वाले ही होते हैं ।
- २२३—काल-क्रम के अनुसार ही जीवन-व्यवहार को चलावे ।
- २२४—धीर पुरुष सत् क्रिया का आचरण करने वाला होवे ।
- २२५—अनशन आदि तप द्वारा देह को कृश करे ।
- २२६—हिंसा में क्यों उद्यत रहते हो ?
- २२७—नीच कर्म करने वाले कीलों से वीधे जाते हैं ।
- २२८—ज्ञाति वालों के साथ मूर्च्छित हुए, निर्बल आत्मा वाले पुरुष अन्त में घोर दुःख पाते हैं ।
- २२९—निर्बल आत्माएँ घर-गृहस्थी के जजाल में ही फस जाती हैं ।
- २३०—साधु-सज्जन पुरुषों के साथ सगति और परिचय करो ।
- २३१—कुप्रवचन वाले पाखंडी याने मिथ्यात्वीं सभी उन्मार्ग में ही स्थित हैं ।
- २३२ गुरु आदि के आश्रय में रहता हुआ कछुए के समान अपनी इन्द्रियो को और मन को समय में रखने वाला होवे ।
- २३३—काम-भोगों के रसों में गृद्ध आत्मा अन्त में निरर्थक शोक करने वाली कुररी नामक पक्षिणी की तरह परिताप को प्राप्त होती है ।

- २३४--कुसग्गे जह ओस विंदुए, एवं मणुयाण जीविय ।
(वैराग्य ५)
- २३५--कुसग्गे पणुन्न निवइय वाएरियं, एव वालस्स जीविय ।
(वैराग्य ६)
- २३६--कुसील वड्ढणं ठाण, दूरओ परिवज्जए । (शील ८)
- २३७--कूराइ कम्माइ वाले फकुव्वमाणे, तेण दुक्खेण समूढे
विप्परियास मुवेइ । (वाल २३)
- २३८--कोलावास समासज्ज वितह पाउरे सए । (प्रकी ११)
- २३९--कोहो पीइ पणासेई । (क्रोध १)
- २४०--कोह असच्च कुव्वेज्जा । (क्रोध ३)
- २४१--कोह माण ण पत्थए । (कपाय २६)
- २४२--कखे गुणे जाव सरीर भेउ । (उपदेश ६)

ख

- २४३--खण जाणाहि पडिऐ । (उपदेश ४५)
- २४४--खण मित्त सुक्खा बहु काल दुक्खा, पगाम दुक्खा अणि-
गाम सुक्खा । (उपदेश ५२)
- २४५--खन्ती एण परिसहे जिणइ । (क्षमा २)
- २४६--खमा वणयाए पल्हायण भाव जणयइ । (क्षमा ३)
- २४७--खमेह अवराह मे; वइज्जन पुणु त्ति अ । (सात्त्विक ३)
- २४८--खवति अप्पाण ममोहदसिणो । (महापुरुष १८)

२३४—जैसे कुशाग्र भाग पर, (घास पर) ओस की बिंदु अस्थिर होती है; वैसे ही यह मनुष्य-जीवन भा अस्थिर है ।

२३५—कुशाग्र पर (ठहरा हुआ) जल बिंदु हवा द्वारा प्रेरणा पाकर गिर पड़ता है, वैसे ही बाल जन का, भोगी का जीवन भी नष्ट हो जाता है ।

२३६—कुशील को बढ़ाने वाले स्थान को दूर से ही छोड़ दो ।

२३७—मंद बुद्धिवाला क्रूर कर्म करता हुआ और उसके दुःख से विवेक शून्य होता हुआ अंत में विपरीत स्थिति को (राग द्वेष की स्थिति को) प्राप्त होता है ।

२३८—जैसे काठ का कीड़ा अपना घर काठ में बना ही लेता है, वैसे ही आत्मारथी मिथ्यात्व की खोज करता हुआ सत्य को प्राप्त कर ले ।

२३९—क्रोध प्रीति का नाश करता है ।

२४०—क्रोध को असत्य कर दो, याने क्रोध मत करो ।

२४१—क्रोध की और मान की इच्छा मत करो ।

२४२—शरीर समाप्ति के अन्तिम क्षण तक भी गुणों की आकांक्षा करते रहो ।

ख

२४३—हे पंडित ! हे आत्मज्ञ ! क्षण को अर्थात् समय के मूल्य को पहिचानो !

२४४—काम-भोग क्षण-मात्र के लिये ही सुख रूप है, जब कि इनका परिणाम बहुत काल के लिये दुःखदाता है । ये अल्प सुख देने वाले और महान् दुःख देने वाले हैं ।

२४५—(उच्च आत्मा) क्षमा द्वारा परिपक्व को जीतता है ।

२४६—क्षमापना से प्रसन्नता के भाव पैदा होते हैं ।

२४७—मेरे अपराध को क्षमा करो, और ऐसा बोले कि “पुनः ऐसा नहीं होगा ।”

२४८—अमोहदर्शी याने तत्त्वदर्शी अपने पूर्व कर्मों का क्षय कर डालते हैं ।

- २४९—खाणी अणत्थाण उ काम भोगा । (काम १३)
 २५०—खेम च सिव अणुत्तर । (मोक्ष १)
 २५१—खेयन्नए से कुसला सुपन्ने, अणत नाणी य अणत दसी ।
 (प्रा म १४)
 २५२—खति सूरा अरहता, तवसूरा अणगारा, दाणं मूरे वेस-
 मणे, जुद्ध सूरे वासुदेवे । (प्रकी ३७)
 २५३—खति सेविज्ज पडिए । (क्षमा १)
 २५४—खते अभिनिव्वुडे दत्ते, वीतगिद्धी सदा जए ।
 (चारित्र ४)

ग

- २५५—गइ लक्खणो उ धम्मो । (प्रकी २०)
 २५६—गाढा य विवाग कम्मणो । (कर्म ७)
 २५७—गिद्ध नरा कामेसु मुच्छिया । (काम २६)
 २५८—गिर च दुट्ठं परिवज्जए सया, सयाण मज्झे लहइ पससणं ।
 (सत्यादि ४४)
 २५९—गिहे दीव मपासता, पुरिसा दाणिया नरा । (प्रकी ७)
 २६०—गुणेहि साहू अगुणेहि असाहू । (श्रमण-भिक्षु १६)
 २६१—गुत्तिदिए गुत्त वम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्ज ।
 (शील २१)
 २६२—गुत्ते जुत्ते सदा जए आय परे । (योग ८)
 २६३—गुरुणो छदाणुवत्तगा, विरया तिन महोघ माहिय ।
 (प्रशस्त १९)

- २४९—काम-भोग निश्चय ही अनर्थों की खान है ।
- २५०—(मोक्ष) क्षेम स्वरूप है, शिव स्वरूप है और अनुत्तर शब्द श्रेष्ठ है ।
- २५१—(प्रभु महावीर) खेदज्ञ याने ससार के दुःख सुखकी जानसे दखे थे, कुशल और शीघ्र बुद्धि वाले थे, अनत ज्ञानी और ब्रह्म दर्शी थे ।
- २५२—क्षमा शूर अरिहंत है, तप शूर अंगार है, दान शूर कुबेर है और युद्ध शूर-वासुदेव है ।
- २५३—पंडित याने सज्जन पुरुष क्षमा का आचरण करे ।
- २५४—(आत्महितैषी)-क्षमा वाला हो, कषाय से रहित हो, जितेन्द्रिय हो, अनासक्त हो, आर सदा यत्ना शील हो ।

ग

- २५५—वर्मास्तिकाय का लक्षण जीव-पुद्गलो के लिये गति में सहायक होना है ।
- २५६—कर्मों का विपाक (फल) प्रगाढ याने अत्यंत कड़वा होता है ।
- २५७—गूढ मनुष्य काम-भोगों में मूर्च्छित होते हैं ।
- २५८—सदा दुष्ट वाणी से दूर ही रहो, इससे (ऐसी आत्मा) सज्जनों के मध्य में प्रशंसा को प्राप्त करता है ।
- २५९—गूढ पुरुष न तो ज्ञान रूप दीपक को हा देख सकते हैं और न चारित्र्य रूप दीप को ही प्राप्त कर सकते हैं ।
- २६०—गुणों द्वारा ही साधु कहा जाता है, और दुर्गुणों से ही असाधु कहा जाता है ।
- २६१—जितेन्द्रिय और गुप्त ब्रह्मचारी सदा अप्रमादी होकर ही विचित्रे ।
- २६२—आत्म भावना वाला सदा गुप्तिशील, जितेन्द्रिय और यत्नशील होवे ।
- २६३—यह ससार महान् प्रवाह रूप समुद्र के समान कहा गया है, अगर इसकीं गुरु की आज्ञानुसार चलने वालो ने तथा पापों से दूर रहने वाली ने ही पार किया है ।

२६४—गुरुं तु नासाययई स पुज्जो । (महापुरुष १३)

२६५—गधाणुरत्तस्स नरस्स एव कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
(योग १९)

च

२६६—चउक्कसायावगए स पुज्जो । (महापुरुष ९)

२६७—चउव्विहा बुद्धी, उप्पइया, वेणइया, कम्मिया, पारि-
णामिया । (ज्ञान ८)

२६८—चउव्विहे कव्वे, गज्जे, पज्जे, कत्थे, गोये । (प्रकी ४०)

२६९—चउव्विहे पायच्छित्ते, णाणपायच्छित्ते, दसण, पायच्छित्ते
चरित्त पायच्छित्ते, वियत्त किच्चे पायच्छित्ते । (तप २५)

२७०—चउव्विहे बन्धे, पगइ बन्धे, ठिइ बन्धे, अणुभावे बन्धे,
पएस बन्धे । (कर्म २६)

२७१—चउव्विहे सघे, समणा, समणीओ, सावगा, साविगाओ ।
(प्रकी ३२.)

२७२—चउव्विहे ससारे, दव्व ससारे, खेत्त ससारे, काल ससारे
भाव ससारे ! (संसार १३)

२७३—चउव्वीसत्थएण दसण विसोहिं जणयइ । (दर्शन १०)

२७४—चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्ख जोणियत्ताए कम्म पगरेति,
माइल्लयाए, नियडिल्लयाए, अलिय वयणेणं, कूडेतुल्ल
कूडमाणेण । (अनिष्ट ३६)

२७५—चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्म पगरेति, महा-
रंभयाए, महापरिग्गहयाए पचेदिय वहेण, कुणिमांहारेण ।
(अनिष्ट ३७)

२६४—जो गुरु की आशक्ति या अविनय नहीं करता है, वही पूज्य है ।

२६५—गंध रूप विषय में अनुरक्त मनुष्य के लिये जरा भी सुख कैसे और कब हो सकता है ?

च

२६६—जो चारों कषायों से रहित हो गया है, वही पूज्य है ।

२६७—चार प्रकार की बुद्धि बतलाई गई है, औत्पातिकी, वैयक्तिकी, कार्मिकी, और पारिणामिकी ।

२६८—काव्य चार प्रकार का है । गद्य, पद्य, कथा और गेय ।

२६९—प्रायश्चित्त चार प्रकार का है :- १ ज्ञान प्रायश्चित्त २ दर्शन प्रायश्चित्त, ३ चारित्र्य प्रायश्चित्त और ४ व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त ।

२७०—वध चार प्रकार का है — १ प्रकृति वध, २ स्थिति वध, ३ अनुभाव वध और ४ प्रदेश वध ।

२७१—सध चार प्रकार का है, १ साधु, २ साध्वी, ३ श्रावक और ४ श्राविका ।

२७२—ससार चार प्रकार का है, १ द्रव्य ससार, २ क्षेत्र संसार, ३ काल ससार, और ४ भाव ससार ।

२७३—चौबीस तीर्थकरों की स्तुति से दर्शन-विशुद्धि (सम्पत्त्व शुद्धि) होती है ।

२७४—चार प्रकार के कामों से जीव तिर्यच योनि का कर्म बध करते हैं १ माया से, २ ठगने का कार्य करने से, ३ झूठ वचन से, और ४ छोटा तोल छोटा माप करने से ।

२७५—चार प्रकार के कामों से जीव नरक-योनि का कर्म-बध करते हैं । १ महा आरंभ से, २ महा परिग्रह से, ३ पंचेन्द्रिय जीवों की घात करने से और ४ मांस का आहार करने से ।

२७६—चउहि ठाणेहि जीवा देवाउयत्ताए कम्म पगरेति, सराग
संजमेण, संजमासजमेण, वाल्लतवो कम्मेण, अकामा
निज्जराए । (सद्गुण २४)

२७७—चउहि ठाणेहि जीवा मणुस्सत्ताए कम्म पगरेति, पगइ
भद्दयाए, विणीयाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए ।
(सद्गुण २५)

२७८—चत्तारि अवायणिज्जा, अविणीए, विगइप्पडिवद्धे, अवि-
उसविय पाहुडे, मायी । (प्रकी ३४)

२७९—चत्तारि आयरिया, आमलग महुर फल समाणे, मुद्धिया
महुर फल समाणे, खीर महुर फल समाणे, खड महुर
फल समाणे । (श्रमण ५४)

२८०—चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचिति मूलाइ पुणवभवस्स
(कपाय ७)

२८१—चत्तारि ज्ञाणा, अट्टे ज्ञाणे, रोद्धे ज्ञाणे, धम्म ज्ञाणे, सुक्के ।
ज्ञाणे । (प्रकी ३९)

२८२—चत्तारि धम्म दारा, खति, मोत्ती, अज्जवे, मद्दवे ।
(धर्म ३६)

२८३—चत्तारि भासाओ भासित्तए, जायणी, पुच्छणी, अणुन्न-
वणी, पुट्टस्स, वागरणी । (सत्यादि ४६)

२८४—चत्तारि वमे सया कसाए । (कपाय ५)

२८५—चत्तारि चायणिज्जा, विणीए, अविगइ पडिवद्धे, विउस-
वियपाहुडे, अमायी । (प्रका ३३)

२८६—चत्तारि विकहाओ पण्णत्ताओ, इत्थि कहा, भत्त कहा,
देस कहा, राय कहा । (प्रकी ३८)

२७६—चार प्रकार के कामों से जीव देव-योनि का कर्म बघ करते हैं:—१ सराग सयम से, २ सयमासंयम से ३ बाल-तपस्या से और ४ अकामनिर्जरा से ।

२७७—चार प्रकार के कामों से जीव मनुष्य-गति का कर्म बघ करते हैं:—१ प्रकृति की भद्रता से, २ विनीत भाव से, ३ दयालु प्रकृति से और ४ मात्सर्य भाव नहीं रखने से ।

२७८—चार प्रकार के पुरुष वाचना देने योग्य नहीं होते हैं:—१ अविनीत, २ स्वाद इन्द्रिय में गूढ़, ३ क्राधी और ४ कपटी ।

२७९—चार प्रकार के आचार्य होते हैं १ आवले के मधुर फल समान, २ द्राक्ष मधुर फल समान, ३ क्षीर मधुर फल समान और ४ खाड़ मधुर फल समान ।

२८०—ये चारो ही परिपूर्ण कपाय, पुन पुन जन्म-मरण की जड़ों को सींचते रहते हैं ।

२८१—ध्यान चार प्रकार का है, आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म-ध्यान, और शुक्ल ध्यान ।

२८२—चार प्रकार के धर्म द्वार हैं—१ क्षमा, २ विनय, ३ सरलता, और ४ मृदुता यानि सतोष ।

२८३—चार प्रकार की भाषा कही गई है—१, याचनिका, २ पृच्छनिका, ३ अवग्राहिका और ४ पृष्ट-व्याकरणिका ।

२८४—चारो कपाय सदा छोड़ने योग्य हैं ।

२८५—चार प्रकार के पुरुष वाचना देने के योग्य होते हैं—१ विनीत, २ स्वाद-इन्द्रिय में अगूढ़, ३ क्षमा-शील और ४ सरल हृदय वाला ।

२८६—चार प्रकार की विकथाएँ कही गई हैं—१ स्त्री कथा, २ भोजन कथा, ३ देश कथा और ४ राज कथा ।

२८७—चत्तारि समणो वासगा, अहागसमाणे, पडाग समाणे,
रवाणु समाणे, खर कट समाणे । (महापुरुष ४९)

२८८—चत्तारि समणोवासगा, अस्मापिइ समाणे, भाइ समाणे,
मित्त समाणे, सवत्ति समाणे । (प्रकी ३५)

२८९—चत्तारि सूरा, खंति सूरे, तव सूरे, दाण सूरे, जुद्ध सूरे ।
(प्रकी ३६)

२९०—चरिज्ज घम्म जिण देसियं विऊ । (धर्म २८)

२९१—चरित्त सपन्नयाए सेलेसी भाव जणयइ । (प्रशस्त १०)

२९२—चरित्तेण निगिण्हाइ । (चारित्र २)

२९३—चरियाए अप्पमत्तो पुट्ठो तत्थ अहियासए ।
(उपदेश ११)

२९४—चरेज्ज अत्तगवेसए । (कर्तव्य १३)

२९५—चरे मुणी सव्वउ विप्पमुक्के । (श्रमण-भिक्षु २९)

२९६—चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के । (श्रमण-भिक्षु ३१)

२९७—चिच्चाण णंतग सोय, निरवेक्खो परिव्वए
(श्रमण-भिक्षु, ४५)

२९८—चिच्चा वित्त च णायओ आरभ च सुसवुडे चरे ।
(महापुरुष ३३)

छ

२९९—छक्काय आहिया, णावरे कौइ विज्जेई । (प्रकी. २४)

३००—छन्द निरोहेण उवेइ मोक्ख । (अनिष्ट ४०)

२८७—चार प्रकार के श्रमणापासक याने श्रावक कहे गए हैं—१ दर्पण समान, २ पताका समान, ३ स्थाणु समान, और ४ खर कंटक समान ।

२८८—चार प्रकार के श्रमणापासक याने श्रावक कहे गए हैं—१ मरुत पिता समान, २ भाई समान, ३ मित्र समान और ४ शत्रु समान ।

२८९—चार प्रकार के शूर कहे गये हैं—१ क्षमा शूर, २ तप शूर, ३ दान शूर और ४ युद्ध शूर ।

२९०—विद्वान् पुरुष जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्मका आचरण करे ।

२९१—चारित्र की संपन्नता से सेलेशी भाव (चौदहवे गुणस्थान में होने वाली स्थिति विशेष) की उत्पत्ति होती है ।

२९२—चारित्र द्वारा ही आश्रव का निरोध किया जा सकता है ।

२९३—चारित्र में अप्रमत्त शील होता हुआ उसके (चारित्र के) सधर्म में आने वाले उपसर्गों को धैर्य के साथ सहन करता रहे ।

२९४—आत्मा का अनुसन्धान करने वाला चारित्र शील हो ।

२९५—सब तरह से प्रपञ्च से दूर रहता हुआ मुनि जीवन-व्यवहार चलावे ।

२९६—सब प्रकार से विप्रमुक्त होता हुआ मुनि जीवन-व्यवहार चलावे ।

२९७—(साधु) आंतरिक शोक का परित्याग करके निरपेक्ष होता हुआ परिव्रज्या शील हो ।

२९८—(सज्जन) घन क्रो, ज्ञाति जनो को और आरभ को छोड़कर सुसवृत्त याने आत्म निग्रही होता हुआ विचरे ।

छ

२९९—काय (जीव-समूह) छः प्रकार का कहा गया है; इसके अतिरिक्त अन्य (काय) कोई नहीं पाया जाता है ।

३००—विषयो के प्रति आसक्ति का निरोध करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

३०१—छन्नं च पसंस णो करे, न य उक्कोस पगास माहणे ।
(कपाय २२)

३०२—छव्विहे भावे, उदइए, उवसमिए, खइए, खयोवसमिए,
पारिणामिए सनिवाइए । (प्रकी. ४४)

३०३—छिदाहि दोस विणएज्ज राग । (कपाय १)

३०४—छिदिज्ज सोय लहुभूयगामी । (उपदेश ९२)

३०५—छिन्न सोए अममे अकिंचणे । (उपदेश ७९)

ज

३०६—जग णाहो जग वंधू, जयइ जग प्पिया महो भयव ।
(प्रा. म १२)

३०७—जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणता । (मोक्ष १४)

३०८—जमट्ठं तु न जाणिज्जा एव मेअ ति नो वए ।
(सत्यादि २१)

३०९—जम्म दुक्ख जरा दुक्ख दुक्खो हु ससारो । (ससार १)

३१०—जयइ गुरु लोगाण जयइ महप्पा महावीरो ।
(प्रा म, ९)

३११—जयइ जग-जीव-जोणी-वियाणओ, जग-गुरु, जगाणदो ।
(प्रा म १३)

३१२—जयइ सुआण पभवो, तित्थयराण अपच्छिमो जयइ ।
(प्रा. म. १०)

३१३—जय सघ चद । निम्मल सम्मत्त विसुद्ध जोणहागा ।
(प्रशस्त २४)

- ३०१—विवेकी, छन्न याने माया, प्रशस्य याने लोभ, उत्कर्ष याने मान, और प्रकाश याने क्राव नहीं करे ।
- ३०२—भाव छ. प्रकार के हैं; १—औद्यिक, २ औपशमिक, ३ क्षायिक, ४ क्षायोपशमिक, ५ पारिणामिक और ६ सान्निपातिक ।
- ३०३—द्वेष को काट डालो और राग का हटा दो ।
- ३०४—शीघ्र ही मोक्ष में जाने की इच्छा रखने वाला शोक—सताप को काट डाले, (इन्हें) दूर कर दे ।
- ३०५—(आत्मारथी) छिन्न शोक वाला, ममता रहित और अकिंचन धर्म वाला होवे ।

ज

- ३०६—जो जगत् के नाथ है, जो जगत् के बधु है, जो जगत् के पितामह है, ऐसे भगवान् महावीर स्वामी जय शील हों ।
- ३०७—जहाँ एक सिद्ध है, वही अनेक याने अनन्त सिद्ध भी है ।
- ३०८—जिस अर्थ को तुम नहीं जानते हो, उसको “ऐसा ही है” इस प्रकार मत बोलो ।
- ३०९—यहाँ पर जन्म का दुःख है जरा याने बुढ़ापे का दुःख है, इस प्रकार ससार निश्चय ही दुःखों का समूह ही है ।
- ३१०—ससार के गुरु, महान् आत्मा, प्रभु महावीर जय—शील हो । सदैव इनकी जय—विजय हो ।
- ३११—जगत् की जीव—योनि के ज्ञाता, जगत् गुरु, जगत् को आनन्द देने वाले भगवान् महावीर स्वामी जयशील हो ।
- ३१२—सभी ज्ञान—विज्ञान के उत्पादक और तीर्थंकरों में चरम तीर्थंकर; ऐसे देवाधिदेव महावीर स्वामी जय—शील हो ।
- ३१३—निर्मल सम्यक्त्व रूप विशुद्ध चादनी वाले हे सध रूप जगद्रमा ! तुम्हारी जय हो । विजय हो ॥

३१४—जय जित्ठे मिअ भासे । (उपदेश ७)

३१५—जरा जाव न पीडेइ, ताव धम्म समायरे ।
(उपदेश २३)

३१६—जरामच्चुवसोवणीए नरे, सयय मूढे धम्म नाभिजाणइ ।
(बाल, ३४)

३१७—जरोवणीयस्स हु नत्थि ताण । (उपदेश ३७)

३१८—जवा लोहमया चेव चावेयव्वा सुदुक्करं । (चारित्र्य ५)

३१९—जहा कड कम्म तहा से भारे । (कर्म २१)

३२०—जहा य किम्पाग फला मणो रमा, ए ओवमा काम
गुणा विवागे । (काम-२२)

३२१—जहारिह मभि गिज्झ आ लविज्ज लविज्ज वा ।
(सत्यादि ४५)

३२२—जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई । (लोभ-४)

३२३—जहा से दीवे असदीणे एव से धम्मे आरिय पदेसिए ।
(वर्म २०)

३२४—जाइ सद्धाइ निक्खत्तो तमेव अणुपालिज्जा । (कर्त्तव्य ३)

३२५—जाए सद्धाए निक्खत्तो, तमेव अणुपालिज्जा ।
(कर्त्तव्य ११)

३२६—जा जा दिच्छसि नारीओ, अट्ठि अप्पा भविस्ससि ।
(गील २५)

३२७—जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं । (वेराग्य १४)

३२८—जाव इदिआ न हायति, ताव धम्मं समायरे ।
(उपदेश २४)

३१४—यत्ना पूर्वक बैठे और परिमित बोले ।

३१५—जब तक बुढापा पीड़ा पहुँचाना प्रारम्भ नहीं कर दे, तब तक धर्म का आचरण कर लो ।

३१६—बुढापा और मृत्यु के चक्कर में फसा हुआ, सदैव मूढ बनता हुआ मनुष्य, धर्म को नहीं समझ सकता है ।

३१७—बुढापे को प्राप्त हुए जीव के लिये निश्चय ही रक्षा का साधन नहीं है ।

३१८—जैसे लोहे के, जौ चवाना अत्यंत कठिन है, उतना ही कठिन समय मार्ग है ।

३१९—जैसा कर्म किया है, वैसा ही उसका भार समझो ।

३२०—जैसे किपाक फल मनोरम होते हैं, यही उपमा फल के लिहाज से काम-भोगो की समझनी चाहिये ।

३२१—यथा योग्य स्वीकार करके आलाप-सलाप करें, बात चित करे ।

३२२—ज्यो ज्यो लाभ, त्यो त्यो लोभ, लाभ लोभ की वृद्धि करता रहता है ।

३२३—जैसे समुद्र मध्य में शरण भूत द्वीप है; वैसे ही ससार समुद्र में अरिहंती द्वारा उपदिष्ट यह धर्म है ।

३२४—जिस श्रद्धा के साथ धर्म मार्ग पर निकले, उसी अनुसार उसका अनुपालन करे ।

३२५—जिस श्रद्धा के साथ निकले, उसी के अनुसार अनुपालन करे ।

३२६—काम-भावना से जिस जिस नारी की ओर देखोगे, उतनी ही बार आत्मा अस्थिर होगी ।

३२७—कर्म-फल भोगने के समय स्त्री और पुत्र रक्षक नहीं हो सकेंगे ।

३२८—जब तक इन्द्रियाँ हीन नहीं हों; तब तक धर्म का आचरण कर लो ।

३२९—जिइदिए जो सहइ, स पुज्जो । (महापुरुष ८)

३३०—जिइन्दओ संवओ विप्पमुक्के, अणुक्कसाई से भिक्खू ।
(श्रमण-भिक्षु ७)

३३१—जिण, भक्खरो करिस्सइ, उज्जोय संव. लोगम्मि
पाणिणं । (प्रवृत्त ७)

३३२—जिणो जाणइ केवली । (ज्ञान ९)

३३३—जीविये वहु पच्च वायए, विहुणां हि रय पुरे कडं ।
(उपदेश, ६३)

३३४—जीवियं चेव ख्व च, विज्जु सपाय चंचल । (अनित्य १)

३३५—जीविय दुप्पडि वूहण । (भोग १३)

३३६—जीविय नाभिकड्खेज्जा, मरण नो वि पत्थए ।
(वैराग्य २१)

३३७—जीविय नावकखिज्जा, सोच्चा धम्म मणुत्तर ।
(धर्म २४)

३३८—जीवो उवओग लक्खण । (प्रकी १८)

३३९—जीवो पमाय वहुलो । (उपदेश ३२)

३४०—जुद्धारिह खलु दुल्लह । (दुर्लभ १३)

३४१—जे अज्झत्थ जाणइ, से वहिया जाणइ, जे वहिया जाणइ,
से अज्झत्थ जाणइ । (आत्मा ६)

३४२—जे अणन्न दसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से
अणन्नदसी । (महापुरुष ४८)

३४३—जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया । (आत्मा. ५)

३४४—जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा ।
(सद् गुण १३)

- ३२९—जितेन्द्रिय होता हुआ जो उपसर्गों को सहता है; वही पूज्य है ।
- ३३०—जो जितेन्द्रिय है, जो सब प्रकार से परिग्रह से मुक्त है, जो कषायों को पतला करने वाला है, वही भिक्षु है ।
- ३३१—सारे लोक में प्राणियों के लिये जिन-याने तीर्थकर रूप सूर्य ही (ज्ञान-दर्शन का) उद्योत करेगे ।
- ३३२—जिन रूप केवली ही सब कुछ जानते हैं ।
- ३३३—यह जीवन अनेक विघ्न बाधाओं से परिपूर्ण है, इसलिये शीघ्र ही पूर्व कृत कर्मों का नाश कर दो ।
- ३३४—यह जीवन और रूप-यौवन विद्युत् की चमक के समान-चंचल है ।
- ३३५—यह जीवन-(आयु) बढ़ाया जा सके, ऐसा नहीं है ।
- ३३६—(महापुरुष) न तो जीवित रहने की आकांक्षा करे और न मृत्यु की चाहता करे ।
- ३३७—श्रेष्ठ धर्म का श्रवण करके (भोगों के लिये) जीवन की आकांक्षा नहीं करे ।
- ३३८—उपयोग याने ज्ञान ही जीव का लक्षण है ।
- ३३९—(स्वभाव से ही) जीव बहुत प्रमादी है ।
- ३४०—आर्य-युद्ध याने कषायों से युद्ध करना बहुत ही दुर्लभ है ।
- ३४१—जो आंतरिक को जानता है, वही बाह्य को भी जानता है, और जो बाह्य को जानता है, वही आंतरिक को भी जानता है ।
- ३४२—जो अनन्य दर्शी है, वही अनन्य आराम वाला है, और जो अनन्य आराम वाला है, ही अनन्य-दर्शी है ।
- ३४३—जो आत्मा है, वही ज्ञाता है, और जो ज्ञाता है, वही आत्मा है ।
- ३४४—(ज्ञानी के लिये) जो आश्रव-स्थान है, वे ही सवर स्थान होते हैं, इसी प्रकार (अज्ञानी के लिये) जो सवर स्थान है, वे ही आश्रव-स्थान हो जाते हैं ।

३४५—जे इन्द्रियाण विसया मणुत्ता, न तेसु भाव निसिरे
कयाइ । (योग ११)

३४६—जे इह आरभ निस्सिया आत दंडा । (अनिष्ट २०)

३४७—जे इह मायाइ मिज्जई, आगंता गन्भाय णतसो ।
(कषाय १५)

३४८—जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्व जाणइ, से एग
जाणइ । (ज्ञान १३)

३४९—जे एग नामे से बहु नामे, जे बहु नामे, से एग नामे ।
(सात्त्विक १७)

३५०—जे कम्हि वि न मुच्छिंए स भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ५)

३५१—जे कोह दसी, से माण दसी । (कषाय २७)

३५२—जे गरहिया सणियाणप्पओगा, ण ताणि सेवति सुधीर
धम्मा । (महापुरुष ४६)

३५३—जे गारव होइ सलोगगामी, पुणो पुणो विप्परियासुवेति ।
(अनिष्ट ३)

३५४—जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे । (भाग ९)

३५५—जे गुणे से मूल ट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे । (भोग ११)

३५६—जेण वियाणइ से आया । (आत्म ३)

३५७—जे णिव्वया पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया ।
(महापुरुष ३६)

३५८—जे दूमण ते हि णो णया, ते जाणंति समाहि माहिय ।
(योग - ३)

३५९—जे घम्मे अणुत्तरे तं गिण्ह हियति उत्तम । (घमं २६)

- ३४५—इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं, उनमें कभी भी चित्त को संलग्न मत करो ।
- ३४६—जो यहाँ पर “आरंभ” में ही संलग्न हो गये हैं, वे अपनी आत्मा के लिये दंड संग्रह कर रहे हैं ।
- ३४७—जो यहाँ पर माया में डूब जाता है, वह अनन्त बार गर्भ में आने वाला है ।
- ३४८—जो एक को जानता है, वही सभी को जानता है, और जो सभी को जानता है, वही एक को भी जानता है ।
- ३४९—जिसने एक (माहेनीय का) क्षय कर दिया है, उसने बहुत (कर्मों) का क्षय कर दिया है, और जिसने बहुत का क्षय कर दिया है; उसने एक का भी क्षय कर दिया है ।
- ३५०—जो किसी में भी मूर्च्छित नहीं होता है, वही भिक्षु है ।
- ३५१—जो क्रोध करने वाला है, वह मान करने वाला भी है ।
- ३५२—जो (क्रियाएँ) निन्दनीय हैं और (जो क्रियाएँ) नियाणा पूर्वक की जाती हैं, उनका तन्मुखीर धर्म वाले आचरण नहीं करते हैं ।
- ३५३—जो अभिमान करता है और अपने यश की इच्छा करता है, वह बार बार विपरीत सयोगो को प्राप्त करता है ।
- ३५४—जो गुण याने विषय वासना है, वही आवर्त्त याने ससार है, और जो आवर्त्त है, वही गुण (विषय वासना) है ।
- ३५५—जो गुण (विषय-वासना) है, वही मूल स्थान (कषाय) है । और जो मूल स्थान है, वही गुण है ।
- ३५६—जिसके आधार से ज्ञान होता है, वही आत्मा है ।
- ३५७—जो पाप कर्मों से निवृत्त हो गये हैं, वे ही “अनियार्णी” वाले कहे गये हैं ।
- ३५८—जो शब्द आदि इन्द्रियों के विषय हैं, उन विषयों में जो नहीं प्रविष्ट हुए हैं, वे ही विख्यात समाधि को जानते हैं ।
- ३५९—जो धर्म श्रेष्ठ हैं, ऐसे हितकारी उत्तम धर्म को ग्रहण करो ।

३६०—जे न वदे न से कुप्पे, वदिओ न समुक्कसे ।
(उपदेश ६५)

३६१—जे माण वसी से माया दसी । (कपाय १६)

३६२—जे य वन्व पमुक्ख मन्नेसी, कुसले पुणो नो वद्धे नो मुक्के ।
(महापुरुष ३९)

३६३—जे विन्नवणा हि ज्जोसिया सत्तिन्नेहि सम वियाहिया ।
(शील ५)

३६४—जो वोवती लूसयती व वत्थं, आहाहु सेणागणियस्स दूरे ।
(श्रमण-भिक्षु ४६)

३६५—जो परिभवई परं जण, ससारे परिवत्तई मह ।
(अनिष्ट १२)

३६६—जो राग दोसेहि समो स पुज्जो । (महापुरुष १२)

३६७—जो विग्गहीए अन्नायं भासी, न से समे होइ अझंझपत्ते ।
(कपाय ३७)

३६८—ज किच्चा णिव्वुडा एगे निट्ठं पावति पडिया ।
(उपदेश २१)

३६९—ज छेन्न तं न वत्तव्व । (सत्यादि १४)

३७०—जं जारिसं पुव्व मकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए ।
(कर्म २२)

३७१—ज मग्गहा वाहिरिय विसोहि, न त सुइट्ठ कुसला वयन्ति ।
(बाल ९)

३७२—जं मयं सब्ब साहूण, तं मय सल्लगत्तण । (उपदेश २०)

३७३—ज वदिता अणुत्तप्पती । (सत्यादि ४१)

३६०—यदि कोई वदना नहीं करे तो क्रोधित नहीं हो जाय, इसी प्रकार वदना किया जाने पर हर्षित भी न हो ।

३६१—जो मान करने वाला है, वह माया करने वाला भी है ।

३६२—जो वध और मोक्ष के कारणों का अनुसन्धान करने वाला है, वह कुशल है, उसके पुनः वध नहीं होने वाला है और वह अमुक्त होता हुआ भी शीघ्र मुक्त हो जाने वाला है ।

३६३—जो स्त्रियो द्वारा सेवित नहीं है, याने पूर्ण ब्रह्मचारी है, वे सिद्ध पुरुषों के समान ही कहे गये हैं ।

३६४—जो (शृंगार भावना से) वस्त्र को धोता है, अथवा छोट्य बढ़ा करता है, वह निर्ग्रन्थ-अवस्था से दूर कहा गया है ।

३६५—जो दूसरे मनुष्य का अपमान करता है, वह ससार में बार बार परिभ्रमण करता है ।

३६६—जो राग और द्वेष से शान्त हो गया है, इनसे दूर हो गया है, वह पूज्य है ।

३६७—जो विग्रह- (लड़ाई झगडा) करता रहता है, और अन्याय-मुक्त बोलता है, वह न तो शांति प्राप्त कर सकता है, और न कोम-माया से रहित ही हो सकता है ।

३६८—जिस (सत् आचरण को) करके, अनेक निवृत्त हुए हैं, उसी आधार से पंडित सिद्धि को प्राप्त करते हैं ।

३६९—जो गोपनीय हो, उसे नहीं बोलना चाहिये ।

३७०—जिसने जैसे पूर्व में कर्म किये हैं, वैसा ही ससार में उसकी फल प्राप्त होता है ।

३७१—जो बाह्य विशुद्धि की ही खोज करते हैं, उसको पंडित “बुद्धि” याने बाह्यनीय नहीं कहते हैं ।

३७२—जो सिद्धान्त सभी साधुओं द्वारा मान्य है, वही, सिद्धान्त, स्वयं को (माया, नियाणा, मिथ्यात्व को) छेदने वाला है ।

३७३—जिसको बोल कर पछताना पड़े । (वह मत बोलो)

३७४—जं सेयं तं समायरे । (उपदेश ५)

३७५—ज हंतव्व तं नाभिपत्त्याए । (उपदेश ३५)

झ

३७६—ज्ञाणं जोग समाहट्टु कार्यं विउसेज्ज सब्बसो । (योग २७)

ड

३७७—उज्झमाण न वुज्झामो, रागदोसग्गिणा जग । (संसार ४)

ण

३७८—ण कत्थई भास विहिसडज्जा । (श्रमण-मिद्ध ३८)

३७९—णच्चा धम्म अणुत्तर कय किरिए ण यावि मामए । (धर्म २५)

३८०—ण पंडिए अगाणि समारमिज्जा । (हिंसा ७)

३८१—ण मिज्जई महावीरे । (सात्त्विक ११)

३८२—णमो तित्थयराणं । (प्रा म. १)

३८३—णमो सिद्धाणं । (प्रा. मं २)

३८४—ण य सखय माहु जीवित्त, तह वि य वाल जणो पगव्वमई । (वैराग्य ७)

३८५—ण यावि पन्ने परिहास कुज्जा । (सात्त्विक ९)

३८६—णाति वेलं वदेज्जा । (सत्यादि ३९)

३८७—णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसि
णाल ताणाए वा सरणाए वा । (वैराग्य १७)

३७४—जो श्रेय हो, कल्याणकारी हो, उसीका आचरण करो । -

३७५—जो मारने योग्य है, उसकी आकाक्षा नहीं करे ।

भ

३७६—ध्यान-योग का आचरण करके सब प्रकार से काया को अनिष्ट प्रवृत्ति से दूर कर दो ।

ड

३७७—राग और द्वेष रूपी अग्नि से जलते हुए ससार को हम नहीं समझ रहे हैं । (यह आश्चर्य है ।)

ण

३७८—वह भाषा नहीं कही जाय, जो हिंसा पैदा करने वाली हो ।

३७९—अनुत्तर-(श्रेष्ठ) धर्म को जान कर क्रिया करता हुआ ममत्व भावना नहा रखे ।

३८०—पंडित अग्नि सबधी समारम्भ नहीं करे ।

३८१—महान् शूर वीर, महापुरुष बार बार जन्म मरण नहीं करता है ।

३८२—तीर्थं करो के लिये नमस्कार हो ।

३८३—सिद्धो के लिये नमस्कार हो ।

३८४—टूटा हुआ जीवन पुनः नहीं जोड़ा जा सकता है, फिर भी बाल-जन पाप करता ही रहता है ।

३८५—प्रज्ञावान् पुरुष किसी की भी हंसी मजाक नहीं करे ।

३८६—लम्बे समय तक वार्तालाप नहीं करे ।

३८७—(हे आत्मा !) तेरे लिये वे, (ज्ञाति जन) न तो सरक्षक हो सकते हैं और न शरण दाता ही । इसी प्रकार तुम भी उनके लिये न तो सरक्षक और न शरण दाता ही हो सकते हो ।

३८८—णिक्खम्म से सेवइ अगारि कम्मं, ण से पारए हाइ
विमोयणाए । (भोक्ष १)

३८९—णिच्छिण्ण सव्व दुक्खा जाइ जरा मरण वंधण-विमुक्का ।
(मोक्ष ८)

३९०—णिद्दि पि नो पगामाए । (अनिष्ट ३२)

३९१—णीवारे व ण लीएज्जा, छिन्न सोए अणाविले
(महापुरुष ३७)

३९२—णेव वफेज्जे मम्मय । (सत्यदि २६)

३९३—णो कुज्जे णो माणि । (कषाय २५)

३९४—णो जीवितं णो मरणाहि कखी । (कर्त्तव्य ४)

३९५—णो तुच्छए णो य विकथइज्जा । (श्रमण-भिक्षु ३९)

३९६—णो निग्गथे इत्थीणं इन्दियाइ मणोहराइ, मणोरमाइ
आलोएज्जा, निज्जाएज्जा । (शील २३)

३९७—णो निग्गथे इत्थीण पुव्व रयं, पुव्व कीलियं अणुसरेज्ज ।
(शील १३)

३९८—णो निग्गथे पणीय आहारं आहारेज्जा । (शील ३०)

३९९—णो निग्गथेविभूसाणुवादी हविज्जा । (श्रमण-भिक्षु २२)

४००—णो पूयणं तवसा आवहेज्जा । (तप ११)

४०१—णो सुलभ वोहि च आहिय । (दुर्लभ ५)

त

४०२—तओ गुत्तीओ पणत्ताओ मण गुत्ती, वय गुत्ती, काय गुत्ती ।
(योग २८)

४०३—तओ दुत्तणप्पा, दुट्ठे, मूढे, वुग्गाहिए
(प्रकी. ३०)

- ३८८—जो संसार के परित्याग करके भी गृहस्थ जैसे ही कर्म करता है, वह संसार से मुक्ति पाने के लिए पार नहीं जा सकता है ।
- ३८९—सिद्ध प्रभु सभी दुःखों से पार हो गये हैं तथा, जन्म, जरा, मृत्यु और बधन से विमुक्त हो गये हैं ।
- ३९०—बहुत निद्रा भी मत लो ।
- ३९१—छिन्न शोक वाला, कषाय रहित (आत्मा) धान्य के प्रति (सूअर की तरह) काम-भोगों की तरफ आकर्षित नहीं होवे ।
- ३९२—मर्मघाती वाक्य नहीं बोले ।
- ३९३—न क्रोध करे और न मान करे ।
- ३९४—(अनासक्त महापुरुष) न तो जीवन की आकांक्षा करे और न मृत्यु की ही आकांक्षा करे ।
- ३९५—(ज्ञानी) तो अपने का तुच्छ समझे और न अपनी प्रशंसा करे ।
- ३९६—निग्रन्थ स्त्रियों के मनोहर और मनोरम अंगोपांग रूप इन्द्रियों को न तो देखे और न उनका चिन्तन करे ।
- ३९७—निग्रन्थ स्त्रियों के साथ पूर्व काल में भोगे हुए भोगों को याद नहीं करे ।
- ३९८—निग्रन्थ सरस आहार नहीं करे ।
- ३९९—निग्रन्थ शृंगार वादी नहीं हो ।
- ४००—तप द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा मत करो ।
- ४०१—सम्यक् ज्ञान 'सुलभ' रीति से प्राप्त होने योग्य नहीं कहा गया है ।

त

- ४०२—तीन प्रकार की गुप्तियाँ कही गई हैं, मन गुप्ति, वचन गुप्ति, और काया गुप्ति ।
- ४०३—तीन प्रकार की आत्माएँ मुक्तिकल से समझाये जाने योग्य हैं.—१ दुष्ट, (२) मूढ़ और (३) दुराग्रही ।

४०४—तओ सुग्गया, सिद्ध सुग्गया, देव सुग्गया, मणुस्स सुग्गया ।
(प्रकी ३१)

४०५—तओ सुसन्नप्पा, अदुट्ठे, अमूढे, अवुग्गाहिए । (प्रकी २९)

४०६—तण्हा हया जस्स न होइ, लोहो, लोहो हओ जस्स न
किचणाइं । (सद्गुण ८)

४०७—तमेव सच्च नीसक, ज जिणेहि पवेइय । (उपदेश १)

४०८—तरुण ए वास सयस्स तुट्ठती, इत्तर वासे य वुज्झह ।
(वैराग्य ८)

४०९—तवसा धुणइ पुराण पावग । (तप २)

४१०—तवेण परिसुज्झई । (तप ३)

४११—तवेण वोदाण जणयइ । (तप ६)

४१२—तवेषु वा उत्तम बंभचरे । (शील १)

४१३—तवो गुण पहाणस्स उज्जुमइ । (तप ४)

४१४—तव कुव्वइ मेहावी । (तप ५)

४१५—तव चरे । (तप १)

४१६—तस काय समारभ जाव जीवाइ वज्जए । (अहिंसा २३)

४१७—तसे पाणे न हिंसिज्जा । (अहिंसा ५)

४१८—ताइणो परिणिव्वुडे । (अहिंसा २०)

४१९—ताले जह वधण-चुए एव आउक्खयमि नुट्ठती ।
(वैराग्य ९)

४२०—तिण्णो हु सि अण्णवं मह, कि पुण चिट्ठसि तीर मागओ ।
(उपदेश ४)

४२१—तिव्वलज्ज गुणव, विहरिज्जासि । (अनिष्ट ८)

४२२—तिविहा उवही, सच्चित्ते, अचित्ते, मीसए । (अनिष्ट ३९)

- ४०४—तीन प्रकार के सद्गत जीव हैं,—(१) सिद्ध सद्गाढ़,
(२) देव सद्गत, (३) मनुष्य सद्गत ।
- ४०५—तीन प्रकार की आत्माएँ सरलता से शिक्षा देने योग्य हैं
(१) अदुष्ट, (२) अमूढ़ और (३) अनाग्रही ।
- ४०६—जिसकी तृष्णा नष्ट हो गई है, उसके लोभ नहीं होता है
जिसका लोभ नष्ट हो गया है, उसके परिग्रह नहीं होता है ।
- ४०७—उसी को सत्य और निश्चय समझो, जो कि जिन-वीतराग देवों
परा कहा गया है ।
- ४०८—सौ वर्ष की आयु वाले पुरुष की आयु भी तरुण अवस्था में दृष्ट
जाया करती है, अतः यहाँ पर अल्प कालीन वास ही समझो ।
- ४०९—तप द्वारा पुराने पाप की निर्जरा होती है ।
- ४१०—तप से आत्मा विशेष रीति से शुद्ध होती है ।
- ४११—तप से निर्जरा पैदा होती है ।
- ४१२—सभी तपो में सर्व श्रेष्ठ तप ब्रह्मचर्य ही है ।
- ४१३—तप रूप प्रधान गुण वाले की मति सरल होती है ।
- ४१४—मेघावी पुरुष तप करता है ।
- ४१५—तप का आचरण करो ।
- ४१६—अस काय का समारम्भ जीवन-पर्यन्त के लिये छोड़ दो ।
- ४१७—अस प्राणियों की हिंसा मत करो ।
- ४१८—अभय दान देने वाले ससार से पार उत्तर जाते हैं ।
- ४१९—जैसे वधन से गिरा हुआ ताड़-फल टूट जाता है, वैसे ही अदुष्ट-
प्य के क्षय होते ही प्रणी- (पर लोक को चला जाता है ।)
- ४२०—निश्चय ही महान् ससार रूप समुद्र तो तैर गये हो, फिर कहीं
किनारे तक पहुँचे हुए होकर ठहरे हुये हो ।
- ४२१—गंभीर लज्जा शील होकर विचरो ।
- ४२२—उपधि तीन प्रकार की है—सचित्त, अचित्त और मिश्र ।

४२३—तिविहेणा वि पाण माहणे । (योग २६)

४२४—तिविहे भगवया वम्मै, सुअहिज्जिए, सुज्जाइए,
मुतवस्सिए । (वर्म ३५)

४२५—तुम तुमं ति अमणुत्त, सव्वसो त ण वत्तए ।
(सत्यादि १६)

४२६—तेसि पि तवो ण सुद्धो निक्खता जे महाकुला ।
(अनिष्ट ३३)

४२७—तं ठाणं सासय वान, ज सपत्ता न सोयान्ति । (मोक्ष १९)

थ

४२८—थद्धे लुद्धे अणिग्गहे अविणीए । (काम ३७)

४२९—थणति लुप्पति तस्संति कम्मी । (प्रकी ९)

४३०—थम्मा कोहा पमाएण, रोगेणा लस्सएण थ
सिक्खा न लव्भई । (काम ३६)

४३१—थव थुइ मंगलेण नाण दसण चरित्त बोहिलाभं जणयइ ।
(घर्म ३२)

४३२—थी कहं तु विवज्जए । (शील १२)

द

४३३—दद्धो पक्को अ अवसो, पाव कम्मोहि पाविओ ।
(आत्मा १७)

४३४—दया वम्मस्स खतिए, विप्पसीएज्ज मेहावी ।
(अहिंसा ११)

४२३—मन, वचन और कर्मा करके भी प्राणियों को मत-मारो ।

४२४—भगवान ने तीन प्रकार का धर्म फुरमाया है—१ सम्यक् प्रकार से सूत्र आदि का अध्ययन, २ सम्यक् प्रकार से ध्यान और ३ सम्यक् तप ।

४२५—“तू ! तू ! ऐसा अमनोज्ञ” शब्द किसी भी रूप से मत बोलो ।

४२६—जो महान् कुल से निकले हुए है, (लेकिन जिनका ध्येय अपनी यश कीर्ति, और पूजा प्रतिष्ठा ही है तो) उनकी तपस्या शुद्ध नहीं है ।

४२७—वह स्थान शाश्वत् निवास वाला है, जिसको प्राप्त करके शोक रहित हो जाते हैं ।

थ

४२८—जो अहंकारी है, जो लोभी है, जो स्वच्छद इन्द्रियो वाला है, वह अविनीत है ।

४२९—पाप कर्मों अत में रोते हैं, छेदे जाते हैं और दुःखी किये जाते हैं ।

४३०—अहंकार से, क्रोध से, प्रमाद से, रोग से और आलस्य से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है ।

४३१—ईश्वरीय प्रार्थना-स्तुति रूप मंगल से ज्ञान दर्शन चारित्र्य रूप बोध का प्राप्ति होती है ।

४३२—स्त्री-कथा को सर्वथा छोड़ दो ।

द

४३३—यह पापी आत्मा पाप कर्मों द्वारा आग से जलिया गया, पकाया गया और दुःख खेलने के लिये विवश किया गया ।

४३४—मेघादी दया धर्म के लिये क्षमा-शील होता हुआ अपनी आत्मा को प्रसन्न करे ।

- ४३५— दव्वओ खेत्तओ चैव कालओ भावओ तहा जयणा
चउव्विहा वुत्ता । (धर्म २९)।
- ४३६—दवदवस्स न गच्छेज्जा । (उपदेश ६८)।
- ४३७—दाण भत्ते सणा रया । (श्रमण-भिक्षु २०)।
- ४३८—दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण । (अहिंसा १)।
- ४३९—दाराणि य सुया चैव, मय नाणुव्वयन्ति य । (संसार ३)।
- ४४०—दिट्ठिम दिट्ठि ण लूसएज्जा । (दर्शन ९)
- ४४१—दिट्ठेहि निव्वेय गच्छिज्जा । (उपदेश ९३)।
- ४४२—दिव्व च गइ गच्छन्ति, चरित्ता धम्म मारिय ।
(धर्म १७)।
- ४४३—दीवे व धम्म । (धर्म ३)
- ४४४—दुक्कर तारुण्णे समणत्तण । (श्रमण-भिक्षु ३३)।
- ४४५—दुक्खाइ अणुहोति पुणो पुणो, मच्चु वाहि जरा कुले ।
(भोग ५)।
- ४४६—दुक्खी इह दुक्कडेण । (अनिष्ट २)।
- ४४७—दुक्खी मोहे पुणो पुणो । (अनिष्ट २३)।
- ४४८—दुक्खेण पुट्ठे घुयमाइएज्जा, (श्रमण-भिक्षु ४९)।
- ४४९—दुक्ख च जाई मरणं । (प्रकी. १३)
- ४५०—दुक्ख हय जस्स न होइ मोहो, मोहो हयो जस्स न]
होइ तण्हा । (सद्गुण ७)
- ४५१—दुज्जयए काम भोगे य निच्चसो परिवज्जए ।
(काम १५)।

४३५—यतना ज़ार प्रकार की कही गई है —द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से ।

४३६—जल्दी जल्दी, (उतावला उतावला) धव धव करके नहीं चले ।

४३७—(आत्मार्षी) दिये जाने वाले निर्दोष आहार—पानी के अनुसंधान में रत रहते हैं ।

४३८—सभी प्रकार के दानों में श्रेष्ठ दान “अभय दान” देना है ।

४३९—मृत्यु होने पर स्त्री, पुत्र आदि साथ में आने वाले नहीं हैं ।

४४०—सम्यक् दृष्टि वाला अपनी दृष्टि को (अपने विश्वास को) दूषित नहीं करे ।

४४१—विरोधी उपदेशों से निर्वेद अवस्था (उदासीनता) ग्रहण कर लो ।

४४२—आर्य धर्म का आचरण करके अनेक महापुरुष दिव्य गति को जाते हैं ।

४४३—धर्म दीपक के समान है ।

४४४—यौवन अवस्था में साधु धर्म पालना अत्यन्त कठिन है ।

४४५—भोगी, मृत्यु व्याधि और बुढ़ापे से आकुल होते हुए बार बार दुःखों का अनुभव करते हैं ।

४४६—यहाँ पर प्राणी दुष्कृत्यों से ही दुःखी होता है ।

४४७—मोह ग्रस्त (प्राणी) बार बार दुःखी होता है ।

४४८—नीतिवान् दुःखों के आने पर भी ध्रुव रूप से स्थित रहे ।

४४९—बार बार जन्म और बार बार मरण, ये ही दुःख के रूप हैं ।

४५०—जिसको मोह नहा होता है, उसका दुःख नष्ट हो गया और जिसको तृष्णा नहीं सताती है, उसका मोह भी नष्ट हो गया है ।

४५१—कठिनाई से छोड़ने योग्य इन काम-भोगों को सदैव के लिये छोड़ दो ।

४५२—दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीर पुरिं सेहि ।
(काम ८)

४५३—दुप्पराए इमे आया । (लोभ ३)

४५४—दुम पत्तए पड्डुयए जहा, एव मणुयाण जीविय ।
(वैराग्य ४)

४५५—दुल्लभे ऽय समुत्सए । (दुर्लभ १०)

४५६—दुल्लहया काएण फासया । (दुर्लभ ७)

४५७—दुल्लहाओ तहच्चाओ । (दुर्लभ ८)

४५८—दुल्लहे खलु माणुसे भवे । (उपदेश ३१)

४५९—दुल्लह लहित्तु सामण्ण, कम्मणा न विराहिज्जासि ।
(उपदेश ७२)

४६०—दुविहा पोगगला, सुहुमा चेव वायरा चेव । (प्रकी. २५)

४६१—दुविहा वोही, णाण वोही चेव दसण वोही चेव ।
(ज्ञान ३)

४६२—दुविहे आगासे, लोगागासे चेव, अलोगागासे चेव ।
(प्रकी. २६)

४६३—दुविहे कोहे—आय पइट्ठिए चेव पर पइट्ठिए चेव ।
(क्रोध ७)

४६४—दुविहे दसणे, सम्म दंसणे चेव मिच्छा दंसणे चेव ।
(दर्शन १२)

४६५—दुविहे धम्मे पन्नत्ते, सुअ धम्मो चेव चरित्त धम्मो चेव ।
(धर्म. ३४)

४६६—दुविहे नाणे, पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव । (ज्ञान ६)

४६७—दुविहे बंधे पेज्ज बंधे चेव दोसं बंधे चेव । (कपाय ३०)

४६८—दुविहे सामाइए, अगार सामाइए, अणगार सामाइए ।
(तप १५)

४५२—कठिनाई से छोड़ने योग्य ये काम-भोग अधीर पुरुषों द्वारा सरलता पूर्वक नहीं छोड़े जा सकते हैं ।

४५३—यह आत्म स्थित तृष्णा कठिनाई से पूरी जाने वाली है ।

४५४—जैसे वृक्ष का पीला पत्ता गिर पड़ता है, वैसे ही मनुष्य के जीवन को (अचानक पूर्ण हो जाने वाला) समझो ।

४५५—यह शरीर सपत्ति दुर्लभ है ।

४५६—शरीर द्वारा धर्म का परिपालन किया जाना दुर्लभ ही है ।

४५७—श्रद्धा अनुसार ही त्याग- प्राप्ति भी दुर्लभ ही है ।

४५८—निश्चय ही, मनुष्य-भव दुर्लभ है ।

४५९—दुर्लभ श्रमण धर्म प्राप्त करके अकृत्यों द्वारा उसकी विराचना मत करो ।

४६०—पुद्गल दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और वादर ।

४६१—समज्ञ दो प्रकार की है:—१ ज्ञान समज्ञ २ दर्शन समज्ञ ।

४६२—आकाश दो प्रकार का है:—लोकाकाश और अलोकाकाश ।

४६३—क्रोध दो प्रकार का है—आत्मा प्रतिष्ठित और परप्रतिष्ठित ।

४६४—दर्शन दो प्रकार का है:—१ सम्यक्त्व दर्शन और २ मिथ्यात्व दर्शन ।

४६५—दो प्रकार का धर्म कहा गया है:—१ श्रुत धर्म और २ चारित्र्य धर्म ।

४६६—ज्ञान दो प्रकार का है —१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष ।

४६७—वध दो प्रकार का है :—१ राग वध और २ द्वेष वध ।

४६८—सामायिक दो प्रकार की हैं:—१ गृहस्थ सामायिक और २ साध सामायिक ।

४६९—दुस्सील पडिणीए सुहरी निक्कसिज्जई । (अनिष्ट १४)

४७०—देव दाणव गन्धव्वा बम्भयारि नमसति । (शील ३)

४७१—देह दुक्ख महाफल । (कर्म २८)

४७२—दो दडा पन्नता, तजहा, अट्टा दडे चेव, अणट्टा दडे चेव ।
(प्रका २७)

४७३—दोस वत्तिया मुच्छा दुविहा, कोहे-चेव माणे चेव ।
(कषाय २८)

४७४—दोस दुग्गइ वड्ढण । (अनिष्ट १८)

४७५—दोहिं ठाणेहिं आया केवलि पन्नत्त धम्म लभेज्जा सवण-
याए, खाएण चेव उवसमेण चेव । (धर्म ३३)

४७६—दसण सपन्न याए, भव मिच्छत्त छेयण करेइ ।
(दर्शन ७)

४७७—दसणेण य सदहे । (दर्शन ३)

ध

४७८—वणेण किं धम्म घुरा हि गारे (धर्म ७)

४७९—धम्म ज्ञाणरए जे स भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ८)

४८०—धम्म सद्धाए ण साया सोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ ।
(धर्म १५)

४८१—धम्मस्स विणओ मूल । (धर्म ५)

४८२—धम्म विक्र उज्जू । (धर्म १३)

४८३—धम्माण कासवो मुह । (धर्म ३०)

४६९—दुराचारी, प्रतिकूल वृत्ति वाला, और वाचाल बहिष्कृत किया जाता है ।

४७०—ब्रह्मचारी को देवता, दानव और गन्धर्व भी नमस्कार करते हैं ।

४७१—शरीर में उत्पन्न होने वाले दुःख पूर्वकृत कर्मों के ही महाफल हैं ।

४७२—दंड दो प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं :—१ अर्थ दंड और २ अनर्थ दंड ।

४७३—द्वेष वृत्ति वाली मूर्च्छा दो प्रकार की है—१ क्रोध और २ मान ।

४७४—द्वेष दुर्गति का बढ़ाने वाला है ।

४७५—आत्मा केवली के कहे हुए धर्म को सुनकर दो प्रकार से प्राप्त करता है :—१ क्षय रूप से और २ संप्रशम रूप से ।

४७६—दर्शन की संपन्नता से (आत्मा) सासारिक मिथ्यात्वका छेदन करता है ।

४७७—दर्शन के अनुसार ही श्रद्धा रखनी ।

ध

४७८—धर्म रूपी घुरा के अगीकार कर लेने पर धन से क्या (तात्पर्य— है) ?

४७९—जो धर्म-ध्यान में रत है, वही भिक्षु है ।

४८०—धर्म के प्रति श्रद्धा के जम जाने पर साता वेदनीय जनित सुखो पर विरक्ति पैदा हो जाती है ।

४८१—धर्म का मूल विनय है ।

४८२—धर्म को समझने वाला सरल हृदयी होता है ।

४८३—धर्मों का मुख (आदि स्त्रोत) काश्यप (श्री ऋषभदेव-स्वामी) है ।

४८४—धम्मारामे चरे भिक्खू । (अमण-भिक्षु १९)

४८५—धम्मे ठिओ सुव्व पयाणु कम्पी । (अहिंसा १९)

४८६—धम्मे हरए वम्मे सन्ति तित्थे । (धर्म ४)

४८७—धम्मो दीवो । (धर्महर ४)

४८८—धम्मो मंगल मुक्किट्ठ । (धर्म १)

४८९—धम्म अकाऊण जो गच्छइ पर भव, सो दुही होइ । (धर्म १८)

४९०—धम्म च कुणमाणस्स सफला जन्ति साइओ । (धर्म ८)

४९१—धम्मं चर सुदुच्चर । (धर्म १०)

४९२—धम्म पि काऊण जो गच्छइ परं भवं, सो सुही होइ । (धर्म ९)

४९३—धितिम विमुक्केण ये पूयणट्ठी न सिलोय गामी य
परिच्चएज्जा । (उपदेश १६)

४९४—धीरा वंधणमुक्का । (महापुरुष २४)

४९५—धीरे मुहुत्त मवि णो पमायए । (उपदेश ३)

४९६—धुय मायरेज्ज । (कर्त्तव्य १५)

४९७—धोरेय सीला, तवसा उदारा, धीरा हु भिक्खारिय
चरन्ति । (महापुरुष २३)

४८४—भिक्षु धर्म रूपी वाटिका में ही विचरे ।

४८५—धर्म में स्थित होते हुए सभी जीवों पर अनुकम्प करने वाले
होओ ।

४८६—धर्म रूपी तालाव में ब्रह्मचर्य रूप तीर्थ (घाट है) ।

४८७—ससार समुद्र में धर्म ही द्वीप है ।

४८८—धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है ।

४८९—धर्म की बिना आराधना किये ही जो परलोक को जाता है,
वह दुःखी होता है ।

४९०—धर्म करने वाले के दिन रात सफल ही होते हैं ।

४९१—“आचरण में कठिनाई वाला और फल में अच्छाई वाला”
ऐसे धर्म का तू आचरण कर ।

४९२—जो धर्म का आचरण करके पर भव को जाता है, वह सुखी
होता है ।

४९३—धैर्य शाली पुरुष विकारों से विमुक्त होता हुआ अपने लिये
पूजा की इच्छा नहीं करे । यश-कीर्ति की इच्छा वाला भी न हो,
तथा संयम शील होता हुआ विचरे ।

४९४—धैर्य शाली वन्धन से उन्मुक्त होते हैं ।

४९५—धैर्य शील क्षण मात्र का भी प्रमाद नहीं करे ।

४९६—संयम का आचरण करो ।

४९७—तप प्रधान जीवन वाले, शील को अग्र गण्य रखने वाले, धर्म
धुरधर धीर पुरुष ही भिक्षा चर्या का अनुसरण करते हैं ।

न

- ४९८—न असद्वभ माहु । (सत्यादि ८)
- ४९९—न आविमुक्खो गुरुहीलणाए । (अनिष्ट ६)
- ५००—न कम्मणा कम्म खवेति वाला । (वाल ६)
- ५०१—न काम भोगा समयं उवेन्ति । (काम १८)
- ५०२—न कखे पुव्व सथव । (सद्गुण, १८)
- ५०३—न चरेज्ज वेस सामते । (शील ९)
- ५०४—नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं । (मोक्ष १८)
- ५०५—नत्थि चरित्त सम्मत्त विहूण । (दर्शन २)
- ५०६—न त अरी कठ छित्ता करेइ, ज से करे अप्पणिया
दुरप्पा । (आत्म १५)
- ५०७—न त सुह कामगुणेषु राय, ज भिक्खुण सील गुणे रयाण ।
(शील ४)
- ५०८—न वाहिर परिभवे । (कपाय १९)
- ५०९—न भासिज्जा भास अहिअ गामिण । (सत्यादि ७)
- ५१०—नमइ मेहावी । (सात्त्विक ५)
- ५११—नमो ते ससयातीत । (प्रा. म ४)
- ५१२—न य रूवेसु मण करे । (शील, १७)
- ५१३—न य वित्तासए पर । (अहिंसा १०)
- ५१४—न या विपूय गरह च संजए । (महापुरुष २९)
- ५१५—न लवेज्ज पुट्ठो सावज्ज । (सत्यादि १२)
- ५१६—न सरण वाला पडिय माणिणो । (वाल ११)

न

- ४९८—असम्पत्ता के साथ मत बोलो ।
- ४९९—गुरुकी हीलना-निंदा करने से कभी भी मोक्ष नहीं मिल सकता है ।
- ५००—बाल जन, अज्ञानी अपने कार्यों द्वारा कर्म का क्षय नहीं कर सकते हैं ।
- ५०१—काम-भोग वाले प्राणी शांति (समता) को नहीं प्राप्त कर सकते हैं ।
- ५०२—(ज्ञानी) पूर्व काल में प्राप्त प्रशंसा आदि की इच्छा नहीं करे ।
- ५०३—(विवेकी) वेश्या आदि के मकान के आसपास नहीं जावे आवे ।
- ५०४—कर्मों से अमुक्त के लिये निर्वाण नहीं है ।
- ५०५—सम्यक् दर्शन के अभाव में चारित्र्य नहीं होता है ।
- ५०६—जितनी हानि अपनी पापी आत्मा स्व के लिये कर संकती है, उतनी कठ का छेदन करने वाला शत्रु भी नहीं कर सकता है ।
- ५०७—जो सुख शील गुण में रत भिक्षुओं को प्राप्त होता है, वह सुख काम भोगों में राग रखने से नहीं मिल सकता है ।
- ५०८—बाह्य व्यक्तियों को पराजित मत करो ।
- ५०९—अहित करने वाली भाषा मत बोलो ।
- ५१०—मेघावी विनय शील होता है ।
- ५११—हे संशय से अतीत ! तुम्हें नमस्कार हो ।
- ५१२—रूप-विषयों में मन को सलग्न मत करो ।
- ५१३—दूसरे को त्रास मत दो ।
- ५१४—सयती पूजा और निंदा से (चंचल) नहीं होवे ।
- ५१५—भूछने पर सावध नहीं बोलें ।
- ५१६—अपने आप को पंडित मानने वाले बाल जन शरण रहित होते हैं ।

५१७—न सव्व सव्वत्थ अभिरोयएज्जा । (योग १६)

५१८—न सिया तोत्त गवेसए । (उपदेश ३९)

५१९—न सत्त सत्ति मरण ते सीलवन्ता बहुस्सुया । (शील ३२)

५२०—न हणे णो विघायए । (अहिंसा ४)

५२१—न हणे पाणिणो पाणे । (अहिंसा १२)

५२२—न हिंसए किंचण सव्व लोए । (अहिंसा ९)

५२३—न हु पाण वह अणु जाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्व दुक्खाण ।
(हिंसा ५)

५२४—न हु मुणी कोवपरा हवन्ति । (क्रोध ६)

५२५—नाइमत्त तु भुजिज्जा वम्भचेर रओ । (शील २९)

५२६—नाइ वाइज्ज कचण । (अहिंसा १४)

५२७—नागो जहा पक तलाव सन्नो, एव वय काम गुणेषु गिद्धा ।
(काम १)

५२८—नाणव्भट्ठा दसण लूसिणो । (दर्शन ४)

५२९—नाण सपन्नयाए जीवे, सव्व भावाहि गम जणयइ ।
(ज्ञान ७)

५३०—नाणा रुइ च छन्द च, परिवज्जेज्ज सजओ ।
(योग १२)

५३१—नाणी नो पमाए कयाइ वि । (उपदेश ३८)

५३२—नाणी नो परिदेवए । (प्रशस्त ३)

५३३—नाणेण जाणई भावे । (ज्ञान ४)

५३४—नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो । (ज्ञान ११)

५३५—नाणेण विना न हुन्ति चरण गुणा । (ज्ञान ५)

५१७—सब जगह किसी भी पदार्थ के प्रति लालायित मत हो ।

५१८—पर छिद्रों के ढूढ़ने वाले मत होओ ।

५१९—हे सत ! हे शीलवन्त ! हे बहुश्रुत ! तुम्हारे लिये मृत्यु आदि दुःख नहीं होते हैं ।

५२०—(ज्ञानी जीवों को) च तो मारे और न घात करे ।

५२१—प्राणियों के प्राणों को मत हणो ।

५२२—संपूर्ण लोक में किसी की भी हिंसा मत करो ।

५२३—(विवेकी) प्राणि-वध की अनुमति नहीं दे, क्योंकि इससे सभा दुःखों का कभी भी नाश नहीं होता है ।

५२४—मुनि क्रोध करने वाले नहीं होते हैं ।

५२५—ब्रह्मचर्य में रत होता हुआ अति मात्रा में भोजन नहीं करे ।

५२६—कोई भी वात अति विस्तृत रूप से नहा कहे ।

५२७—जैसे हाथी कीचड़ वाले तालाव में फस जाता है, वैसे ही हम काम-भोगों में गृद्ध हैं ।

५२८—सम्यक् दर्शन से पतित हुए प्राणी सम्यक् ज्ञान से भी अष्ट हो जाते हैं ।

५२९—ज्ञान की संपन्नता से जीव सभी पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न कर लेता है ।

५३०—मयमी नाना रुचि का और विषयों की अभिलाषा को छाड़ दे ।

५३१—ज्ञाना कभी भी प्रमाद नहीं करे ।

५३२—ज्ञानी खेद नही करे ।

५३३—ज्ञान द्वारा ही पदार्थ जाना जाता है ।

५३४—ज्ञान से ही मुनि हाता है और तप से ही तपस्वी होता है ।

५३५—सम्यक् ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र्य नहीं हो सकता है ।

५३६—नाति वेल हसे मुणी । (श्रमण-भिक्षु ३४)

५३७—ना दसणिस्स नाणं । (ज्ञान १०)

५३८—ना पुट्ठो वागरे किंचि । (सत्यादि १३)

५३९—नायएज्ज तणा मवि । (सात्त्विक २१)

५४०—नारइ सहई वीरे, वीरे न सहई रति । (महापुरुष ४७)

५४१—नारीसु नोवगिज्जेज्जा, धम्म च पेसल णच्चा । (शील १६)

५४२—निग्गया उज्जु दसिणो । (श्रमण-भिक्षु १४)

५४३—निग्गया धम्म जीविणो । (श्रमण-भिक्षु १३)

५४४—निद्देस नाइवट्टेज्जा मेहावी । (उपदेश ५६)

५४५—निद्दे च न बहु मन्निजा । (उपदेश ३०)

५४६—निद्दे च भिक्खू न पमाय कुज्जा । (श्रमण-भिक्षु ४०)

५४७—निमम्मे निरहंकारे । (सद्गुण १)

५४८—निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खू जिणाहियं । (श्रमण-भिक्षु ४४)

५४९—निरट्ठाणि उवज्जए । (सात्त्विक ६)

५५०—निरासवे सखवियाण कम्म, उवेइ ठाण विउल्लुत्तम धुव । (उपदेश ८३)

५५१—निरुद्धग वा वि न दीहइज्जा । (प्रकी ११०)

५५२—निव्वाण वादी णिह णायपुत्ते । (प्रा मं ७)

५५३—निव्वाण सघए मुणि । (उपदेश ७५)

५५४—निविण्ण चारी अेरए पयासु । (शील १८)

५५५—निव्वि देज्ज सिलोग पूयण । (कर्त्तव्य १८)

- ५३६—मुनि बहुत समय तक नहीं हसे ।
- ५३७—सम्यक् दर्शन से रहित का सम्यक् ज्ञान नहा होता है ।
- ५३८—विना पूछे कुछ भी नहीं बोले ।
- ५३९—विना आज्ञा के (किनी का) तृण मात्र भी नहा लेवे ।
- ५४०—वीर पुरुष न ता रति (राजा) रखता है और न अरति (द्वेष) ही रखता है ।
- ५४१—(साधक) धर्म को सुन्दर समझ कर स्त्रियो में गृद्ध नहीं हावे ।
- ५४२—निर्ग्रन्थ सरल दृष्टि वाले होते हैं ।
- ५४३—निर्ग्रन्थ धर्म जीवी होते हैं ।
- ५४४—मेघावी (गुरु जनो की) आज्ञा का उल्लंघन नहीं करे ।
- ५४५—(आत्मा हितैषी) बहुत निद्रा नहीं लेवे ।
- ५४६—भिक्षु निद्रा और प्रमाद नहीं करे ।
- ५४७—ममता रहित और अहंकार रहित होओ ।
- ५४८—ममता रहित और अहंकार रहित होता हुआ भिक्षु जिन आज्ञा-नुसार विचरे ।
- ५४९—निरर्थक कार्यों को छोड़ दो ।
- ५५०—(मुमुक्षु) आश्रय रहित होता हुआ, कर्मों का सम्यक् प्रकार से क्षय करके, विपुल, उत्तम और ध्रुव स्थान का प्राप्त होता है ।
- ५५१—स्वल्प को दीर्घ रूप नहीं दे ।
- ५५२—निर्वाण वादियो में ज्ञात पुत्र महावीर स्वामी सर्व श्रेष्ठ है ।
- ५५३—मुनि निर्वाण को ही साधे ।
- ५५४—वैराग्य शील हाकर विचरने वाला स्त्रियो के प्रति रति-भावना नहीं लावे ।
- ५५५—अपनी प्रशंसा और पूजा प्रणिष्ठा से दूर ही रहो !

५५६—निव्वेणेण दिव्व माणुस तेरिच्छिणुसु काम भोगेसु
'निव्वेयं हव्व मागच्छइ । (वैराग्य २३)

५५७—नो अत्ताण आसाइज्जा, नो पण आसाइज्जा ।
(उपदेश ८७)

५५८ नोऽवि य पूयण पत्थए सिया । (प्रशस्त १८)

५५९—नो इन्द्रिय गेज्झ अमुत्त भावा, अमुत्तभावा वि य होइ
निच्चो । (आत्म २)

५६०—नो निहणिज्ज वीरिय । (उपदेश ८०)

५६१—नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा, गइ वच्छासु अणेग चित्तासु ।
(शील २६)

५६२—नो लोगस्सेसण चरे । (प्रशस्त १)

५६३—नो विहरे सहणमित्थीसु । (काम २८)

५६४—नो मुलभ पुणरावि जीविय । (दुर्लभ १२)

प

५६५—पच्चक्खाणेण आसव दाराइ निरुम्भइ । (तप १९)

५६६—पच्चमाणस्स कम्मेहि नाल दुक्खाओ मोअणे ।
(सात्त्विक १९)

५६७—पच्छा पुरा व चडयव्वे, फेण वुव्वुय सन्निभे ।
(अनित्य ४)

५६८—पण्डित नरए घोरे जं नरा पावकाणिणो । (अधर्म २)

५६९—पडिक्कमणेण वयच्छिदाणि पिहेइ । (तप १७)

५७०—पडिणीए असवुद्धे अविणीए । (अनिष्ट १५)

५७१—पढम नाण नओ दया । (ज्ञान २)

५५६—विरक्ति भावना से देवता मनुष्य और तिर्यच सबधी काम-भोगो पर शीघ्र ही वैराग्य उत्पन्न हो जाता है ।

५५७—न तो अपनी आत्मा को दुःखी करो और न दूसरे की आत्मा को दुःखी करो ।

५५८—अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के प्रार्थी मत बनो ।

५५९—आत्मा अमूर्त स्वरूप वाली है, इसीलिये इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य नहीं है । अमूर्त स्वरूप वाली होने से ही निश्चय पूर्वक वह नित्य है ।

५६०—आत्म-बल का विनाश मत करो ।

५६१—स्तन वाली, चंचल चित्त वाली ऐसी राक्षसी समान स्त्रियो में गृद्ध मत होओ ।

५६२—ससार की इच्छानुसार मत विचर ।

५६३—स्त्रियो के साथ विहार मत करो ।

५६४—बार बार जीवन प्राप्त होना सुलभ नहीं है ।

प

५६५—प्रत्याख्यान से आश्रय के द्वार बंद हो जाते हैं ।

५६६—कर्मों से पीडित प्राणी के लिये दुःखों से छुड़ाने में कोई भी समर्थ नहीं है ।

५६७—यह शरीर पीछे या पहले छोड़ना ही होगा, इसकी स्थिति फेन या बुल बुले के समान है ।

५६८—जो मनुष्य पापकारी है, वे घोर नरक में पड़ते हैं ।

५६९—प्रतिक्रमण से व्रतों के छिद्र ढंक जाते हैं ।

५७०—प्रतिकूल वृत्ति वाला और समझदारी नहीं रखने वाला अविनीत होता है ।

५७१—पहले ज्ञान और पीछे दया ।

५७२—पणए वीरे महाविहि, सिद्धि पह णेआउय धुव ।

(प्रशस्त १७)

५७३—पण्ण समत्ते सया जए, समता धम्म मुदाहरे ।

(कर्त्तव्य २१)

५७४—पटुट्ट चित्तो यो चिणाइ कम्म ।

(कर्म २)

५७५—पमत्ते अगार मावसे ।

(अनिष्ट १७)

५७६—परक्कमिज्जा तव सजममि ।

(तप ७)

५७७—पर किरिअ च वज्जए नाणी ।

(उपदेश ५७)

५७८—परिजूरइ ते सरीर य, समय गोयम । मा पमायए ।

(वैराग्य २)

५७९—परिव्वयन्ते अणियत्त कामे, अही य राओ परितप्पमाणे ।

(उपदेश ६०)

५८०—परिसह रिऊ दता धूअमोहा जिइदिआ ।

(महापुरुष १५)

५८१—पवड्ढती वेर मसजतस्स ।

(बाल ३१)

५८२—पहीयए कामगुणेसु तण्हा ।

(लोभ १५)

५८३—पाडिओ फालिओ छिन्नो, विप्फुरस्तो अणेगसो ।

(आत्म १८)

५८४—पाणाणि चेव विणि हति मदा ।

(हिंसा ८)

५८५—पाणातिवाता विरते ठियप्पा ।

(अहिंसा २१)

५८६—पाणा पाणे किलेसति ।

(अनिष्ट ३८)

५८७—पाणि वह घोर ।

(हिंसा १)

५८८—पाणे य नाइ वाएज्जा, निज्जाइ उदग व थलाओ ।

(अहिंसा ८)

५८९—पायच्छित्त करणेण पाव कम्म-विसोहि जणयइ ।

(तप २०)

- ५७२—जो सिद्धि पथ, महान् विधि रूप है, न्याय युक्त है, ध्रुव है, उसी पर विनात वीर चलता है ।
- ५७३—पूर्ण बुद्धिमान् सदा यत्न शील होता हुआ समता धर्म का उपदेश करता रहे ।
- ५७४—जो द्वेष पूर्ण चित्त वाला है, वह कर्म को इकट्ठा करता है ।
- ५७५—जो साधु प्रमादी है, वह गृहस्थ अवस्था में ही रहा हुआ है ।
- ५७६—तप-सयम में पराक्रम बतलाओ ।
- ५७७—जानी दूसरो के लिये भोग-उपभोग की क्रियाएं करना छोड़ दे ।
- ५७८—तुम्हारा शरीर निश्चय ही जीर्ण होने वाला है, इसलिये हे गीतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो ।
- ५७९—जो काम-भोगो को नहीं छो ते हैं, वे रात दिन परिताप पाते हुए परिभ्रमण करते रहते हैं ।
- ५८०—जो परिपह रूप शत्रु को जीतने वाले है, जो मोह को नष्ट करने वाले हैं, वे ही जितेन्द्रिय हैं ।
- ५८१—असयती के लिए वैर ही बढता है ।
- ५८२—काम-भोगो मे रही हुई तृष्णा हटाई जाय ।
- ५८३—यह आत्मा अनेक बार उधर उधर भागते हुए पटका गया, फाडा गया, छिन्न भिन्न किया गया ।
- ५८४—मद बुद्धि वाले, प्राणियो की हिंसा करते हैं ।
- ५८५—स्थितप्रज्ञ आत्मा प्राणातिपात से विरतिवाली होती ह ।
- ५८६—प्राणी ही प्राणियो का क्लेश पहुँचाते हैं ।
- ५८७—प्राणियो का वध घोर पाप है ।
- ५८८—जा प्राणियों की हिंसा नहीं करता है, उस के कर्म-इस प्रकार दूर हो जाते हैं, जसे कि ढालू जमीन से पानी दूर हो जाता है ।
- ५८९—प्रायश्चित्त करने से पाप-कर्मों की विशुद्धि होती है ।

५९०—पाव कम्म नेव कुज्जा न कारवेज्जा-। (उपदेश ३६)

५९१—पावदिट्ठी विहन्नई । (अनिष्ट २९)

५९२—पावाइ कम्माइ करति रुद्धा, तिव्वाभितावे नरए पडति ।
(अनिष्ट २४)

५९३—पात्राइ मेधावी अज्झप्पेण ममाहरे । (उपदेश ८९)

५९४—पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा । (उपदेश १५)

५९५—पावोवगा य आरभा, दुक्ख फासा य अतसो ।
(अनिष्ट २५)

५९६—पास ! लोए महब्भय । (ससार ९)

५९७—पासे समिय दसणे, छिन्दे गेहि सिणेह च । (उपदेश ८६)

५९८—पिट्ठ मस न खाइज्जा । (सत्यादि ३५)

५९९—पियं करे पियवाई, से सिक्ख लद्ध मरिहई । (मत्यादि ३२)

६००—पिय न विज्जई किञ्चि, अप्पिय पि न विज्जई ।

(महापुरुष २१)

६०१—पियमाप्पय कस्सइ णो करेज्जा । (उपदेश १२)

६०२—पिय मप्पिय सब्ब तितिक्खएज्जा । (क्षमा ४)

६०३—पिहियासवस्स दतस्सतस्स पाव कम्म न वधई । (उपदेश २६)

६०४—पुढवि समे मुणी हविज्जा । (श्रमण-भिक्षु २५)

६०५—पुढो य छदा इह माणवा उ । (प्रकी. १७)

६०६—पुणो पुणो गुणासाए, वक समायारे । (भाग १०)

६०७—पुरिमा उज्जु जड्डा उ, वक्क जडा य पच्छिमा ।

(प्रकी. १४)

- ५९०—पाप कर्म न तो करे और नहीं करावे ।
- ५९१—पाप दृष्टि वाला विनष्ट हो जाता है ।
- ५९२—रौद्र भावों वाले पाप कर्म करते हैं और तीव्र ताप वाले नरक में पड़ते हैं ।
- ५९३—मेधावी अल्प ध्यान द्वारा ही पापों को दूर कर देता है ।
- ५९४—पाप से आत्मा को लौटा लो ।
- ५९५—आरम्भ के काम पाप को पैदा करने वाले हैं और अतमें दुःख का स्पर्श कराने वाले ही हैं ।
- ५९६—देखो ! लोक महान् भय वाला है ।
- ५९७—सम्यक् दर्शनी विचार करे, और आसक्ति तथा मोह को दूर करे ।
- ५९८—निंदा मत करो ।
- ५९९—जो प्रिय करने वाला है और प्रिय बोलने वाला है, वही शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता रखता है ।
- ६००—महात्मा के लिये न कोई प्रिय होता है और न कोई अप्रिय होता है ।
- ६०१—किसी का भी प्रिय अप्रिय (राग द्वेष के कारण से) मत करो ।
- ६०२—प्रिय अप्रिय सभी शांति पूर्वक सहन करो ।
- ६०३—जिसने आश्रय का रोक दिया है और जो इन्द्रियो का दमन करने वाला है, उसके पाप कर्म नहीं बढ़ा करते हैं ।
- ६०४—मुनि पृथ्वी के समान धैर्यशाली होवे ।
- ६०५—इस ससार में मनुष्य अनेक प्रकार के अभिप्राय वाले होते हैं ।
- ६०६—जो बार बार इन्द्रियो के भोगों का आस्वादन करता है, वह कुटिल आचरण वाला है ।
- ६०७—प्रथम तीर्थंकर के युग में जनता सरल और जड़ थी, जब कि अंतिम तीर्थंकर के युग में जनता वक्र और जड़ है ।

६०८—पुरिसा ! अत्ताण मेव अभिणिगिज्झ, एव दुक्खा पमुच्चसि । (उपदेश ४८)

६०९—पुरिसा ! तुममेव तुम मित्त, कि बहिया मित्त मिच्छसि । (उपदेश ४७)

६१०—पुरिसा ! सच्च मेव समभि जाणाहि । (सत्यादि ३)

६११—पूयणट्ठा जसो कामी बहु पसवइ पाव । (अनिष्ट १०)

६१२—पूयणा पिट्ठतो कता, ते ठिया सुसमाहिए । (महापुरुष ३४)

६१३—पेज्जवत्तिया मुच्छा दुविहा, माए चेव लोहे चेव । (कषाय १३)

६१४—पच ठाणाइ समणाणं जावं अब्भणुत्तायाइ भवति, सच्चे, सजमे, तवे, चियाए, बभ चेर वासे । (धर्म ३७)

६१५—पच णिही, पुत्त णिही, मित्तणिही, सिप्पणिही, धणणिही धन्नणिही । (प्रकी ४३)

६१६—पच निग्गहणा धीरा । (योग १)

६१७—पच विहे आयारे, णाणायारे, दसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, वीरियायारे । (सद्गुण २३)

६१८—पच विहे काम गुणे निच्चसो परिवज्जए । (काम ३३)

६१९—पचविहे ववहारे, आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए । (प्रकी ४२)

६२०—पचविहे सोए, पुढवि सोए, आउ सोए, तेउ सोए, मत्त सोए, वभसोए । (प्रकी, ४१)

६२१—पडिया पवियक्खणा, विणियट्ठन्ति भोगेसु । (महापुरुष ३)

६२२—पत्त लूह सेवति वीरा समत्त दसिणा । (महापुरुष ४५)

६०८—हे पुरुष ! अपनी आत्मा में ही अनुरक्त होओ और इसी रीतिसे मुक्त हो सकोगे ।

६०९—हे पुरुष ! तुम ही तुम्हारे मित्र हो, बाह्य मित्र की इच्छा क्यों करते हो ?

६१०—हे पुरुष ! सत्य का ही सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त करो ।

६११—पूजा का आकाक्षी और ईश का कामी बहुत पाप का उपाज्जन करता है ।

६१२—जिसने पूजा से मुँह मोड़ लिया है, वही सुसमाधि में स्थित है ।

६१३—राग वृत्ति से सवधित मूर्च्छा दो प्रकार की है —माया सबधी और लोभ सबधी ।

६१४—साधुओं के लिये पाँच प्रकार के स्थान कर्त्तव्य रूप से कहे गये

हैं:—सत्य, सयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य ।

६१५—निधियाँ पाच हैं —पुत्रनिधि, मित्रनिधि, ज्ञाननिधि, धननिधि और धान्य निधि ।

६१६—पाचो इन्द्रियो का निग्रह करने वाले ही धीर पुरुष कहलाते हैं ।

६१७—आचार पाच प्रकार का कहा गया है:—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपोचार और वीर्याचार ।

६१८—पाच प्रकार के काम-भोगों को सदैव के लिये छोड़ दो ।

६१९—व्यवहार पाच प्रकार का है:—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत ।

६२०—पवित्रता पाच प्रकार की कही गई है, पृथ्वी मिट्टी से जनित पवित्रता, पानी से, अग्नि से, मन्त्र से और ब्रह्मचर्य से ।

६२१—पंडित और प्रवीण पुरुष भोगों से निवृत्त ही होते हैं ।

६२२—सम्यक्त्व दर्शी वीर पुरुष नीरस और निस्वाद भोजन का आहार करते हैं ।

फ

६२३—फासेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्व, अकालिय पावइ से
विणास । (योग २१)

ब

६२४—बद्धे विसय पासेहि, मोह मावज्जइ पुणो मदे ।
(बाल २१)

६२५—बहिया उड्डमादाय, नाव कखे क्याइ वि, (काम ३९)

६२६—बहु कम्म लेव लित्ताण, बोही होइ सु दुल्लहा ।
(दुर्लभ १५)

६२७—बहु दुक्खा हु जन्तवो । (ससार १०)

६२८—बहु पि अणुसासिए जे तहच्चा, समेहु से होइ अञ्जझपत्ते ।
(महापुरुष ४०)

६२९—बहु मायाओ इत्थियो । (प्रकी १६)

६३०—बाल जणो पगब्भइ । (बाल १२)

६३१—बाल भावे अप्पाण नो उव दसिज्जा । (बाल १)

६३२—बालाणं मरणं असइ भवे । (बाल ३)

६३३—बाला वेदति कम्माइ पुरे कडाइं । (कर्म २४)

६३४—बालुया कवले चेव, निरस्साए उ सजमे ।
(श्रमण-भिक्षु २१)

६३५—बाले पापेहि मिज्जती । (बाल १३)

६३६—बाले य मन्दिए मूढे, वज्झई मच्छिया व खैलम्मि ।
(बाल २)

फ

६२३—जो स्पर्श इन्द्रिय के भोगों में तीव्र गृद्धि भाव रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है ।

ब

६२४—मूर्ख आत्मा विषय-पाश से बंधी हुई होकर बार बार मोह-ग्रस्त होती है ।

६२५—महत्वाकाक्षी उच्च स्थिति प्राप्त करके फिर कभी भी भोगों की आकाक्षा नहीं करे ।

६२६—बहुत कर्मों के लेश से लिप्त प्राणियों के लिए सम्यक् ज्ञान दर्शन की प्राप्ति सुदुर्लभ होती है ।

६२७—ससारी जीव निश्चय ही विविध दुःख वाले होते हैं ।

६२८—बहुत प्रकार से अनुशासित किया जान पर भी जो विचारों में विकार नहीं आने देता है, वह निश्चय में समता शील होकर हुआ व्याकुलता से रहित होता है ।

६२९—स्त्रियाँ बहुत माया वाली होती हैं ।

६३०—बालजन ही अभिमानी होता है ।

६३१—अपनी आत्मा को बाल भाव में नहीं दिखाना चाहिए ।

६३२—मूर्खों की मृत्यु बार बार होती है ।

६३३—मूर्ख आत्माएँ पूर्व कृत कर्मों का फल भोगती हैं ।

६३४—सयम पालना वाला-रेत के कौर के समान निस्स्वाद और कठोर है ।

६३५—मूर्ख पापो से डूबता है ।

६३६—बाल आत्मा, मन्द आत्मा, मूढ़ आत्मा इस प्रकार फँस जाती है, जैसे कि मक्खी नाक और मुख के कफ रूप मल में फँस जाती है ।

६३७—बुद्धा धम्मस्स पारगा । (प्रशस्त २)

६३८—बुद्धामो ति य मन्नता अत ए ते समाहिण । (वाल १७)

६३९—बुद्धा हु ते अत कडा भवति । (ज्ञान १२)

६४०—बुद्धे परि निव्वुडे चरे, सन्ती मग्ग च बूहए ।
(उपदेश ६४)

६४१—बुद्धो भोगे परिच्चयई । (महापुरुष ४)

६४२—बंभयारिस्स इत्थी विग्गहओ भय । (शील २)

भ

६४३—भद् सव्व जगुज्जोयगस्स, भद् जिणस्स वीरस्स ।
(प्रा. म १७)

६४४—भद् सील पडागु सियस्स, तव नियम तुरय जुत्तस्स ।
(प्रा. म २१)

६४५—भद् सुरासुर नमसियस्स भद् धुय रयस्स । (प्रा. मं. ११)

६४६—भय वेराओ उवरए । (सात्त्विक १८)

६४७—भव तण्हा लया वुत्ता भीमा भीम फलोदया ।
(लोभ ७)

६४८—भवे अकामे अझझे । (सात्त्विक १०)

६४९—भायण सव्व दव्वाण, न्हं ओगाह लक्खण ।
(प्रकी. २२)

६५०—भारस्स जाता मुणि भुज एज्जा । (ध्रमण-भिक्षु ४८)

- ६३७—बुद्ध, ज्ञानी धर्म के पार पहुँचे हुए होते हैं ।
- ६३८—“हम ज्ञानी हैं” ऐसा जो अपने आप को मानते हैं, वे समाधि से बहुत दूर हैं ।
- ६३९—जो निश्चय में ज्ञानी हैं, वे ससार का अन्त करने वाले होते हैं ।
- ६४०—ज्ञान शाली होकर, सब प्रकार से परिनिवृत्त होकर विचरे, तथा शांति के मार्ग की वृद्धि करता रहे ।
- ६४१—ज्ञानी ही भोगो को छोड़ता है ।
- ६४२—ब्रह्मचारी के लिये स्त्री के शरीर से भय रहा हुआ है ।

भ

- ६४३—सपूर्ण ससार में उद्योत करने वाले जिन देव वीर-प्रभु का शासन भद्र हो, कल्याणकारी हो ।
- ६४४—जिसमें शील रूप पताका फरक रही है, और जिसमें तप, नियम रूप घोड़े जुते हुए हैं, ऐसे श्री मध रूप रथ के लिए भद्र हो, मंगल हो ।
- ६४५—जिनको सुर और अमुर सभी नमस्कार करते हैं और जिन्होंने कर्म रूप रज का धो डाली है, ऐसे श्री वीर प्रभु मंगल-कारी हैं ।
- ६४६—भय और वैर से दूर रहो ।
- ६४७—तृष्णा एक प्रकार की सासारिक भयकर लता कही गई है, जिससे भीषण फल प्राप्त होते हैं ।
- ६४८—निष्कामना वाला राग रहित होवे ।
- ६४९—आकाश सभी द्रव्यों का भाजन है और “स्थान देना” ही इसका लक्षण है ।
- ६५०—सत्यम रूपी यात्रा के निर्वाह के लिये ही मुनि भोजन करे ।

६५१—भावणा जोग सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।

(योग ३)

६५२—भाव विसोहीए निव्वाण मभि गच्छइ । (प्रशस्त १५)

६५३—भासेमाणो न भासेज्जा । (सत्यादि २७)

६५४—भासियव्व हिय सच्च । (सत्यादि ६)

६५५—भिक्षवत्ती सुहावहा । (श्रमण ५१)

६५६—भिक्षू सुसाहुवादी । (श्रमण-भिक्षु २६)

६५७—भुज्जो भुज्जो दुहा वास, असुहत्त तहा तहा ।

(अनिष्ट २६)

६५८—भुत्ताण भोगाण परिणामो न सुन्दरो । (भाग ३)

६५९—भुजमाणो य मेहावी कम्मणा नोवलिप्पइ ।

(महापुरुष २६)

६६०—भुंजिज्जा दोष वज्जिअ ।

(सद्गुण २२)

६६१—भूएहि न विरुज्जेज्जा ।

(उपदेश ४१)

६६२—भूओ व घाइणि भास नेवं भासिज्ज पन्नव ।

(सत्यादि १९)

६६३—भोगा इमे सग करा हवति ।

(काम १२)

६६४—भोगा भुत्ता विसफलोवमा, कडुय विवागा अणुवध
दुहावहा । (भोग २)

६६५—भोगी भमइ ससारे, अभोगी विप्पमुच्चई । (भोग ८)

म

६६६—मग्ग कुसीलाण जहाय सव्वं, महा नियंठाण वए पहेण ।

(उपदेश ३३)

६५१—भावना के योग से शुद्ध आत्मा जल में नाव की तरह कहा गया है ।

६५२—भावो की विशुद्धि से निर्वाण को प्राप्त होता है ।

६५३—कोई दूसरा बोलता हो तो बीच में नहीं बोले ।

६५४—हितकारी और सत्य ही बोलना चाहिए ।

६५५—भिक्षा वृत्ति सुखो को लाने वाली है ।

६५६—भिक्षु सत्य और मधुर बोलने वाला होता है ।

६५७—(भोगो की तल्लीनता) बार बार दुःखो का ही घर है, और ज्यों ज्यों दुःख, त्यों त्यों अशुभ (विचार बढ़ते ही रहते हैं) ।

६५८—भोगे हुए भोगो का परिणाम सुन्दर नहीं होता है ।

६५९—अनासक्त रूपसे भोजन करता हुआ मेघावी कर्मों से लिप्त नहीं होता है ।

६६०—दोष से वर्जित भोजन करो ।

६६१—भूतो के साथ याने प्राणियों के साथ वैर-भाव मत रखो ।

६६२—प्रज्ञ पुरुष जीवघातिनी (मर्मन्तिक) भाषा नहीं बोले ।

६६३—ये भोग कर्मों की सगति कराने वाले होते हैं ।

६६४—भोगे हुए भोग विष फल के समान हैं, कहुए परिणाम वाले हैं और निरन्तर दुःखो को लाने वाले हैं ।

६६५—भोगी ससार में भ्रमण करता है और अमोगी मुक्त हो जाता है ।

म

६६६—(मुमुक्षु) कुशीलो के सपूर्ण मार्ग का परित्याग करके महा निर्णयो के मार्ग-अनुसार बोले ।

६६७—मच्चुणा ऽ व्भा हओ लोगो जराए परिवारिओ ।

(वैराग्य १३)

६६८—मच्चू नरं नेइ हु अन्त काले, नइ तस्स माया व पिया
व भाया अंस हरा भवन्ति । (वैराग्य १५)

६६९—मज्ज मस लसुण च भोच्चा अनत्थ वास परिकप्पयति ।
(अनिष्ट २१)

६७०—मज्जत्थो निज्जरा पेही, समाहि मणु पालए । (तप २४)

६७१—मज्झिमा उज्जु पन्ना उ । (प्रकीर्ण १५)

६७२—मण गुत्तो वय गुत्तो काय गुत्तो जिइंदिओ जावज्जीव
दढव्वओ । (योग ६)

६७३—मणसा काय वक्केण, णारभि ण परिगही । (योग २५)

६७४—मणो साहस्सिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई । (योग ५)

६७५—मन वय कायसु संवुडे स भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ६)

६७६—ममाइ लुप्पई वाले । (वाल २६)

६७७—महप्पसाया डसिणो हवन्ति । (महापुरुष १९)

६७८—महव्भयाओ भीमाओ, नरएसु दुह वेयणा । (संसार ७)

६७९—महुगार समा वुद्धा । (श्रमण-भिक्षु १)

६८०—माणुस्स खु सु दुल्लह । (दुर्लभ १७)

६८१—माणो विणय नासणो । (कषाय १७)

६८२—माण महवया जिणे । (सद्गुण ४)

६८३—मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा । (सत्यादि २५)

६६७—यह ससार मृत्यु से पीड़ित है और बुढ़ापे से घिरा हुआ है ।

६६८—अंतिम काल में मृत्यु मनुष्य को निश्चय ही ले जाती है, उसके माता, पिता, भाई, कोई भी अंग रूप से भी रक्षक नहीं होते हैं ।

६६९—(मुख) मद्य, मांस, लशुन खा करके अनर्थ वास का (नीच गति की) परिकल्पना करते हैं ।

६७०—निर्जराप्रेक्षी मध्यस्थ (तटस्थ) रहता हुआ समाधि का अनुपालन करे ।

६७१—दूसरे तीर्थंकर से लगा कर तेइसवें तार्थंकर तक के शासन काल की जनता-सरल और बुद्धिशालिनी थी ।

६७२—जीवन पर्यंत दृढ व्रत शाली हाता हुआ मनगुप्ति, वचन गुप्ति और काया गुप्ति वाला एव जितेन्द्रिय हवे ।

६७३—मन, वचन और काया द्वारा न तो आरंभ ही आरंभ परिग्रही हो ।

६७४—यह मन साहसिक और भयकर दुष्ट घोडा रूप है, जो कि निरंतर दौड़ता रहता है ।

६७५—जो मन, वचन और काया द्वारा सवृत्त है, व्रत शील है, वही भक्षु है ।

६७६—बाल-आत्मा ममता से डूबता है ।

६७७—ऋषि महान् प्रसन्न होते हैं, वे शोक रहित होते हैं ।

६७८—नरको दुःख वेदनाएँ महान् भयकर और भीषण होती हैं ।

६७९—ज्ञानी भयुक्त के समान होते हैं ।

६८०—मनुष्यत्व निश्चय ही सुदुर्लभ है ।

६८१—मान विनय का नाश करने वाला है ।

६८२—मान को मृदुता जाते

६८३—छल कपट के स्थान को छान दो ।

- ६८४—माया गडं पडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ।
(कपाय १२)
- ६८५—माया पिया ण्हुसा भाया नालं ते मम ताणाए ।
(वैराग्य १६)
- ६८६—माया मित्ताणि नासेइ । (कपाय ११)
- ६८७—माया मुस वड्ढइ लोभ दोसा । (सत्यादि ३०)
- ६८८—माया मोस विवज्जए । (सत्यादि ३६)
- ६८९—माया मोस विवज्जए । (कपाय १०)
- ६९०—मायाहिं पियाहिं लुप्पइ, नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।
(दुर्लभ १८)
- ६९१—माय अज्जव भावेण । (सद्गुण ५)
- ६९२—माय च वज्जए सया । (कपाय १४)
- ६९३—मायं न सेवेज्ज पहेज्ज लोह । (उपदेश ४४)
- ६९४—मा वत्त पुणो वि आविए । (कर्त्तव्य ५)
- ६९५—मिच्छ दिट्ठी अणारिया । (अनिष्ट २७)
- ६९६—मिच्छा दिट्ठी अणारिया, ससार अणु परियट्ठति ।
(बाल १०)
- ६९७—मितिं भूएसु कप्पए । (सात्त्विक १)
- ६९८—मिय कालेण भक्खए । (उपदेश ४२)
- ६९९—मिहो कहाहिं न रमे । (उपदेश २९)
- ७००—मुच्छा परिग्गहो वुत्तो । (अपरिग्रह २)
- ७०१—मुणी ण मज्जई । (श्रमण-भिक्षु ४३)
- ७०२—मुणी ! महम्मय नाइवाइज्ज कचण । (अहिमा १५)

६८४—माया उच्च गति का प्रतिघात करने वाली है और लोभ से दोनो लोक में भय रहा हुआ है ।

६८५—माता, पिता, पुत्र, वधु, भाई, कोई भी मेरी रक्षा के लिये समर्थ नहीं है ।

६८६—माया मित्रों का नाश करती है ।

६८७—माया-मृपावाद लोभ के दोषों को बढ़ाता है ।

६८८—माया-मृपावाद को छोड़ दो ।

६८९—माया-मृपावाद को छाड़ दो ।

६९०—जो माता पिता द्वारा मोह ग्रस्त हो जाता है, उसके लिये पर लोक में सुगति सुलभ नहीं होता है ।

६९१—माया को सरल भाव से जीती ।

६९२—सदा के लिये माया को छोड़ दो ।

६९३—(विवेकी) माया की सेवना नहीं करे और लाभ को छोड़ दे ।

६९४—त्यागी हुई (भोग्य वस्तुओं) को पुन भोगने की इच्छा मत करो ।

६९६—मिथ्या दृष्टि वाले अनार्य होते हैं और वे ससार में चक्कर लगाया ही करते हैं ।

६९७—प्राणियों पर मैत्री-भावकी कल्पना करो ।

६९८—समयानुसार परिमित भोजन क

६९९—परस्पर में कथा-वार्त्ताओं द्वारा मनोरजन नहा करे ।

७०१—मुनि अहकार नहीं करता है ।

७०२—हे मुनि ! किसी की भी हिंसा मत करो, इसमें महान् भय रहा हुआ है ।

- ७०३—मुणी मोणं समायाय, धुणे कम्म सरीरग ।
(श्रमण ५३)
- ७०४—मुसा भासा निरत्थिया । (सत्यादि ३१)
- ७०५—मुसावाय च वज्जिज्जा, अदिन्नादाण च वोसिरे ।
(सत्यादि २८)
- ७०६—मूस न बूया मुणि अत्तगामी । (सत्यादि ४०)
- ७०७—मुस परिहरे भिक्खू । (सत्यादि २२)
- ७०८—मुहा दाई मुहा जीवी दो वि गच्छति सुग्गइं ।
(प्रशस्त ८)
- ७०९—मूलमेय महमस्स । (काम ६)
- ७१०—मेधाविणो लोभ मयावतीता । (महापुरुष ५)
- ७११—मेख्व वाएण अकम्पमाणो, परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा ।
(महापुरुष ३०)
- ७१२—मेहावि समिक्ख धम्म दूरेण पाव परिवज्जएज्जा ।
(उपदेश १४)
- ७१३—मेहावी अप्पणो गिद्धि मुद्धरे । (महापुरुष २७)
- ७१४—मेहावी जाणिज्ज धम्म । (सद्गुण ३१५)
- ७१५—मोक्ख सब्भूय साहणा, नाण च दसण चेव चरित्त चेव ।
(मोक्ष १६)
- ७१६—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पयोग काले य दुही दुरन्ते ।
(सत्यादि २९)
- ७१७—मोहाय यण खु तण्हा । (लोभ ५)
- ७१८—मोहेण गब्भं मरणाइ एइ । (कषाय ३२)
- ७१९—मोह चतण्हाय यण । (लोभ ६)

- ७०३—मुनि मौन को ग्रहण करके शरीर में रहें हुए (आत्मास्थ) कर्षि को कपित कर दे ।
- ७०४—झूठ वाली भाषा निरर्थक है ।
- ७०५—झूठ का वर्जन कर दो और अदत्ता दान को (चोरी को) छोड़ दो ।
- ७०६—आत्मा को मोक्ष में ले जाने की इच्छा वाला मुनि झूठ नहीं बाले ।
- ७०७—भिक्षु झूठ का परिहार कर दे ।
- ७०८—निर्दोष भिक्षा देने वाला और निर्दोष भिक्षा पर जीवन निर्वाह करने वाला, दोनों ही सुगति को जाते हैं ।
- ७०९—यह काम-भोग नीचता की जड़ है ।
- ७१०—मेघावी पुरुष (ज्ञान शाला) लोभ से और मद से अतीत होते हैं, (रहित होते हैं) ।
- ७११—आत्मा का गोपने वाला (दमन करने वाला) वायु द्वारा मेरु के अकपन की तरह परिपहो को अविचलित होकर सहन करे ।
- ७१२—मेघावी धर्म की समीक्षा करके पाप को दूर से ही छोड़ दे ।
- ७१३—मेघावी अपने गृद्धि-भाव को हटावे ।
- ७१४—मेघावी धर्म को जाने ।
- ७१५—मोक्ष के सद्भूत (यथार्थ) साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य है ।
- ७१६—दुष्ट आत्मा झूठ के पीछे और पहिले एवं प्रयाग-काल में (तीनों ही काल में) दुःखी होता है ।
- ७१७—तृष्णा निश्चय ही मोह का घर है ।
- ७१८—मोह से गर्भ को और मृत्यु को प्राप्त होता है ।
- ७१९—मोह ही तृष्णा का स्थान है ।

- ७२०—मदस्सावियाणओ । (बाल २४)
 ७२१—मदा नरय गच्छन्ति, वाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ।
 (बाल २५)
 ७२२—मदा मोहेण पाउडा । (बाल १६)
 ७२३—मदा विसीयति उज्जाणसि व दुव्वला । (बाल २०)
 ७२४—मदा विसीयति, मच्छा विट्ठा व केयणे । (भोग १५)

२

- ७२५—रक्खिज्ज कोह विणएज्ज माण । (उपदेश ४३)
 ७२६—रमड अज्ज वयणम्मि, त वय वूम माहण । (प्रकी १)
 ७२७—रयाइ खेवेज्ज पुराकडाइ । (उपदेश ८१)
 ७२८—रसगिद्धे न सिया । (उपदेश ६२)
 ७२९—रसाणुरत्तस्स नरस्स एव कत्तो सुह होज्ज कयाइ किंचि ।
 (अनिष्ट २२)
 ७३०—रसा पगाम न निसेवियव्वा । (भोग ६)
 ७३१—रसेमुजो गिद्धि मुवेइ तिक्क, अकालिय पावइ से विणासं ।
 (योग २०)
 ७३२—राई भोयण विरओ जीवो भदड अणासवो । (वर्म १६)
 ७३३—राग दोस भयाईय, तं वय वूम माहणं । (प्रकी २)
 ७३४—रागदोसस्सिया वाला पाव कुव्वंति ते बहु । (बाल २२)
 ७३५—रागदोसादओ तिक्का, नेह पासा भयंकरा । (कपाय ३)

- ७२०—मद पुरुष के लिये (ज्ञान भी) अज्ञान ही होता है ।
 ७२१—मद बुद्धि वाले और मूर्ख बुद्धि वाले पाप दृष्टि के कारण स-
 नरक को जाते हैं ।
 ७२२—मद बुद्धि वाले ही मोह से ढके हुए होते हैं ।
 ७२३—जैसे दुर्बल बल ऊँची जमीन पर चढ़ते हुए कष्ट पाते हैं, वैसे ही-
 मूर्ख आत्माएँ भी विषाद (खेद) पानी है ।
 ७२४—जैसे जाल में फसी हुई मछली (विषाद) खेद अनुभव करती-
 है, वैसे ही मूर्ख आत्माएँ भी खेद अनुभव करती हैं ।

र

- ७२५—क्रोध को हटा दो और मान को विनष्ट कर दो ।
 ७२६—जो आर्य वचनो में रमण करता है, उसी को हम ब्राह्मण-
 कहते हैं ।
 ७२७—पूर्व कृत कर्मों की रज को फेंक दो ।
 ७२८—रस में गृद्धि वाले मत बनो ।
 ७२९—रस में अनुरक्त मनुष्य के लिए कभी भी थोड़ा सा भी सुख कैसे
 हो सकता है ?
 ७३०—अत्यधिक मात्रा में दूध, घी, तेल आदि रसों का सेवन नहीं
 किया जाना चाहिए ।
 ७३१—जो रसों में तीव्र गृद्धि भाव रखता है वह अकाल में ही विनाश
 को प्राप्त होता है ।
 ७३२—रात्रि-भोजन से विरक्ति करने वाला जीव अनाश्रव वाला
 होता है ।
 ७३३—जो राग, द्वेष और भय से अतीत है, उसी को हम ब्राह्मण
 कहते हैं ।
 ७३४—राग द्वेष के आश्रित होकर वाल जन विविध पाप किया करते हैं ।
 ७३५—राग द्वेष आदि रूप मोह पाश तीव्र हैं और भयकर हैं ।

७३६—रागस्सं हेउ समणुन्न माहु, दोसस्सं हेउ अमणुन्न माहु ।
(कपाय २)

७३७—रागो य दोसोऽवि य कम्म वीय । (कर्म १)

७३८—रायणिएसु विणयं पउजे । (कर्त्तव्य ७)

७३९—रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो न लिप्पए भवमज्जेऽवि-
सन्तो । (शील ३१)

७४०—रूवेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्व, अकालिय पावइ से विणास ।
(योग १८)

७४१—रूवेहिं लुप्पति भया वहे हिं । (काम ४)

७४२—रोइअ नायपुत्त वयणे, पचासव सवरे-जे स भिक्खू ।
(श्रमण-भिक्षु ३)

ल

७४३—लज्जा दया संजम वभचेर कल्लाण भागिस्स विसोहि
ठाण । (कर्त्तव्य ८)

७४४—लद्धे कामे ण पत्थेज्जा । (शील २७)

७४५—लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ से हु चाइ । (श्रमण-भिक्षु १५)

७४६—लुप्पन्ति बहुसो मूढा, ससारम्मि अणन्तए । (बाल ४)

७४७—लेस समाहट्ठु परिवएज्जा । (उपदेश १३)

७४८—लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते (प्रा म ५)

७४९—लोगे त सव्व दुपडीआर, जीवाचेव अजीवा चेव ।
(प्रकी. २८)

७५०—लोभ सतोसओ जिणे । (मद्गुण ६)

७५१—लोभो सव्व विणासणो । (लोभ १)

७३६—समनोज्ञ (रमणीयता) राग का हेतु कहा गया है, और
अमनोज्ञ द्वेष का हेतु कहा गया है ।

७३७—राग और द्वेष ही कर्म के बीज हैं ।

७३८—रत्नाविक पुरुषों के प्रति (ज्ञान दर्शन और चारित्र्य में वृद्ध
पुरुषों के प्रति) विनय रखना चाहिए ।

७३९—रूप में विरक्त एवं शोक रहित मनुष्य ससार में रहता हुआ भी
लिप्त नहीं होता है ।

७४०—जो रूप में तीव्र गृद्धि रखता है, वह अकाल में विनाश को प्राप्त
होता है ।

७४१—भय लाने वाले रूप द्वारा ही प्राणी लुप्त होते हैं, विनाश को
प्राप्त होते हैं ।

७४२—ज्ञातपुत्र महावीर के वचन में रुचि लाकर जा पाचो आश्रवों
का सवर करता है, वही भिक्षु है ।

ल

७४३—कल्याण की कामना वाले के लिये लज्जा, दया, सयम और ब्रह्म-
चर्य विशुद्धि के स्थान हैं ।

७४४—(विवेकी) भोगों के प्राप्त होने पर भी उनकी बाछा नहीं करे ।

७४५—प्राप्त भोगों से भी जो मुख मोड़ लेता है, वही सच्चा त्यागी है ।

७४६—मूढ़ आत्माएँ अनेक बार इस अनन्त ससार में लुप्त होती
रहती हैं ।

७४७—(अशुभ) लेश्या का परिहार करके सयम शील होवे ।

७४८—श्रमण ज्ञातपुत्र महावीर लोक में उत्तम हैं ।

७४९—इस सपूर्ण लोक को दो रूप में समावेश किया जा सकता
है — जीव और अजीव ।

७५०—लोभ को सतोष से जीते ।

७५१—लोभ सब का विनाश करने वाला है ।

व

- ७५२—वईसो कम्मणा होइ, सुदो हवइ कम्मणा । (प्रकी ४)
- ७५३—वज्जए इत्थी विस लित्तं व कंटग नच्चा । (काम २७)
- ७५४—वण्ण रस गध फासा, पुग्गलाण तु लक्खण ।
(प्रकी. १९)
- ७५५—वण्ण जरा हरइ नरस्स । (उपदेज ५३)
- ७५६—वत्तणा लक्खणो कालो । (प्रकी. २३)
- ७५७—वन्दणएण नीया गोय कम्म खवेइ, उच्चा गोय कम्मं
निबन्वइ । (सदगुण २०)
- ७५८—वमे चत्तारि दोसे उ इच्छतो हिय मप्पणो ।
(कपाय ६)
- ७५९—वसे गुरु कुले निच्चं । (ज्ञान २०)
- ७६०—वायणाए निज्जर जणयइ । (सदगुण २१)
- ७६१—वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि वेराणु वधीणि महव्भयाणि ।
(सत्यादि १७)
- ७६२—विगय सगामो भवाओ परिमुच्चए । (महापुरुष ४३)
- ७६३—विज्जाचरणं पमोक्ख । (चारित्र ३)
- ७६४—विणि अट्टिज्जं भोगेसु, आउ परिमि अप्पणो ।
(वैराग्य १०)
- ७६५—विणियट्ठंति भोगेसु, जहां से पुरिसुत्तमो ।
(महापुरुष २)
- ७६६—विणीअ तिण्हो विहरे । (लोम १४)

व

७५२—आचरण अनुसार ही वैश्य होता है और आचरण अनुसार ही शूद्र होता है ।

७५३—ब्रह्मचारी स्त्री को काटो वाली विप लता जान कर छोड़ दे ।

७५४—पुद्गलो का लक्षण. “वर्ण, रस, गंध और स्पर्श वाला” होता कहा गया है ।

७५५—बुढ़ापा मनुष्य के वर्ण को हरण कर लेता है ।

७५६—काल वर्तना लक्षण वाला है ।

७५७—वन्दना से नीच-गोत्र कर्म नष्ट होता है और उच्च गोत्र कर्म का बध पड़ता है ।

७५८—अपनी आत्मा का हित चाहने वाला चारो दोषो को (क्रोध, मान, माया, लोभ को) छोड़ दे ।

७५९—नित्य गुरुकुल में (ज्ञानियो की संगाते में) रहे ।

७६०—वाचना से (पठन पाठन से) निर्जरा उत्पन्न होती है ।

७६१—दुष्ट रीति से बोले जाने वाले वचन बड़ी कठिनाई से भूले जाते वाले होते हैं, वर का बधन लाने वाले होते हैं, तथा महान् भय पैदा करने वाले होते हैं ।

७६२—विकारों के साथ किया जाने वाला सप्ताम ससार से मुक्ति दिलाने वाला होता है ।

७६३—ज्ञान और चारित्र्य ही मोक्ष है ।

७६४—भोगो से निवृत्त हो जाओ, क्योंकि अपनी आयु परिमित है ।

७६५—जो भोगो से निवृत्त होते हैं, वे ही पुरुषोत्तम हैं ।

७६६—ज्ञानी तृष्णा को हटाकर के विचरे ।

७६७—विति गिच्छ समावन्नेणं, अप्पाणेणं नो लहइ समाहि ।
(दर्शन ११)

७६८—वित्ते गिद्धे य इत्थिसु, दुहओ मलं सच्चिणइ ।
(काम २१)

७६९—वित्तेण ताण न लभे पमत्ते । (उपदेश ८४)

७७०—वित्त पसवो य नाइओ, त बाले सरणं ति मन्नइ ।
(बाल १४)

७७१—विद्धसण घम्म मेव तं इति, विज्जं कोऽगार मावसे ।
(उपदेश ३४)

७७२—विप्पमायं न कुज्जा । (उपदेश १९)

७७३—विभज्ज वायं च वियागरेज्जा । (महापुरुष ४१)

७७४—वियागरेज्जा समयासुपन्ने । (श्रमण-भिक्षु ३७)

७७५—विरए वहाओ । (अहिंसा १३)

७७६—विरत्ता उ न लग्गन्ति जहा से सुक्क गोलए ।
(वैराग्य २४)

७७७—विरत्ते सिणाणाइसु इत्थियासु । (शील १९)

७७८—विवत्ती अविणीअस्स, सपत्ती विणिअस्स अ ।
(प्रकी. ६)

७७९—विवित्त वासो मुणिण पसत्थो । (श्रमण-भिक्षु २७)

७८०—विसएसण क्षिया यति, कंका वा कलु साहमा ।
(काम ३१)

७८१—विसएसु मणुन्नेसु पेमं नाभि निवेसए । (शील १५)

७८२—विसन्ता विसयं गणाहि, दुहओऽ विलोयं अणुसचरन्ति ।
(काम ३०)

७६७—जिस आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य में शकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, ऐसी आत्मा समाधि नहीं प्राप्त कर सकती है ।

७६८—जो धन में और स्त्रियों में गृद्ध हो जाता है, वह इस लोक और परलोक दोनों ओर से कर्म-मल को संचय करता है ।

७६९—प्रमादों धन से शरण-भूत रक्षा नहीं प्राप्त कर सकता है ।

७७०—यह धन, पशु और जाति जन मेरे शरण रूप रक्षक है, ऐसा वाला आत्मा (मूर्ख ज्ञेय) मानता है ।

७७१—ये सब विध्वंस धर्म वाले हैं, ऐसा जानता हुआ कौन भोग रूप घर में रहेगा ?

७७२—प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

७७३—अपेक्षा वाली—स्याद्वाद वाली भाषा बोलनी चाहिए ।

७७४—तीव्र बुद्धि वाला समयानुसार व्याख्या करे ।

७७५—वध से—(हिंसा) विरक्त होवे ।

७७६—जैसे सूखे गोले पर कुछ चिपक नहीं सकता है, वैसे ही विरक्त आत्माएँ कर्म मल से संलग्न नहीं हुआ करती हैं ।

७७७—स्नान आदि श्रृंगारिक कार्या से और स्त्रियों से विरक्त रहो ।

७७८—अविनीत के लिये विपत्तियाँ हैं और विनीत के लिये सपत्तियाँ हैं ।

७७९—मुनियों के लिए एकान्त वास ही प्रशसनीय है ।

७८०—जो विषयो का, भोगो का ध्यान किया करते हैं, वे कक पक्षी के समान पापी और अधम हैं ।

७८१—मनोज विषयो में मोह का अभिनिवेश मत करो । मोहग्रस्त मत होओ ।

७८२—विषयो में लीन आत्माएँ विषयो के कारण से दोनों ही लोक में विविध रीति से दुःखी होती हैं ।

७८३—विहडइ विद्धसइ ते सरीरयं, समयं गीयमं । मा पमाए ॥
(वैराग्य ३)

७८४—विहरेज्ज समाहि इंदिए, अत्त हियं खु दुहेण लब्भई ।
(योग २४)

७८५—वीरा असमत्तः दसिणो, असुद्धं तेसिं परक्कंत ।
(अनिष्ट ३१)

७८६—वीरा सम्मत्त दसिणो, सुद्ध तेसिं परक्कंत । (दर्शन ६)

७८७—वीरे आगमेण सया परक्कमेज्जा । (उपदेश ५५)

७८८—बुज्झइ से अविणी अप्पा, कट्ठ सोअगय जहा ।
(अनिष्ट ५)

७८९—वेएज्ज निज्जरा पेही । (तप १२)

७९०—वेयावच्चेण तित्थयर नामगोत्त कम्म निबन्धइ ।
(तप २१)

७९१—वेराणु गिद्धे णिचय करेति । (कषाय ९)

७९२—वेराणु बद्धा नरय उवेति । (अनिष्ट १६)

७९३—वेराणु बधीणि महवभयाणि । (कषाय ८)

७९४—वोच्छिद सिणेह मप्पणो । (काम ३८)

७९५—वत इच्छसि आवेउ, सेय ते मरण भवे । (उपदेश ४९)

७९६—वंत नो पडि आयइ जे स भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ४)

स

७९७—सउणी धसयई सिय रयं, एव कम्मं खवइ तेवस्सि माहणे ॥
(महापुरुष ३२)

७९८—सएण दुक्खेण मूढे विप्परियास मुवेइ । (बाल ३३)

- ७८३—हे गौतम ! यह तुम्हारा शरीर टूट जाने वाला है, विध्वंस हो जाने वाला है, इसलिए समय मात्र का भी प्रमाद मत करो ।
- ७८४—(मुमुक्षु) समाधि मय इन्द्रियो वाला होता हुआ विचरे, क्योंकि आत्म-हित निश्चय ही बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है ।
- ७८५—जो वीर होते हुए भी असम्यक्त्वदर्शी हैं, उनका पराक्रम अशुद्ध है ।
- ७८६—जो वीर हैं और सम्यक्त्व दर्शी हैं, उन्हीं का पराक्रम शुद्ध है ।
- ७८७—वीर आत्मा सदा आगम अनुसार ही पराक्रम करता रहे ।
- ७८८—जैसे समुद्र में (अथवा जल-स्रोत में) सूखा काठ चक्कर खाया करता है, वैसे ही अविनीत आत्मा भी ससार-समुद्र में डूब जाता है ।
- ७८९—निर्जरा का आकाशी सहनशील होवे ।
- ७९०—वैयावृत्य (सेवा-भाव) में तीर्थकर नाम भोग-कर्म का बध पड़ता है ।
- ७९१—वैर-भाव में अनुगृह्य आत्मा कर्मों का समूह आकर्षित करता है ।
- ७९२—वैर-भावना में बधे हुए नरक को प्राप्त करते हैं ।
- ७९३—वैर का अनुबध भ्रान् मय वाला होता है ।
- ७९४—अपने मोह को विच्छिन्न कर दो ।
- ७९५—वमन किए को पुन भोगना चाहता है, इसकी अपेक्षा तो तुम्हारा मरना श्रेयस्कर होगा ।
- ७९६—त्यागे हुए को जो पुनः नहीं ग्रहण करता है, वही भिक्षु है ।

स

- ७९७—जैसे शकुनि पसा अपनी लगी हुई धूल को झाड़ देता है वैसे ही तपस्वी साधु भी कर्मों का धय कर देता है ।
- ७९८—स्वदुःख से ही मूढ़ विपरीत स्थिति को प्राप्त करता है ।

७९९—सक्के देवाहिवई, एवं हवड बहुस्सुए । (ज्ञान १५)

८००—सक्ख खु दीसड तवो विसेसो, न दीसई जाइ विसेस
कोई । (तप २३)

८०१—स कम्म बीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुदर पावगं वा ।
(कर्म १४)

८०२—सकम्मणा विप्परियासुवेड । (कर्म २५)

८०३—सच्चस्स आणाए से उवट्टिए मेहावी मारं तरड ।
(सत्यादि ४)

८०४—सच्चा वि सा न वत्तच्चा जओ पावस्स आगमो ।
(सत्यादि २०)

८०५—सच्चे तत्थ करेज्जु वक्कम । (सत्यादि ९)

८०६—सच्चेसु वा अणवज्ज वयति । (सत्यादि १०)

८०७—सच्चमि धिइ कुव्वहा । (सत्यादि २)

८०८—सज्झायमि रओ सया । (ज्ञान १८)

८०९—सड्ढी आणाए मेहावी । (महापुरुष १)

८१०—सत्त भयट्ठाणा, इह लोग भए, पर लोग भए, आदाण
भए, अकम्हा भए, वेयणा भए, सरण भए, असिलोग
भए । (प्रकी ४५)

८११—सत्त विहे आउ भेदे, अज्झवसाण, निमित्ते, आहारे,
वेयणा, पराघाए, फासे, आणापाणू । (प्रकी ४६)

८१२—सत्तविहे वयण विकप्पे, आलावे, अणालावे, उल्लावे,
अणुल्लावे, सल्लावे, पलावे, विप्पलावे । (सत्यादि ४७)

८१३—सत्ता कामेसु माणवा । (काम १७)

८१४—सत्ता कामे हि माणवी । (बाल २७)

७९९—जैसे शक्र (इन्द्र) देवताओं का अधिपति होता है, वैसे ही बहुश्रुत विद्वान् भी (जनता में प्रमुख) होता है ।

८००—प्रत्यक्ष रूप से तप की ही विशेषता निश्चयपूर्वक देखी जाती है, किसी भी जाति की विशेषता नहीं देखी जाती है ।

८०१—कर्म बीज सहित होता हुआ और विवश अवस्था में पड़ा हुआ प्रत्येक आत्मा सुन्दर अथवा पापकारी परभव को जाता है ।

८०२—(प्रत्येक आत्मा) कर्म के कारण से ही विपरीत स्थिति को प्राप्ति होता है ।

८०३—सत्य के पालन में उपस्थित मेधावी ही कामदेव को जीतता है ॥

८०४—जिससे पाप का आगमन होता हो, तो सत्य होती हुई भी ऐसी वाणी नहीं बोलना चाहिये

८०५—सत्य हो, उसी में पराक्रम बतलाओ ।

८०६—(महापुरुष) सत्य युक्त निर्दोष वाणी को ही बोलते हैं ॥

८०७—सत्य में ही बुद्धि का संयोजित करो ।

८०८—सदैव स्वाध्याय में ही रत रहो ।

८०९—मेधावी आज्ञा-पालन में ही श्रद्धाशील होता है ।

८१०—सात भय स्थान कहे गये हैं — इस लोक का भय, परलोक का भय, चोरी का भय, अकस्मात् पैदा होनेवाला भय, वेदना भय, मृत्यु भय और अपकीर्ति का भय ।

८११—सात प्रकार से आयु टूटती है — सकल्प विकल्प-से; निमित्त कारण से, आहार से, वेदना से, पराघात से, स्पर्श से और श्वासोच्छ्वास से ।

८१२—सात प्रकार के वचन विकल्प हैं — आलाप, अनालाप, उल्लाप, अनुल्लाप, सलाप, प्रलाप और विप्रलाप ।

८१३—मानव समाज काम भोगों में आसक्त है ।

८१४—मनुष्य काम-भोगों में निश्चय ही आसक्त है ।

७९९—सक्के देवाहिवई, एव हवइ बहुस्सुए । (ज्ञान १५)

८००—सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसई जाइ विसेस
कोई । (तप २३)

८०१—स कम्म बीओ अवसो पयाइ, पर भवं सुदर पावगं वा ।
(कर्म १४)

८०२—सकम्मणा विप्परियासुवेइ । (कर्म २५)

८०३—सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारु तरइ ।
(सत्यादि ४)

८०४—सच्चा वि सा न वत्तन्वा जओ पावस्स आगमो ।
(सत्यादि २०)

८०५—सच्चे तत्थ करेज्जु वक्कम । (सत्यादि ९)

८०६—सच्चेसु वा अणवज्ज वयति । (सत्यादि १०)

८०७—सच्चमि धिइ कुव्वहा । (सत्यादि २)

८०८—सज्झायमि रओ सया । (ज्ञान १८)

८०९—सड्ढी आणाए मेहावी । (महापुरुष १)

८१०—सत्त भयट्ठाणा, इह लोग भए, पर लोग भए, आदाण
भए, अकम्हा भए, वेयणा भए, सरण भए, असिलोग
भए । (प्रकी ४५)

८११—सत्त विहे आउ भेदे, अज्झवसाण, निमित्ते, आहारे,
वेयणा, पराघाए, फासे, आणापाणू । (प्रकी ४६)

८१२—सत्तविहे वयण विकप्पे, आलावे, अणालावे, उल्लावे,
अणुल्लावे, संलंत्ते, पलावे, विप्पलावे । (सत्यादि ४७)

८१३—सत्ता कामेसु माणवा । (काम १७)

८१४—सत्ता कामे हि माणवी । (बाले २७)

७९९—जैसे शक्र (इन्द्र) देवताओं का अधिपति होता है, वैसे ही बहुश्रुत विद्वान् भी (जनता में प्रमुख) होता है ।

८००—प्रत्यक्ष रूप से तप की ही विशेषता निश्चयपूर्वक देखी जाती है, किसी भी जाति की विशेषता नहीं देखी जाती है ।

८०१—कर्म बीज सहित होता हुआ और विवश अवस्था में पड़ा हुआ प्रत्येक आत्मा सुन्दर अथवा पापकारी परभव को जाता है ।

८०२—(प्रत्येक आत्मा) कर्म के कारण से ही विपरीत स्थिति को प्राप्त होता है ।

८०३—सत्य के पालन में उपस्थित मेधावी ही कामदेव को जीतता है ।

८०४—जिससे पाप का आगमन होता हो, तो सत्य होती हुई भी ऐसी वाणी नहीं बोलना चाहिये

८०५—सत्य हो, उसी में पराक्रम बतलाओ ।

८०६—(महापुरुष) सत्य युक्त निर्दोष वाणी को ही बोलते हैं ।

८०७—सत्य में ही बुद्धि का संयोजित करो ।

८०८—सदैव स्वाध्याय में ही रूत रहो ।

८०९—मेधावी आज्ञा-पालन में ही श्रद्धाशील होता है ।

८१०—सात भय स्थान कहे गये हैं — इस लोक का भय, परलोक का भय, चोरी का भय, अकस्मात् पैदा होनेवाला भय, वेदना भय, मृत्यु भय और अपकीर्ति का भय ।

८११—सात प्रकार से आयु टूटती है — सकल्प विकल्प से, निमित्त कारण से, आहार से, वेदना से, पराधात से, स्पर्श से और स्वासोच्छ्वास से ।

८१२—सात प्रकार के वचन विकल्प हैं — आलाप, अनालाप, उल्लाप, अनुल्लाप, सलाप, प्रलाप और विप्रलाप ।

८१३—मानव समाज काम भोगों में आसक्त है ।

८१४—मनुष्य काम-भोगों में निश्चय ही आसक्त है ।

- ८१५—सत्थार भन्ती अणु वीइ वायं । (कर्त्तव्य २०)
- ८१६—सद्दहइ जिणभिय सो धम्म रुइ । (धर्म ३१)
- ८१७—सद्दहणा पुणरा वि दुल्लहा । (दुर्लभ ३)
- ८१८—सदा जए दते, निव्वाण सधए मुणी । (श्रमण-भिक्ष ३२)
- ८१९—सद्दाणु गासाणु गए य जीवे, चराचरे हिसइ ऽणेग रुवे ।
(भोग ४)
- ८२०—सद्देसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्व अकालिय पावइ से विणास ।
(योग १७)
- ८२१—सद्धा परम दुल्लहा । (दुर्लभ ४)
- ८२२—सन्ती सन्तिकरो लोए । (प्रा. म. ३)
- ८२३—सन्नाइह काम-मुच्छिया, म ह जति नरा असवुडा ।
(काम २५)
- ८२४—सप्पहास विवज्जए । (अनिष्ट १९)
- ८२५—सम्मग्ग तु जिणवखाय, एस मग्गे हि उत्तमे ।
(प्रशस्त ११)
- ८२६—सम्म द्विट्ठि सया अमूढे । (दर्शन ८)
- ८२७—समत्त दसी न करेइ पाव । (दर्शन १)
- ८२८—समता सव्वत्थ सुव्वते । (क्षमा ७)
- ८२९—समयाए समणो होइ, वम्भ चेरेण वम्भणो ।
(श्रमण-भिक्ष २४)
- ८३०—समया सव्व भूएसु, सत्तु मित्तेसु वा जागे । (उपदेश ७६)
- ८३१—समय गोयम ! मा पमायए । (उपदेश २)
- ८३२—समय तत्थु वेहाए अप्पाण विप्पसायए । (कर्त्तव्य १०)

- ८१५—आचार्य की भक्ति विचारपूर्वक कम्पी में रही हुई है ।
- ८१६—जिन वचनों में श्रद्धा करना, यही धर्म रचि है ।
- ८१७—पुन पुन श्रद्धा प्राप्त होना दुर्लभ है ।
- ८१८—सदा जितेन्द्रिय और संयमशील होता हुआ मुनि निर्वाण की साधना करे ।
- ८१९—शब्दों के विषय में आसक्त जीव अनेक प्रकार से त्रस म्थावर जीवों की हिंसा करता है ।
- ८२०—जो शब्दों में तीव्र गृद्धि भाव रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है ।
- ८२१—श्रद्धा परम दुर्लभ है ।
- ८२२—शान्तिनाथ इस लोक में शान्ति करनेवाले है ।
- ८२३—यहां पर काम-भाग में मूर्च्छित और आहार आदि सत्तावाले पुरुष-आश्रव सहित होते हुए-मोह-को प्राप्त होते हैं ।
- ८२४—हसीवाली (पाप क्रिया को) छोड़ दो ।
- ८२५—जिन भगवान् का कहा हुआ मार्ग ही सच्चा मार्ग है, और यही उत्तम मार्ग है ।
- ८२६—सम्यक् दृष्टि सदैव अमूढ होता है ।
- ८२७—सम्यक्त्वदर्शी पाप नहीं करता है ।
- ८२८—सुव्रती सर्वत्र समता रखे ।
- ८२९—समता से ही श्रमण होता है और ब्रह्मचर्य से ही ब्राह्मण होता है ।
- ८३०—ससार में शत्रु अथवा मित्र, सभी प्राणियों पर समता भाव रखो ।
- ८३१—हे गौतम ! समय भर का भा प्रमाद मत करो ।
- ८३२—(अवाञ्छनाय पदार्थों के प्रति-) उपेक्षा के साथ समता धर्म के अनुसार अपनी आत्मा को प्रफुल्लित करो ।

८१५—सत्थार भन्ती अणु वीइ वाय । (कर्त्तव्य २०)

८१६—सद्दहइ जिणभिहिय सो धम्म रुइ । (धर्म ३१)

८१७—सद्दहणा पुणरा वि दुल्लहा । (दुर्लभ ३)

८१८—सदा जए दत्ते, निव्वाण सघए मुणी । (श्रमण-भिक्षु ३२)

८१९—सद्दाणु गासाणु गए य जीवे, चराचरे हिसइ ऽणोग रूवे ।

(भोग ४)

८२०—सद्देसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्व अकालिय पावइ से विणास ।

(योग १७)

८२१—सद्धा परम दुल्लहा । (दुर्लभ ४)

८२२—सन्ती सन्तिकरो लोए । (प्रा म ३)

८२३—सन्नाइह काम-मुच्छिया, म ह जति नरा असवुडा ।

(काम २५)

८२४—सप्पहास विवज्जए । (अनिष्ट १९)

८२५—सम्मग्ग तु जिणवखाय, एस मग्गे हि उत्तमे ।

(प्रशस्त ११)

८२६—सम्म द्विट्ठि सया अमूढे । (दर्शन ८)

८२७—समत्त दसी न करेइ पाव । (दर्शन १)

८२८—समता सव्वत्थ सुव्वते । (क्षमा ७)

८२९—समयाए समणो होइ, वम्भ चेरेण वम्भणो ।

(श्रमण-भिक्षु २४)

८३०—समया सव्व भूएसु, सत्तु मित्तेसु वा जागे । (उपदेश ७६)

८३१—समय गोयम । मा पमायए । (उपदेश २)

८३२—समय तत्थु वेहाए अप्पाणं विप्पसायए । (कर्त्तव्य १०)

८१५—आचार्य की भक्ति विचारपूर्वक कृष्णी में रही हुई है ।

८१६—जिन वचनों में श्रद्धा करना, यही धर्म रचि है ।

८१७—पुन पुन श्रद्धा प्राप्त होना दुर्लभ है ।

८१८—सदा जितेन्द्रिय और सयमशील, होता हुआ मुनि निर्वाण की साधना करे ।

८१९—शब्दों के विषय में आसक्त जीव, अनेक प्रकार से अस स्थावर जीवों की हिंसा करता है ।

८२०—जो शब्दों में तीव्र गृद्धि भाव रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है ।

८२१—श्रद्धा परम दुर्लभ है ।

८२२—शान्तिनाथ इस लोक में शान्ति करनेवाले है ।

८२३—यहां पर काम-भाग में मूर्च्छित और आहार आदि सज्ञावाले पुरुष आश्रय सहित होते हुए मोह को प्राप्त होते हैं ।

८२४—हसीवाली (पाप क्रिया को) छोड़ दो ।

८२५—जिन भगवान् का कहा हुआ मार्ग ही सच्चा मार्ग है, और यही उत्तम मार्ग है ।

८२६—सम्यक् दृष्टि सदैव अमूढ होता है ।

८२७—सम्यक्त्वदर्शी पाप नहीं करता है ।

८२८—सुव्रती सर्वत्र समता रखे ।

८२९—समता से ही श्रमण होता है और ब्रह्मचर्य से ही वाह्यण होता है ।

८३०—ससार में शत्रु अथवा मित्र, सभी प्राणियों पर समता भाव रखो ।

८३१—हे गौतम ! समय भर का भा प्रमाद मत करो ।

८३२—(अवाच्छनाय पदार्थों के प्रति) उपेक्षा के साथ समता धर्म के अनुसार अपनी आत्मा को प्रफुल्लित करो ।

८३३—समये सया चरे । (क्षमा ८)

८३४—सम सुह दुख सहे अ जे स भिखू । (श्रमण-भिक्षु २)

८३५—समाहि कामे समणे तवस्सी । (तप १३)

८३६—समियं ति मन्न माणस्स समिया, वा असमिया वा
समिआ होइ । (दर्शन ५)

८३७—समुप्पेह माणस्स इक्काययण रयस्स, इह विप्पमुक्कस्स
नत्थि मग्गे विरयस्स । (सद्गुण १९)

८३८—समो निन्दा पससासु तहा माणावमाणओ । (प्रशस्त १६)

८३९—सया सच्चेण सपत्ते मित्ति भूएहि कप्पए । (सत्यादि २३)

८४०—सय सय पससन्ता, गरहता पर वयं, ससार ते विउस्सिया ।
(वाल ३८)

८४१—सरीर माहु नावत्ति जीवो वुच्चइ नाविओ ।
(योग १५)

८४२—सल्ल कामा विस कामा कामा आसी विसोवमा । (काम ७)

८४३—सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं । (प्रशस्त ५)

८४४—सव्वओ पमत्तस्स भय । (भोग १४)

८४५—सव्वओ संवडे दत्ते, आयाण सु समाहरे । (तप ८)

८४६—सव्वत्थ विणीय मच्छरे । (कर्त्तव्य १७)

८४७—सव्वत्थ विरत्ति कुज्जा । (सद्गुण, १७)

८४८—सव्वत्थ विरत्ति कुज्जा । (उपदेश ७४)

८३३—सदैव समता का आचरण करो ।

८३४—जो सुख दुःख सहने में समभाव रखता है, वही भिक्षु है ।

८३५—जो श्रमण, समाधि की कामना करता है, वही तपस्वी है ।

८३६—सम्यक् दृष्टि आत्मा के लिये सत्य और असत्य सभी सत्य रूप से हो परिणित हो जाया करता है ।

८३७—विवेकपूर्वक देखने वाले के लिये, ज्ञान आदि गुणों में प्रवृत्ति करने वाले के लिये, आश्रय रहित के लिये, आर व्रतवारी के लिये, (संसार में घूमने का और अधिक) मार्ग नहीं रह जाता है ।

८३८—निन्दा और प्रशंसा में तथा मान और अपमान में समभाव वाला होओ ।

८३९—मदा सत्य से सपन्न होते हुए प्राणियों के साथ मैत्रा भाव रखो ।

८४०—अपनी अपनी ही प्रशंसा करनेवाले और दूसरे के वचनों का निन्दा करनेवाले, ऐसे वे मूर्ख संसार में डूबे हुए ही होते हैं । वे मिथ्या पक्षपाती ही हैं ।

८४१—शरीर तो नाव कही गई है और जीव "नाविक" कहा गया है ।

८४२—ये काम-भोग गत्य के समान हैं, विष के समान हैं और विष वाले मर्ष के समान हैं ।

८४३—जो सभी प्रकार में अप्रमत्त है, उसके लिये भय नहीं है ।

८४४—प्रमादी के लिये सभी ओर में भय है ।

८४५—सभी तरह से सन्नतशील होता हुआ, समी आदान समिति का भलीभाँति आचरण करे ।

८४६—सर्वत्र ईर्ष्या-मत्सर भाव को हटा दो ।

८४७—सर्वत्र विरति करो ।

८४८—सब जगह विरति (सवर-निर्जरा) का आचरण करो ।

८४९—सर्व वम्माणु वत्तिणो देवेसु उव्वज्जई ।

(महापुरुष ३८)

८५०—सर्व मणागय मद्धं चिट्ठति सुहं पत्ता । (मोक्ष ७)

८५१—सर्व लोयसि जे कामा त विज्ज परिजाणिया ।

(काम ३२)

८५२—सर्व संगे विनिम्मुक्को सिद्धे भवइ नीरण । (मोक्ष ५)

८५३—सर्व सगावगए अ जे स भिक्खू । (श्रमण १०)

८५४—सर्वारम्भ परिच्चागो निम्ममत्त । (अपरिग्रह १)

८५५—मव्विदियाभि निव्वुडे पयामु । (शील ३२)

८५६—सर्वे अणट्ठे परिवज्जयते, अणाउले या अकसाइ भिक्खू ।

(श्रमण-भिक्षु १२)

८५७—सर्वे आभरणा भारा, सर्वे कामा दुहावहा ।

(उपदेश ५१)

८५८—सर्वे पाणा पियाउया । (अहिंसा ६)

८५९—सर्वे मरा नियट्ठति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ

न गाहिया, उवमा न विज्जए । (मोक्ष २)

८६०—सर्वेसि जीविय पिय । (अहिंसा ७)

८६१—सर्वेसु काम जाएसु पाममाणो न लिप्पई ताई ।

(महापुरुष २५)

८६२—मव्वेहि भूएहि दयाणु कपी, सतिक्ख मे सजय बभयारी

(अहिंसा १७)

८६३—सर्वं अप्पे जिए जिय । (आत्म १०)

- ८४९—विविध धर्म-मार्ग का अनुसरण करनेवाला देवताओं में उत्पन्न होता है ।
- ८५०—(मुक्त आत्माएँ) सभी सुख प्राप्त करती हुई अनागत मार्ग में (शाश्वत् स्थान में) स्थित हो जाती हैं ।
- ८५१—सम्पूर्ण ससार में जो काम-भोग हैं, उनको पंडित पुरुष भली-भाँति समझे ।
- ८५२—सभी प्रकार के सग से विनिर्मुक्त होती हुई सिद्ध आत्मा रज रहित (सर्वथा कर्म रहित) हो जाती हैं ।
- ८५३—जो सभी प्रकार की सगति से दूर है, वही भिक्षु है ।
- ८५४—सभी प्रकार के आरम्भ का परित्याग करना ही निर्ममत्व है ।
- ८५५—इन्द्रियो से सभी इन्द्रियो द्वारा अभिनिवृत्त (दूर ही) रहना चाहिये ।
- ८५६—सभी अनर्थों को छोड़ता हुआ, आकुलता रहित होता हुआ भिक्षु कषाय रहित होवे ।
- ८५७—सभी आभूषण भार रूप है और सभी काम-भोग दुःख का लानेवाले हैं ।
- ८५८—सभी प्राणियों को अपनी आयु (जीवन) प्रिय है ।
- ८५९—(मोक्ष-वर्णन में) सभी स्वर (शब्द) शक्ति हीन हो जाते हैं, तर्क वहाँ प्रवेश नहीं कर सकता है, बुद्धि वहाँ अग्राहिक हो जाती है और कोई उपमा भी उसके लिये विद्यमान नहीं है ।
- ८६०—सभी प्राणियों को अपना जीवन प्यारा है ।
- ८६१—मोक्ष में जाने की इच्छावाला सभी काम-विषयो को देखता हुआ उनमें लिप्त नहीं होता है ।
- ८६२—सभी भूतों के साथ (जीवों के साथ) दया वाला और अनुकम्पा वाला होता हुआ सयमी ब्रह्मचारी और क्षमाशील होव ।
- ८६३—आत्मा को जीत लेने पर सब कुछ जीता हुआ ही है । (सब पर विजय प्राप्त की जा चुकी है ।

८६४—सव्व जग तू समयाणुपेहो । (उपदेश ८)

८६५—सव्व पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणायें त । (लाभ १६)

८६६—सव्व विलवियं गीय, सव्व नट्ट विडम्बियं । (बाल ३२)

८६७—सव्व सुचिण्ण सफल नराण । (कर्त्तव्य २)

८६८—सातागार वणिहुए, उवसते णिहे चरे । (उपदेश ८८)

८६९—सादिय ण मुस बूया, एस घम्मे वुसीमओ । (सत्यादि २४)

८७०—सामण्णं दुच्चर । (श्रमण-भिक्षु ४२)

८७१—सामाइएणं सावज्ज जोग विरइ जणयइ । (तप्र १६)

८७२—सामाइय माहु तस्स ज, जो अप्पाण भए ण दसए । (चारित्र ६)

८७३—सारीर माणसा चेव, वेयणा उ अणतसो । (संसार ६)

८७४—सावज्ज जोग परिवज्जयतो, चरिज्ज भिक्खू सुसमाहि इदिए । (योग १४)

८७५—सावज्ज न लवे मुणी । (सत्यादि ३३)

८७६—सासय मव्वा वाह चिट्ठति सुही सुह पत्ता । (मोक्ष १३)

८७७—सासय परिणिव्वुए । (प्रशस्त २०)

८७८—सिक्ख सिक्खेज्ज पडिए । (सदगुण १६)

८६४—(हे आत्मज्ञ !) सम्पूर्ण ससार के प्रति तू समतापूर्वक देखने वाला हो ।

८६५—सभी (कौटुम्बिक प्राणी) तुम्हारी रक्षा करने के लिए अपर्याप्त है—असमर्थ है, और तुम भी उनकी रक्षा करने के लिये समर्थ नहीं हो ।

८६६—सभी प्रकार के गायन विलाप-स्वरूपा सभी प्रकार के नृत्य-खेल विडम्बेना रूप है ।

८६७—सभी मुकृत्य मनुष्यों के लिये (अच्छा) फल लाने वाले होते हैं ।

८६८—सुख शीलता युक्त होता हुआ, क्रोध नहीं करता हुआ एवं माया प्रपंच रहित होता हुआ विचरे ।

८६९—झूठ (से शुरु होने) वाला वाक्य नहीं बोले, यही जितेन्द्रिय वालो का धर्म है ।

८७०—श्रमण-धर्म का आचरण करना अति कठिन है ।

८७१—सामायिक से सावद्य-योग की विरति होती है ।

८७२—जो (महात्मा) अपनी आत्मा के लिये किसी भी प्रकार का भय नहीं देखता है, यही उसके लिये सामायिक कही गई है ।

८७३—(इस ससार में) शरीर सम्बन्धी और मन सम्बन्धी अनन्त प्रकार की वेदनाएं हैं ।

८७४—सावद्य-योग का परित्याग करता हुआ और इन्द्रियों पर सुसमाधि वाला होता हुआ भिक्षु विचरे ।

८७५—मुनि सावद्य (पापकारी) नहीं बोले ।

८७६—(मुक्त जीव) शाश्वत् अव्यावाध सुख को प्राप्त करके सुखी रूप से स्थित है ।

८७७—(हे उच्च पुरुषो !) शाश्वत् रूप से परिनिवृत्त होओ ।

८७८—पंडित पुरुष व्याकरण आदि विद्या का अध्ययन करें ।

८७९—सिद्धिार्ण सोक्ख अक्वा वाह । (मोक्ष १२)

८८०—सिद्धो हवइ सासओ । (मोक्ष ६)

८८१—सीयति अबुहा । (वाल १८)

८८२—सीयन्ति एगे बहु कायरा नरा । (वाल ३६)

८८३—सोहे मियाण पवरे, एव हवइ बहुस्सुए । (ज्ञान १४)

८८४—सुअ लाभे न मज्जिज्जा । (कपाय २०)

८८५—सुई घम्मस्स दुल्लहा । (दुल्लभ २)

८८६—सुत्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरति । (सात्त्विक १५)

८८७—सुदुल्लह लहिइ वोहि लाभ, विहरेज्ज । (दुल्लभ १६)

८८८—सुद्धेण उवेति मोक्ख । (मोक्ष ३)

८८९—सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा । (श्रमण-भिक्षु-३६)

८९०—सुपरिच्चाई दम चरे । (कर्तव्य १९)

८९१—सुवभचेर वसेज्जा । (शील ६)

८९२—सुय महिट्ठिज्जा उत्तमठ्ठु गवेसए । (ज्ञान १७)

८९३—सुयस्स आराहणयाए अन्नाण खवेइ, न य सकिलिस्सइ ।
(उपदेश ८०)

८९४—सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो, खवित्तु कम्म गइ
मुत्तम गया । (ज्ञान १९)

८९५—सुव्वते समिते चरे । (महापुरुष ३५)

८९६—सुविणी अप्पा दीसति सुह मेहंता । (सात्त्विक ४)

- ८७९—सिद्ध आत्माओं का सुख अविनाश (निरन्तर बाधा रहित) होता है ।
- ८८०—सिद्ध प्रभु शाश्वत् (नित्य, अक्षय) होते हैं ।
- ८८१—अज्ञानी, मूर्ख दुःखी होते हैं ।
- ८८२—अनेकानेक मनुष्य कायर होते हुए दुःखी होते हैं ।
- ८८३—जैसे सिंह मृगों में श्रेष्ठ होता है वैसे ही बहुश्रुत व्यक्ति (जनता में श्रेष्ठ) होता है ।
- ८८४—(आत्म-हितैषी) ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अहंकार नहीं करे ।
- ८८५—धर्म सुनने का प्रसंग मिलना दुर्लभ है ।
- ८८६—अमुनि सोये हुए हैं और मुनि सदैव जागृत हैं ।
- ८८७—(मेवा व्रती) सुदुर्लभ बोधि लाभ की प्राप्ति के लिये (सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिये) विचरे । (ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करे) ।
- ८८८—शुद्ध आत्मा (कर्म रहित आत्मा) मोक्ष को प्राप्त करती है ।
- ८८९—परापकारी अच्छी तरह से शब्द हाता हुआ समय व्यतीत करे आर दूषित नहीं होवे ।
- ८९०—सुपरित्यागी इन्द्रिय-दमन रूप धर्म का आचरण करे ।
- ८९१—सुब्रह्मचर्य रूप वर्म में (ब्रह्मचारी) रहे। (ब्रह्मचर्य का पालन करे)
- ८९२—श्रुत-शास्त्र का अध्ययन करके (ज्ञान में सुस्थित हो करके) उत्तम अर्थ की (मोक्ष की) गवेषणा करे; (अनन्तता की) खोज करे ।
- ८९३—जो श्रुत-ज्ञान की आराधना से अज्ञान का नाश करता है, वह सक्लेश नष्ट प्राप्त करेगा ।
- ८९४—विपुल श्रुत ज्ञान से पूर्ण, स्वपर, रक्षक महात्मा कर्म को क्षय करके उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं ।
- ८९५—सुब्रह्मचारी ममितियों का परिपालन करता हुआ विचरे ।
- ८९६—सुविनीत आत्मा सुख प्राप्त करती हुई देखी जाती है ।

८९७—सुस्सुसए आयरि अण्णमत्तो । (कर्त्तव्य ९)

८९८—सुहावहं धम्म धुर अणुत्तरं धारेह निव्वाण गुणावहं महं ।
(धर्म २७)

८९९—सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विउमता पयहिज्ज संथव ।
(कषाय २९)

९००—सूरा दूढ परक्कमा । (महापुरुष १४)

९०१—सेणे जह वट्ठयं हरे, एव आउखयमि तुट्ठई ।
(उपदेश ५८)

९०२—से य खु मेयं ण पमाय कुज्जा । (प्रशस्त ९)

९०३—से सोयई मच्चु मुहोवणीए धम्म अकाऊण परमि लोए ।
(धर्म १९)

९०४—से हु चक्खू मणुस्साण, जे कंखाए य अतए ।
(महापुरुष ७)

९०५—सोय परिणाय चरिज्ज दते । (उपदेश, ८५)

९०६—सकट्टाण विवज्जए । (उपदेश २७)

९०७—सगाम सीसे व पर दमेज्जा । (सद्गुण, १०)

९०८—सघ नगर । भद्द, ते ! अखड चारित्त पागारा ।
(प्रा म, १८)

९०९—संघ पउमस्स भद्दं, समण गण सहस्स पत्तस्स ।
(प्रशस्त, २५)

९१०—सजम-तव-तुंवा रयस्स, नमो सम्मत्त पारियल्लस्स ।
(प्रा; मं, १९)

८९७—(शिष्य) अप्रमादी होता हुआ आचार्य की सेवा-भक्ति करे ।

८९८—जो सुख का लानवाली है, अनुत्तर-श्रेष्ठ है और निर्वाण के गुणों को देनेवाली है, ऐसी महान् धर्म-धुरा को धारण करो ।

८९९—विद्वान् “अति परिचय” को सूक्ष्म शल्य रूप और कठिनाई से दूर करने योग्य समझ कर उसे छोड़ दे, सम्बन्ध-विच्छेद कर ले ।

९००—शरवीर दृढ़ पराक्रमशील होते हैं ।

९०१—जैसे श्येन पक्षी (बाज पक्षी) बटेर को पकड़ लेता है, वैसे ही आयुष्य का क्षय होते ही यह जीवन टूट जाता है ।

९०२—यह मेरे लिये निश्चय ही कल्याण कारी है, ऐसा समझ कर प्रमाद याने असत् आचरण नहीं करे ।

९०३—जा विना धर्म किये ही मृत्यु के मुख में चला गया है, वह परलोक में दुःखा होता है ।

९०४—वहा मनुष्यों के लिये चक्षु रूप है, ज्ञान रूप है, जो कि अभिलाषाओं का (इच्छाओं का) अंत करने वाला है ।

९०५—सयमी निरवद्य आचार का ज्ञान करके तदनुसार आचरण करे ।

९०६—शका के स्थान को छोड़ दो ।

९०७—जैसे सग्राम के अग्र भाग पर शत्रु का दमन किया जाता है, वैसे ही इन्द्रियों के विषयों का भी दमन करो ।

९०८—अखंड चारित्र्य रूप प्राकार (कोट, गढ़) वाले हे श्री सध रूप नगर ! तुम्हारा कल्याण हो ! मंगल हो !

९०९—जिसके साधु साध्वी रूप हजारों पत्र हैं, ऐसे श्री सध रूप कमल का भद्र हो, कल्याण हो, जय विजय हो ।

९१०—सयम और तप ही जिसके मध्य भाग के गोल अवयव हैं, ऐसे सम्यक्त्व रूप चक्र वाले श्री. संघ को नमस्कार हो ।

- ९११—संजया सुसमाहिया । (महापुरुष १६)
 ९१२—सतप्पती असाहु कम्मा । (अनिष्ट, १)
 ९१३—सतोष पाहन्न रए स पुज्जो । (महापुरुष १०)
 ९१४—संतो सिणो नोप करेति पाव । (लाभ, १२)
 ९१५—सवोही खलु दुल्लहा । (दुर्लभ ६)
 ९१६—समिस्स भावं पयहे पयासु । (शाल १४)
 ९१७—सवेगेण अणुत्तरं धम्म सद्ध जणयइ । (वैराग्य, २२)
 ९१८—ससरइ सुहा सहेहि कम्मेहि । (कर्म १०)
 ९१९—संसारो अण्णवो वुत्तो । (ससार ५)

ह

- ९२०—हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज, वुच्चमाणो न संजले । (उपदेश ९)
 ९२१—हसतो नाभिगच्छेज्जा । (उपदेश ६७)
 ९२२—हिडति भयाउला सढा, जाइ जरा मरणेहि अभिदुता । (बाल १५)
 ९२३—हिरिम पडि सलीणे सुविणीए । (महापुरुष, २०)
 ९२४—हिसंगं न मुसं वूआ । (सत्यादि ४३)
 ९२५—हिसन्नियं वा ण कहं करेज्जा । (हिंसा ४)

- ९११—सयमी सुसमाधि वाले होते हैं ।
 ९१२—असाधुकर्मी (दुष्ट काम करने वाला) महान् ताप भोगता है ।
 ९१३—जो सर्वोच्च सतोष से अनुरक्त है, वही पूजनीय है ।
 ९१४—सतोषी महापुरुष पाप नहीं करते हैं ।
 ९१५—सवोधि याने सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दृष्टि निश्चय ही दुर्लभ है ।
 ९१६—स्त्रियो के प्रति समिश्र भाव को (चल विचल भावों को) छोड़ दो ।
 ९१७—सवेग भावना से— (वैराग्य भावना से) श्रेष्ठ धर्म रूपः श्रद्धा उत्पन्न होती है ।
 ९१८—शुभ कामों से साता रूप सुख-शांति प्रवाहित होती है ।
 ९१९—ससार (एक प्रकार का) समुद्र कहा गया है ।

ह

- ९२०— (कर्तव्य शील पुरुष) मारा जाता हुआ भी क्रोध नहीं करे, तथा गाली आदि का उच्चारण किया जाता हुआ भी द्वेष नहीं लावे ।
 ९२१—हसता हुआ नहा चले ।
 ९२२—शठ पुरुष जन्म, जरा और मृत्यु से पीड़ित होते हुए, एव भय से व्याकुल होते हुए संसार समुद्र में चक्कर लगाया करते हैं ।
 ९२३—लज्जा वाला और एकान्त वासी जितेन्द्रिय पुरुष “सु विनीत” होता है ।
 ९२४—हिंसा पैदा करने वाला झूठ मत बोलो ।
 ९२५— (आत्म द्वितीय) हिंसा को पैदा करने वाला कथा करे नहीं ।



पारिभाषिक-शब्द

सूची

—*००*—

जिन शब्दों की परिभाषा और व्याख्या "अकार आदि क्रम" से आगे दी है; उन शब्दों की अकार आदि क्रम से

सूची

—*o*—

शब्द	पृष्ठ संख्या	शब्द	पृष्ठ संख्या
अ			
१ अकाम निर्जरा	... ४१४	१९ अरूपी	... ४१६
२ अणगार	... "	२० अलोक	... "
३ अतिचार	... "	२१ अवधि ज्ञान	... "
४ अधर्मास्तिकाय	... "	२२ अव्रत	... "
५ अनार्थ	... "	२३ अविवेकी	... ४१७
६ अनासक्ति	... "	२४ अशुभ-योग	... "
७ अनुकपा	... ४१५	२५ असयमी	... "
८ अनुभाव	... "	२६ असविभागी	... "
९ अनुभूति	... "	आ	
१० अनुमान	... "	१ आकाश	... "
११ अनत	... "	२ आगम	... "
१२ अप्रतिपाति दर्शन	... "	३ आचार्य	... ४१८
१३ अविनाभाव सबध	... "	४ आत्मा	... "
१४ अभक्ष्य	... "	५ आत्यंतिक	... "
५ अमूढ	... ४१६	६ आध्यात्मिक	... "
अमूर्त	... "	७ आर्त्त-भ्यान	... "
१७ अरति	... "	८ आरंभ	... "
१८ अरिहंत	... "	९ आर्य	... "
		१० आराधना	... "

शब्द	पृष्ठ संख्या	शब्द	पृष्ठ संख्या
११ जालोचना ...	४१९	९ कार्य-कारण संबंध ...	४२२
१२ आश्रय ...	;	१० काल ...	"
१३ आनंदिन ...	,	११ कूट शाल्मली वृक्ष ...	;
१४ आस्तिकता ...	"	१२ केवल ज्ञान ...	"
१५ आसातनो ...	"	ग	
इ		१ गणधर ...	;
१ उच्छा ...	"	२ गृद्धि ...	;
२ इन्द्रिय ...	"	३ ग्रथि ...	४२३
उ		४ गुप्ति ...	"
१ उपभोग ...	४२०	५ गोचरी ...	"
२ उपयोग ...	;	६ गोत्र कर्म ...	"
३ उपसर्ग ...	"	घ	
४ उपाधि ...	"	१ घन घाती कर्म ..	"
ऋ		२ घ्राण इन्द्रिय .	"
१ ऋति ...	;	च	
क		१ चतुर्विध संघ ..	४२४
१ क्रोध ...	"	२ चारित्र्य ...	"
२ कर्म ..	४२१	३ चेतना .	;
३ कर्म-योगी ..	"	४ चारामी लाग जीवयोनि	"
४ कपास ...	"	ज	
५ कामना ...	;	१ जघन्य ...	४२५
६ राग-मोह ...	;	२ जट ...	"
७ कादोम्यमं ...	;	३ जागदकला ...	"
८ काय-गुणिक ...	"	४ जिन-ज्ञान ...	;

शब्द	पृष्ठ संख्या	शब्द	पृष्ठ संख्या
५ जिनेन्द्र ...	४२६	ध	
६ जीव ...	"	१ ध्यान ...	४३०
७ जैन ...	"	२ धर्म ...	४३१
१ तत्त्व ...	"	३ धर्म-ध्यान ...	"
२ तत्त्व दर्शी ...	४२७	४ धर्मास्तिकाय ...	"
३ तदुत्पत्ति सवध ..	"	१ नरक गति ...	४३२
४ तप ...	"	२ नव तत्त्व ..	"
५ तर्क ...	"	३ नाम कर्म ...	"
६ तादात्म्य संबंध ..	"	४ नियाणा ...	"
७ तामसिक ..	"	५ निर्ग्रन्थ ...	"
८ तिर्यंच गति ...	४२८	६ निर्जरा ...	४३३
९ तृष्णा ...	"	७ निर्वृद्ध ...	"
१० तीर्थ ...	"	८ निर्वेद ...	"
११ तीर्थंकर ..	"	९ निरवद्य-योग ...	"
१ दर्शन ..	"	१० नष्कामना ...	"
२ दर्शन मोहनीय ...	४२९	११ नोकषाय ...	"
३ दुर्भावना ...	"	प	
४ दुर्वृत्तियों ...	"	१ प्रकृति ...	४३४
५ देवाधिदेव ...	"	२ प्रकृति बध ...	"
६ द्रव्य ...	"	३ प्रत्यभिज्ञान ...	"
७ द्रव्य-आश्रय ...	४३०	४ प्रतिक्रमण ...	"
८ द्रव्य-शान्ति ...	"	५ प्रदेश बध ...	४३५
९ द्वेष ...	"	६ प्रमाद ...	"
		७ प्रशम ...	"

शब्द	संख्या	शब्द	पृष्ठ संख्या
८ प्रायश्चित्त ...	४३५	६ भाग ...	४४१
९ पदार्थ ...	४३६	७ भौतिक-सुख ...	"
१० परमाणु ...	"	म	
११ पर्याय ...	"		
१२ परिग्रह ...	४३७	१ मति-ज्ञान ...	"
१३ परिणाम ...	"	२ मधुकरी ...	"
१४ परिषह ...	"	३ मनः पर्याय ...	४४२
१५ पत्न्यापम ...	"	४ मनो गुप्ति ...	"
१६ पाप ...	"	५ ममता ...	"
१७ पाँच इन्द्रियाँ ...	"	६ महात्मा ...	"
१८ पुण्य ...	"	७ महाव्रत ...	"
१९ पुद्गल ...	४३८	८ माया ...	४४३
२० पूर्वघर ...	"	९ मिथ्यात्व ...	"
व		१० मिथ्या दृष्टि ...	"
		११ मुक्त ...	"
१ वध ...	"	१२ मुनि ...	४४४
२ बहु शत ...	४३९	१३ मुमुक्षु ...	"
३ बाल ...	"	१४ मूढ ...	"
४ बाल-तप ...	"	१५ मूर्च्छा ...	"
भ		१६ माह ...	"
		१७ माहनीय कम ...	"
१ भव्य ...	"	१८ मोक्ष ...	४४५
२ भाव ...	"	य	
३ भावाश्रय ...	४४०		
४ भावना ...	"	१ यतना ...	"
५ भाव-शान्ति ...	४४१	२ यथाख्यात चारित्र ...	"
		३ योग-प्रवृत्ति ...	४४६

शब्द	पृष्ठ संख्या	शब्द	पृष्ठ संख्या
र			
१ रत्नत्रय	... ४४६	८ विरक्त	... ४५३
२ रति	... ४४७	९ वियोग	... "
३ रस	... "	१० विराधना	... "
४ राग	... "	११ विवेक	... "
५ राजस्	... "	१२ विषय	... "
६ राजू	... ४४८	१३ वीतरागता	... ४५४
७ रूप	... "	१४ वातराग समय	... "
८ रूपी	... "	१५ वृत्ति	... ४५५
९ रौद्र-ध्यान	... ४४९	१६ वेतरणी नदी	... "
		१७ वेदनीय-कर्म	... "
		१८ वैभव	... "
ल		श	
१ लक्षण	... "	१ शब्द	... "
२ लालसा	... "	२ श्रद्धा	... "
३ लेख्या	... "	३ श्रावक	... ४५६
४ लोक	... ४५०	४ श्राविका	... "
५ लोकाकाश	... ४५१	५ शील	... "
व		६ श्रुत ज्ञान	... "
१ व्यामोह	... "	७ शुक्ल ध्यान	... "
२ वचन गुप्ति	... "	८ शुभ-ध्यान	... ४५७
३ वाचाल	... "	९ शुभ-याग	... "
४ वासना	... "	१० शुभ-लेख्या	... "
५ विकथा	... ४५२	ष	
६ विकार	... "	१ षट्-काय	... "
७ विपाक-शक्ति	... "	२ षट्-द्रव्य	... "

शब्द	पृष्ठ संख्या	शब्द	पृष्ठ संख्या
स			
१ सम्यक्त्व	४५८	२१ सयमासयम	४६५
२ सम्यक् दर्शन	४५९	२२ संयोग	४६५
३ सम्यक् ज्ञान	४६०	२३ सलेखना	४६५
४ समाधि	४६०	२४ संवर	४६६
५ समारभ	४६०	२५ संवेग	४६६
६ समिति	४६०	२६ सस्कृति	४६६
७ सराग-सयम	४६१	२७ स्थविर	४६७
८ सहयोग-सबध	४६१	२८ स्थावर	४६७
९ सागरोपम	४६१	२९ स्थित-प्रज्ञ	४६७
१० सात्त्विक	४६१	३० स्थिति-बंध	४६८
११ साधना	४६२	३१ स्पर्श	४६८
१२ साध्वा	४६२	३२ स्मृति	४६८
१३ साधु	४६२	३३ स्याद्वाद	४६८
१४ सामायिक	४६३	ज	
१५ सावद्य-योग	४६४	१ क्षेत्र	४६९
१६ सिद्ध	४६४	त्र	
१७ सूत्र	४६४	१ त्रम	४६९
१८ सत	४६५	ज्ञ	
१९ सयति	४६५	१ ज्ञान	४६९
२० सयम	४६५	नोट — कुल शब्द संख्या २४६ है	

परिशिष्ट संख्या ३

टीका में आये हुए पारिभाषिक और आवश्यक
शब्दों की अकार आदि क्रम से व्याख्या; टिप्पणी
और अर्थ ।



अ

१—अकाम निर्जरा

(१) निष्काम या अनियाणा वाली निर्जरा । अर्थात् किसी भी प्रकार के फल अथवा बदले की भावना और इच्छा नहीं रखते हुए एकान्त आत्म हित के लिये की जाने वाली तपस्या और सेवा कार्य आदि ।

(२) अनिच्छा पूर्वक सहा जाने वाला कष्ट भी जैन दर्शन में “अकाम-निर्जरा” कहलाता है ।

२—अणगार

साधु अथवा महापुरुष, जो किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रखता हो एव अहिंसा, सत्य, अचार्य, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह आदि व्रतो का मन, वचन और काया से परिपूर्ण रीति से पालन करने वाला हो ।

३—अतिचार

ऐसी सामग्री इकट्ठी करना अथवा ऐसा परिस्थिति पैदा करना, जिससे कि लिये हुए व्रत में आर ग्रहण किये हुए त्याग में दाप पैदा होने की सम्भावना हो, अथवा अश रूप-से दोष पैदा हो गया हो ।

४—अघर्मास्ति काय

जिन छ द्रव्यों से यह संपूर्ण ब्रह्माण्ड अथवा लोकाकाश बना है, उनमें से एक द्रव्य । यह द्रव्य जावा का आर पुद्गलो को “उनकी ठहरने की स्थिति” में ठहरने के लिये मदद करता है ।

५—अनार्य

मनुष्यों की ऐसी जाति, जिनमें मद्य, मांस, शिकार आदि व्यसनो की भरमार हो और जो दया, सत्य आदि में धर्म नहीं मानते हो ।

६—अनासक्ति

नीति और कर्तव्य की ओर पूरा पूरा ध्यान देते हुए जीवन में कुटुम्ब, परिग्रह, यश, सम्मान और अपने कार्य में जरा भी माह ममता नहीं रखना तथा किसी भी प्रकार से प्रतिफल की भावना नहीं रखना ।

७—अनुकंपा

सताये जाते हुए और मारे जाते हुए, पीडित प्राणी के प्रति दया लाना ।

८—अनुभाव

प्रत्येक जीव में होने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण जीव के साथ बधने वाले कर्मों में फल देने की जो शक्ति पैदा होती है, वह अनुभाव है ।

९—अनुभूति

परिस्थितियों से और काल-क्रम से पैदा होने वाला ज्ञान । पाचो इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होने वाला अनुभव रूप ज्ञान ।

१०—अनुमान

कारणों को देखकर अथवा जानकर उनके आधार से मूल कार्यों का ज्ञान कर लेना । जैसे घुँए द्वारा दूर से ही आग का होना जान लेना ।

११—अनन्त

जिसकी कोई सीमा नहीं हो, अथवा जिसका तीनो काल में भी अन्त नहीं आवे । अनन्त के तीन भेद हैं — १ जघन्य अनन्त, २ मध्यम अनन्त और ३ उत्कृष्ट अनन्त ।

१२—अप्रतिपाति दर्शन

ईश्वर, आत्मा, पाप, पुण्य आदि धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण विश्वास रखना “दर्शन” है, और ऐसा दर्शन प्राप्त होकर फिर कभी भी नष्ट न हो, मोक्ष के पाने तक बराबर बना रहे, वह अप्रतिपाति दर्शन है ।

१३—अविनाभाव सबध

दो पदार्थों का अन्योन्याश्रय-सबध, पारस्परिक सबध, अर्थात् एक के होने पर दूसरे का होना, दूसरे के नहीं होने पर पहले का भा नहा हाना । अग्नि और घुँए का “अविनाभाव सबध” कहलाता है ।

१४—अभक्ष्य

ऐसे पदार्थ जो अहिंसा प्रेमा के खाने पीने के योग्य नहीं होते हैं, वे अभक्ष्य हैं ।

१५—अमूढ

जो आत्मा विवेक और ज्ञान के बेल पर अपनी इन्द्रियों और मन को विषय, विकार से हटा लेता है और निष्कपट रीति से जीवन के व्यवहार को चलाता है, वह “अमूढ” कहलाता है ।

१६—अमूर्त

जिन द्रव्यों में रूप, रस, गंध, स्पर्श, नहीं पाया जाता है ।

१७—अरति

क्रोध, मान, माया, लाभ और ईर्ष्या द्वेष के कारण से किसी पर भी घृणा, घिक्कार, बेपर्वाही, अस्वच्छि आदि के भाव होना “अरति” है ।

१८—अरिहत

जिनकी आत्मा पूर्ण विकास कर चुकी है, जो अखंड और परिपूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर चुके हैं, जो ईश्वर रूप हो चुके हैं, ऐसे असाधारण महात्मा “अरि-हत” हैं । जैन-परिभाषा के अनुसार जिन्होंने चार कर्मों का सर्वथा जड़ मूल से नाश कर दिया है, वे “अरिहत” हैं ।

१९—अरूपी

जो वर्ण से, गंध से, रस से और स्पर्श से रहित है ।

२०—अलोक

सम्पूर्ण ब्रह्मांड का वह अनन्त और असीम-शून्य स्थान, जहाँ कि जीव, पुद्गल आदि कोई द्रव्य नहीं है । इसे अलोकाकाश भी कहते हैं ।

२१—अवधिज्ञान

ज्ञान का वह रूप है, जो कि आत्मा की शक्ति के आधार से ही इन्द्रियो और मन की सहायता नहीं लेते हुए भी कुछ मर्यादा के साथ तीनों काल के रूपी पुद्गलों को जान सके-समझ सके ।

२२—अव्रत

किसी भी कार का त्याग, प्रत्याख्यान अथवा मर्यादा नहीं करना ।

२३—अविवेको

समय, स्थान और परिस्थिति एवं मर्यादा का ध्यान नहीं रखते हुए वेपवर्हि के साथ कार्य करनेवाला ।

२४—अशुभ-योग

मन को बुरे विचारों में लगाना, भाषा को कषाय वाला रूप देना, और शरीर को आलस्य, प्रमाद और व्यर्थ के कामों में तथा क्लेशकारी कामों में लगाना । मन-योग, वचन-योग और काया-योग इस प्रकार इसके तीन भेद हैं ।

२५—असंयमी

जिसका अपनी इन्द्रियों और मन पर काबू नहीं हो और जिसका जीवन्-व्यवहार किसी भी प्रकार की नैतिक मर्यादा से बंधा हुआ नहीं हो; ऐसी प्राणी "असंयमी" है ।

२६—असविभागी

दूसरों के सुख-दुःख का और हित अहित का ख्याल नहीं रखनेवाला । एकान्त स्वार्थी ।

आ

१ आकाश—

जीवों को, पुद्गलों का, पदार्थों को ठहरने के लिये स्थान देने वाला द्रव्य । मूल में यह शून्य रूप है, निराकार है और केवल शक्ति स्वरूप है । अखिल ब्रह्मांड व्यापी है, संपूर्ण लोक अलोक में फैला हुआ है ।

२—आगम

अरिहतों के प्रवचन को, गणधरों के ग्रंथों का और पूर्ववर आचार्यों के साहित्य का आगम कहा जाता है । मोटे रूप में शास्त्रों को, सूत्रों को आगम कहा जाता है ।

३—आचार्य

माधु-साध्वियो को सुनिश्चित परम्परा के अनुसार संचालन करने वाले चेष्टा, अथवा विशेष शास्त्रों के महान् ज्ञाता, असाधारण उद्भट विद्वान् पुरुष ।

४—आत्मा

चेतना वाला द्रव्य, अथवा जीव । ज्ञान-शील पदार्थ ही आत्मा है ।

५—आत्यतिक

“अत्यत” का ही विशेषण रूप “आत्यतिक” है । अर्थात् अत्यत-वाला ।

६—आध्यात्मिक

“आत्मा” से सबंध रखने वाले सिद्धान्तों और बातों का एक पर्याय वाचा विशेषण ।

७—आर्त्त-ध्यान

शोक करना, चिन्ता करना, भय करना, रोना, चिल्लाना, सासारिक दुख और धन-वैभव का ही चिन्तन करते रहना ।

८—आरभ

सांसारिक-सुख-सुविधा बढ़ाने के लिये, वैभव का सामग्री इकट्ठी करने के लिये विविध प्रकार का प्रयत्न करना । अथवा ऐसे काम करना, जिनसे जीवों की हिंसा की सम्भावना हो ।

९—आर्य

मनुष्यों में ऐसी श्रेष्ठ जाति; जो कि दया, दान, पुण्य, पाप, आत्मा, ईश्वर आदि धार्मिक सिद्धान्तों में पूरी तरह से श्रद्धा रखते हुए मद्य, मांस, जुआ, शिकार आदि व्यसनो से और अभक्ष्य पदार्थों से परहेज करती हो । सात्विक और नैतिक प्रवृत्ति वाली मनुष्य-जाति ।

१०—आराधना

शास्त्रों के वचनों के अनुसार चलना, वैसा ही व्यवहार जीवन में रखना ।

११—आलोचना

ग्रहण किये हुए व्रतों में दोष लग जाने पर, भूल भरी बातें हो जाने पर, व्रत के विरुद्ध आचरण हो जाने पर गुरु के समक्ष अथवा आदरणीय बन्धु के समक्ष ईश्वर की साक्षी से दोषों का, भूलों का, विरोधी-आचरण का स्पष्ट रीति से वयान करना और क्षमा मागना ।

१२—आश्रव

मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से 'कर्म' नाम से बोले जाने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म पुद्गल-वर्गणाओं का आत्मा के साथ दूध पानी की तरह सवधित होने के लिये आत्म-प्रदेशों की ओर आना आश्रव है । शुभ-प्रवृत्ति से शुभ-आश्रव होता है और अशुभ-प्रवृत्ति से अशुभ-आश्रव होता है ।

१३—आसक्ति

मोह को, ममता को, गृद्धि-भाव को आसक्ति कहते हैं । किसी पदार्थ के प्रति मूर्च्छित होना, अपने अच्छे कामों का फल चाहना ।

१४—आस्तिकता

पाप, पुण्य, पुनर्जन्म, आत्मा, ईश्वर, दया, दान, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि सिद्धान्तों में और धार्मिक क्रियाओं में पूरा पूरा विश्वास रखना ।

१५—आसातना

अविनय करना, अनादर करना; उपेक्षा करना ।

इ

१—इच्छा

इन्द्रियो और मन की अतृप्त भावना । तृष्णा मय आकांक्षा । विषय और विकार के प्रति रुचि होना ।

२—इन्द्रिय

आँख, कान, नाक, मुह और शरीर-इन पाँचों का सम्मिलित नाम इन्द्रिय है ।

उ

१—उपभोग

ऐसे पदार्थ जो एक से अधिक बार भोगे जा सकें, जैसे कि वस्त्र, मकान आभूषण, आदि ।

२—उपयोग

“ज्ञान और दर्शन” का सम्मिलित अर्थ । जानने, अनुभव करने, सोचने समझने की शक्ति । आत्मा का मूल लक्षण उपयोग ही है ।

३—उपसर्ग

ग्रहण किये हुए व्रतों के परिपालन के समय में आने वाले हर प्रकार के कष्ट; ये कष्ट चाहे प्राकृतिक हो अथवा देव-मनुष्य कृत हों अथवा पशु कृत हो ।

४—उपाधि

(१) कष्ट, क्लेश, अथवा परिग्रह रूप सग्रह (२) पदवी, खिताब ।

ऋ

१—ऋषि

ऐसे सत ज्ञानी महात्मा, जो कि अपने ज्ञान बल से और चारित्र्य बल से भविष्य का ठीक ठीक अनुमान कर सके और दार्शनिक गहन सिद्धान्तों का सही रूप से अनुभव कर सके ।

क

१—क्रोध

चार कपाय में से पहला कपाय, इसके कारण से आत्मा विवेक शून्य होकर वेभान हो जाता है । बोलने में और व्यवहार में पूरा पूरा अज्ञान छा जाता है । अपना भान भूलकर अविवेक के साथ क्लेशकारी तथा कटु वचन बोलना ही क्रोध है ।

२—कर्म

क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण आत्मा के प्रदेशों पर जा एक प्रकार का सूक्ष्म से सूक्ष्म-परमाणुओं का पटल दूध पानी की तरह छा जाता है और आत्मा को मलिन सस्कारों से आवद्ध कर देता है, ऐसे पुद्गलों से बने हुए वर्गणाओं का समूह ।

३—कर्म—योगी

ज्ञानी और भक्त होने पर भी जो निरन्तर बिना किसी भी प्रकार के फल की इच्छा किये अपने कर्तव्य मार्ग पर आरुढ़ रहे तथा जीवन को कर्मण्यता मय ही बनाया रखे, ऐसा पुरुष ।

४—कषाय

क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष आदि की भावनाएँ कषाय हैं ।

कषाय के १६ भेद हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान माया, लोभ

अप्रत्याख्यानवरण " " "

प्रत्याख्यानवरण " " " "

संज्वलन " " " "

५—कामना

इच्छा, आकांक्षा, सासारिक भावना ।

६—काम—भोग

स्त्री-पुरुष संबंधी मैथुन-भावनाएँ । ब्रह्मचर्य को तोड़ने संबंधी इच्छाएँ ।

७—कायोत्सर्ग

मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को रोक कर चित्त की वृत्ति को किसी एक पर ही केन्द्रित करना, चित्त की वृत्ति को सुस्थिर करना ।

८—काय—गुप्ति

शरीर के कामों को और प्रवृत्तियों को अशुभ मार्ग से हटा कर शुभ-मार्ग में लगाना, एव प्राणीमात्र के हित में शारीरिक-शक्तियों को जोड़ना ।

९—कार्य-कारण संबध

एक की उत्पत्ति मे अथवा सपादन मे दूसरे का मुख्य रूप से सहायक होना, परस्पर मे जन्य-जनक संबध होना । उत्पन्न=उत्पादक संबध होना, जैसे आटा और राटी ।

१०—काल

समय, छः द्रव्यो मे से एक द्रव्य, द्रव्यो की पर्यायो के परिवर्तन मे जो सहायक है । दिन, मास, वर्ष, पल्योपम, सागरोपम, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी आदि इसके ही भेद है । जैनाचार्यों ने “काल” को एक प्रदेशी ही माना है ।

११—कूट शाल्मली वृक्ष

एक प्रकार का वृक्ष, जो कि हर प्रकार से कष्ट दायक होता है । इसकी उत्पत्ति नरक-स्थान मे मानी जाती है ।

१२—केवल ज्ञान

परिपूर्ण और अखंड ज्ञान । इस ज्ञान की प्राप्ति के बाद आत्मा “अरि-हत्” अवस्था प्राप्त कर लेता है । इस ज्ञान के बल पर तीनों काल की घटनाओं का सही सही और पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । सभी द्रव्यो का आर उनका सभी पर्याया का परिपूर्ण स्वरूप इसके द्वारा जाना जा सकता है । ईश्वरीय ज्ञान ही केवल ज्ञान है ।

ग

१—गणधर

जैन-धर्म के मुख्य सस्थापक तीर्थंकरों के अग्रगण्य शिष्य, साधु-समुदाय के मुख्य सचालक । ये तीर्थंकरों के प्रवचनों को, उपदेशों का, आज्ञाओं को व्यवस्थित रूप से संग्रहित करते हैं ।

२—गृद्धि

पुद्गल सबही सुखों में, इन्द्रियो के भोग में, सांसारिक वासनाओं में और धन-वैभव, यश, पद-लोलुपता में एक दम मूर्च्छित हो जाना, मोह ग्रसित हो जाना और आत्म-भान भूल जाना ।

३—ग्रथि

मोह की गाठ, पदार्थों के प्रति मूर्च्छा-भावना, बाह्य और आभ्यन्तरिक ममता, बाह्य ममता याने भौतिक-सुख का बाह्य और आभ्यन्तरिक ममता याने क्रोध, मान, माया और लाभ का खजाना ।

४—गुप्ति

गोपना, मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियों को दूर कर शुभ-प्रवृत्तियों में सलग्न होना, मन, वचन और काया पर नियंत्रण करना ।

५—गोचरी

गाय जैसे थोड़ा थोड़ा घास हर स्थान से चूटती जाती है—खाती जाता है, वैसे ही थोड़ा थोड़ा आहार निर्दोश रीति से योग्य घरों से लेना ।

६—गोत्र कर्म

कर्म-वर्गणाओं का ऐसा समूह, जिसके वल पर सम्माननीय और असम्माननीय कुल की अथवा जाति की प्राप्ति हुआ करती है, जैसे कि सिंह और कुत्ते की जाति, आर्य और अनार्य का कुल ।

घ

१—घन-घाती कर्म

जैन दर्शन में मूल आठ कर्म बतलाये गये हैं, उनमें से चार अघाती कर्म हैं और चार घन घाती कर्म हैं । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय दौह अन्तराय कर्म घन घाती हैं । नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय अघाती कर्म हैं । आत्मा के गुणों पर जो पूरा पूरा सघन और कठिन एव दुष्परिहार्य पट्ट डाल देता है, गुणों को सर्वांग रूप में ढक देता है, ऐसे कर्म-वर्गणा घनघाती कर्म हैं ।

२—घ्राण-इन्द्रिय

प्राणियों की सूँघने की शक्ति का नाम घ्राण इन्द्रिय है, यह कार्य नाक द्वारा होता है । पाँच इन्द्रियों में इसकी गणना तीसरे नम्बर पर है ।

च

१—चतुर्विध सघ

साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का सम्मिलित नाम “चतुर्विध सघ” है। चतुर्विध सघ की स्थापना श्री तीर्थंकरों द्वारा की जाती है।

२—चारित्र

आचार्यों और महापुरुषों द्वारा स्थापित धार्मिक-सिद्धान्तों के अनुसार अच्छा आचरण ही चारित्र है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अममता के आधार पर किया जाने वाला अच्छा व्यवहार ही चारित्र है। चारित्र पाच प्रकार का कहा गया है — १ सामायिक, २ छेदोपस्थापनीय, ३ परिहार-द्विशुद्धि, ४ सूक्ष्म साम्परायिक, और ५ यथाख्यात।

३—चेतना

ज्ञान-शक्ति का नाम ही चेतना है। चेतना ही जीव का लक्षण है। चित्त ज्ञ, मन का विकास ही चेतना है।

४—चौरासी लाख जीव-योनि।

जीवों के उत्पन्न होने का स्थान, जीवों के शरीर धारण करने का स्थान जीव-योनि कहलाता है। स्थानों की कुल संख्या चौरासी लाख कही गई है।

ब्रह्म इस प्रकार है —

पृथ्वी काय (पृथ्वी के जीव-केवल शरीर वाले)	७ लाख
अपकाय (जल का पिण्ड रूप-केवल शरीर वाले)	७ लाख
तेज काय (अग्निका पिण्ड रूप— ” ”)	७ लाख
वायु-काय (हवा के पिण्ड रूप— ” ”)	७ लाख
प्रत्येक वनस्पति काय— ’ ”)	
(डाली-पौधे पर लगने वाले फल फूल)	१० लाख
साधारण वनस्पति काय (जमीकंद, आलू आदि)	१४ ”
दो इन्द्रिय जीव (शरीर और मूँह वाले)	२ ”

तीन इन्द्रिय जीव (शरीर, मुँह, नाक वाले)	२ लाख
चार इन्द्रिय " (शरीर, मुँह, नाक, आँख वाले)	२ "
देवता जीव (पाँच इन्द्रिय वाले ऊपर की ४, कान)	४ "
तिर्यंच " (पशु, पक्षी, जलचर पाँच इन्द्रिय वाले)	४ "
नारकी " (नरक के पाँच इन्द्रिय वाले)	४ "
मनुष्य " (" " ")	१४ "

ज

१—जघन्य

सत्या की दृष्टि से “कम से कम,” ।

विशेषण की दृष्टि से “हल्का, नीच” ।

२—जड़

ऐसे द्रव्य, जो कि ज्ञान से रहित है, अजीव तत्त्व । ये जड़ द्रव्य अथवा अजीव तत्त्व दो प्रकार के होते हैं, १ रूपी जड़ और २ अरूपी जड़ । जिनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श, सङ्ग, गलन, विध्वसन आदि पाये जाते हैं, वे रूपी जड़ हैं । हमें जो कुछ भी दिखाई देते हैं, सभी रूपी जड़ द्रव्य हैं । इनका दूसरा नाम पृथ्वी भी है । अरूपी जड़ में रूप, रस, गंध, और स्पर्श आदि नहीं पाये जाते हैं, इनकी संख्या ४ है और ये चारों अखिल ब्रह्मांड व्यापी हैं । इनके नाम इस प्रकार हैं — १ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय और ४ काल ।

३—जागरुकता

मन और इन्द्रियो को पाप से बचाने के लिये सदैव सावधान रहना । इन्द्रिय-वृत्ति पर और चित्त-वृत्ति पर प्रत्येक क्षण नियंत्रण रखना ।

४—जिन-शासन

जिन्होंने क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, काम वासना, विषय-विकार आदि सभी भीतरी शत्रुओं को सर्वथा जड़ मूल से हमेशा के लिये नाश कर दिया है और इन शत्रुओं की पुन उत्पत्ति का जरा भी कारण बाकी जिनके नहीं रहा

हैं, एव । जन्होंने पूर्ण और अखड ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो जैन-भाषा में “अरिहत” कहलाते हैं, उन्हें ही “जिन” कहा जाता है । ऐसे “जिन” का चलाया हुआ धर्म ही, इनकी आज्ञा ही “जिन-शासन” है ।

५—जिनेन्द्र

“जिन-शासन” की उपरोक्त व्याख्या के अनुसार जिन्होंने राग द्वेष को पूरी तरह से जीत लिया है, ऐसे “जिनो” में, ऐसे “अरिहतो” में जो तीर्थंकर हैं, चार प्रकार के सघ की स्थापना करने वाले हैं वे “जिनेन्द्र” कहलाते हैं । “अरिहतो” में मुख्य । “जिनो” में मुख्य महापुरुष ।

६—जीव

जिसमें ज्ञान है, अनुभव करने की शक्ति है, वह द्रव्य ही जीव है । नये नये शरीर धारण करता है, वही जीव है । ऐसे जीव सपूर्ण लोकाकाश में अनतानत और अपरिमित सख्या में सर्वव्यापी हैं । सभी जीवों में मूल रूप में समान ज्ञान, समान गुण, समान धर्म हैं । कर्म के कारण से विभिन्नता दिखाई देती है । प्रत्येक जीव असख्यात प्रदेशी है ।

७—जैन

जो “जिन” का आज्ञा और आदेश को मानता है, “जिन” द्वारा बतलाये हुए धर्म मार्ग पर चलता है, वही जैन कहलाता है । “जिन” की व्याख्या “जिन-शासन” में देखें ।

त

१—तत्त्व

पदार्थों के अथवा द्रव्यों के मूल स्वरूप को तत्त्व कहा जाता है । वस्तु का यथार्थ स्वभाव ही उसका तत्त्व है । मुख्य रूप से नौ तत्त्व कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं — १ जीव, २ अजीव, ३ पुण्य, ४ पाप, ५ आश्रव, ६ सवर, ७ निर्जरा ८ वध और ९ मोक्ष ।

२—तत्त्वदर्शी

तत्त्वों की तह में पहुँच जाने वाले महात्मा, तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप नम्र लेने वाले ऋषि ।

३—तदुत्पत्ति-सवध

पिता-पुत्र के समान, बीज वृक्ष के समान, जिन वस्तुओं का परस्पर में एक की दूसरे से उत्पत्ति हो, उनका परस्पर में “तदुत्पत्ति सवध” माना जाता है, जैसे कि दूध से दही ।

४—तप

आत्मा को पवित्र करने के लिये, आत्मा के गुणों का विकास करने के लिए इन्द्रियो और मन के विकार को और दुर्भावनाओं को समूल नष्ट करने के लिये जो इच्छा पूर्वक कष्ट सहन किया जाता है, उसे तप कहते हैं । आर्य-विल उपवास करना, सामायिक सवर करना, पर सेवा करना आदि अनेक भेद तप के कहे जा सकते हैं ।

५—तर्क

कार्य-कारणों की खोज करना, परस्पर में वस्तुओं के सवध का अनुसंधान करना, अनुमान नामक ज्ञान में सच्चाई तक पहुँचने के लिये विभिन्न बातों की खोज करना ।

६—तादात्म्य संबंध

“आत्मा आर ज्ञान” “अग्नि और उष्णता” “पुद्गल और रूप” इन दृष्टान्तों के समान जिनका परस्पर में अभिन्न, सहचर, मौलिक और एक-स्वरूप संबंध होता है, वह तादात्म्य संबंध कहलाता है ।

७—तामसिक

क्रोध आदि कपाय संवधी, मोह आदि विकार संवधी और हिंसा आदि-दुष्कृत संवधी विचार और क्रियाएँ “तामसिक” कही जाती हैं ।

८— तिर्यंच-गति

जलचर प्राणी, आकाश में उड़ने वाले प्राणी, पशु, पक्षी आदि पंचेन्द्रिय और एकेन्द्रिय से लगाकर चतुरिन्द्रिय प्राणी-तिर्यंच गति के जीव कहे जाते हैं ।

९—तृष्णा

विस्तृत पैमाने वाली इच्छाएं, अति लोभ मय दुर्भविनाएं, अतृप्त महान्-आकाक्षाएं ।

१०—तीर्थ

एक प्रकार का धर्म-मार्ग, जो कि तीर्थंकरों द्वारा स्थापित किया जाता है । साधु-साध्वी सस्था और श्रावक-श्राविका-सस्था भी कही जाती है । तीर्थ पवित्र स्थान को भी कहा जाता है ।

तीर्थ एक प्रकार का उच्च धार्मिक मार्ग, जिसका अवलम्बन लेकर आत्मा अपना विकास कर सकती है ।

११—तीर्थंकर

केवल ज्ञान, केवल दर्शन सम्पन्न वे महापुरुष जो कि साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप तीर्थ की स्थापना करते हैं । जैन-शासन और जैन-धर्म का विस्तृत रूप से संचालन करनेवाले । प्रत्येक उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल में २४-२८ तीर्थंकर हुआ करते हैं । ऐसे आज दिन तक अनन्तानन्त तीर्थंकर हो चुके हैं और भविष्य में भी होंगे ।

द

१—दर्शन

१ दार्शनिक सिद्धान्तों पर, धार्मिक आचरणों पर, और नैतिक बातों पर पूरा पूरा विश्वास करना “दर्शन” है । आत्मा, ईश्वर, पाप, पुण्य आदि के प्रति पूरा पूरा आस्तिक रहना “दर्शन” है ।

२ किसी वस्तु का पूरा पूरा ज्ञान होने के पहले उस वस्तु सम्बन्धी-साधारण आभास होना भी ‘दर्शन’ कहा जाता है ।

३ धर्म-विशेष के साथ भी जोड़कर इसके द्वारा विशेषता बतलाई जाती है, जैसे कि जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन, वैदिक दर्शन आदि ।

४ “आदरपूर्वक देखने” के अर्थ में भी दर्शन का उपयोग किया जाता है ।

२—दर्शन मोहनीय

यह एक महान् अनिष्ट और घातक कर्म है, जो कि आत्मा के धार्मिक विश्वास को और सिद्धान्तों के प्रति आस्तिकता को उत्पन्न नहीं होने देता है । अच्छी और उच्च बातों के प्रति उत्पन्न होनेवाले विश्वास का यह कर्म नाश करनेवाला है । इसके तीन भेद हैं — १ सम्यक्त्व मोहनीय, २ मिश्र मोहनीय, ३ मिथ्यात्वमोहनीय ।

आत्मा के उच्च विकास के लिये, याने परमात्मपद की ओर बढ़ने के लिये सब से पहले इसी कर्म का नाश करना पड़ता है, इसका नाश हो जाने पर ही चारित्र्य की प्रगति होना और गुणों का विकास होना शुरू हो जाता है ।

३—दुर्भाविना

खराब विचार, अनिष्ट चिन्तन । भय, चिन्ता, शोक, तृष्णा, क्रोध, झूठना आदि सभी दुर्भाविनाएँ ही हैं ।

४—दुर्वृत्ति

खराब आदतें, हल्का और तुच्छ स्वभाव, अनिष्ट व्यवहार, निन्दा योग्य आचरण, तथा धिक्कारने योग्य जीवन का वर्तान, ये सब दुर्वृत्तियाँ ही हैं ।

५—देवाधिदेव

देवताओं के भी पूजनीय, इन्द्रों के भी आराधनीय महापुरुष । ईश्वर का एक विशेषण । देवताओं के भी देवता याने अरिहत अथवा तीर्थंकर ।

६—द्रव्य

जिसमें नई नई पर्यायें उत्पन्न होती रहती हैं, तथा फिर भी जिसकी मूल-सत्ता अथवा ध्रुव्यत्व तीनों काल में सदैव बना रहे, पर्यायों के उत्पन्न और नाश होने पर भी जिसकी मूलसत्ता का कभी भी नाश नहीं हो, वही द्रव्य है ।

ऐसे द्रव्य कुल मिला कर सारे ब्रह्मांड में केवल ६ ही है, न अधिक है और न कम है। पांच अरूपी है और केवल एक ही रूपी है। वे छ. इस प्रकार है — १ जीवास्तिकाय, २ धर्मास्तिकाय, ३ अधर्मास्तिकाय ४ पुद्गलास्तिकाय, ५ आकाशास्तिकाय और ६ काल।

७—द्रव्य-आश्रव

कर्मों का आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह मिलने के लिये आत्मा की ओर आकर्षित होना ही आश्रव है। यह आश्रव दो प्रकार का है — १ भाव-आश्रव, २ द्रव्य आश्रव। क्रोध आदि १६ कपाय और रति अरति आदि ९ नो कपाय—ये २५ तो भाव-आश्रव है, इन्हीं भाव-आश्रवों के कारण जो रूपी, अति सूक्ष्म से अति सूक्ष्म पुद्गल-परमाणु आत्मा के साथ सम्मिलित होने के लिये आते हैं, वे ही परमाणु द्रव्य-आश्रव कहलाते हैं। इन्हीं द्रव्य-आश्रव रूप परमाणुओं में भाव-आश्रव के अनुसार सुख-दुःख देने की शक्ति तथा आत्मा के साथ अमुक समय तक रहकर गुणों को ढँक रखने की शक्ति पैदा हुआ करती है।

८—द्रव्य-शान्ति

जो शान्ति बाह्य कारणों पर निर्भर रहती है, जो अस्थायी होती है और जिसका सम्बन्ध आत्मा के गुणों के साथ नहीं रह कर केवल पुद्गलों के साथ ही रहे, भौतिक-सुखों के साथ ही जिसका सम्बन्ध रहे, वह द्रव्य शान्ति है।

९—द्वेष

अप्रिय और अरुचि वाले पदार्थों के प्रति क्रोध होना, नफरत होना, घिक्कार बुद्धि होना, अमान्य बुद्धि होना ही द्वेष है।

ध

१—ध्यान

मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों को नियन्त्रण करके, काबू में ले करके, किसी एक वस्तु पर उनको जमाना, किसी एक पदार्थ पर उन्हें स्थिर करना ध्यान है। ध्यान दो प्रकार का है — १ अशुभ ध्यान

और २ शुभ ध्यान । अशुभ ध्यान के भी दो भेद हैं :—१ आर्त्त ध्यान और २ रौद्र ध्यान । शुभ ध्यान के भी दो भेद हैं —१ धर्म ध्यान और २ शुक्ल ध्यान । रोने, चिल्लाने, स्व को अथवा पर को दुखी करने, शोक करने, हिंसा आदि के विचार करने, इत्यादि अशुभ प्रवृत्तियों की ओर मन, वचन, काया की शक्ति को स्थिर करना अशुभ ध्यान है । आत्म-चिन्तन, ईश्वर-भजन, पर-सेवा, सुसिद्धान्त विचारना, अनिष्ट-हिंसक विचारों से निवृत्ति आदि सात्त्विक और श्रेष्ठ विचारधारा की ओर शरीर, वचन और मन की वृत्तियों को सुस्थिर करना ही शुभ ध्यान है ।

२—धर्म

जो क्रियाएँ आत्मा को पाप से बचावे और आत्मा के गुणों का विकास करें, वे ही धर्म हैं । अहिंसा, सयम, तप, सत्य, ब्रह्मचर्य, अचौर्य, परिग्रह की मर्यादा और अममत्व एव रात्रि में खान-पान का त्याग आदि सत्क्रियाएँ धर्म की ही अंग हैं ।

३—धर्म-ध्यान

शरीर की और वचन की प्रवृत्ति को रोक कर चित्त की वृत्ति को धार्मिक चिन्तन में, सिद्धान्तों के विचारणा में और दार्शनिक बातों के मनन में एव ईश्वरीय स्तुति में सुस्थिर करना, दृढ़ करना ही धर्म-ध्यान है ।

४—धर्मास्तिकाय

जो द्रव्य जीवों को और पुद्गलों को इधर-उधर घूमने फिरने के समय में सहायता करता है और जिसकी सहायता होने पर ही जीव अथवा पुद्गल चल फिर सकते हैं, वह द्रव्य धर्मास्तिकाय है । यह द्रव्य संपूर्ण लोकाकाश में फैला हुआ है, अरूपी है और शक्ति का पुञ्ज रूप है । असंख्यात प्रदेशी है । “जल जैसे मछली को तैरने में सहायक है” वैसे ही जीव और पुद्गल की गति में यह द्रव्य सहायक होता है । “रेडियो में शब्द-प्रवाह” के प्रवाहित होने में अनेक कारणों में से एक कारण यह द्रव्य भी है ।

न

१—नरकगति

महान् पापी, घोर दुष्कर्मों, महा आरभी और महा परिग्रही जीव के लिये पाप कर्मों का फल भोगने का स्थान-विशेष । ऐसे स्थान सात कहे गये हैं । जहाँ अनंत भूत-प्यास के साथ अनन्त सर्पों गरमी के दुःख, एवं दूसरे नाना-प्रकार के दुःख भोगे जाते हैं ।

२—नवतत्त्व

तत्त्व की व्याख्या पहले लिखी जा चुकी है । ये तत्त्व नौ होते हैं, वे इस प्रकार हैं — १ जीव, २, अजीव, ३ पुण्य, ४ पाप, ५ आश्रय, ६ संवर, ७, निर्जरा ८, वय और ९ मोक्ष ।

३—नाम कर्म

जिस कर्म के कारण से, शरीर, इन्द्रियाँ, गति, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शरीर, वनावट, चाल, स्वर, आदि शारीरिक संपूर्ण व्यवस्था का योग प्राप्त होता है वह नाम कर्म है । जैसे चित्रकार संपूर्ण चित्र का निर्माण करता है, वैसे ही यह कर्म सभी प्रकार की शारीरिक वनावट का संयोग प्राप्त कराता है । इसके १०३ भेद कहे गये हैं ।

४—नियाणा

अपनी की हुई व्रत-क्रियाओं का, अपनी तपस्या का, अपने पुण्य का इच्छानुसार फल मांगना अथवा मनोनुकूल फल की वांछा करना नियाणा है । नियाणा करना पाप माना गया है ।

५—निर्ग्रथ

जिसके न तो आंतरिक रूप से मोह, कषाय आदि की गाँठ है और न बाह्य रूप से किसी भी प्रकार का परिग्रह जिसके पास है, अर्थात् जो बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार से गाँठ रहित है, वह सावृ निर्ग्रथ कहलाता है । श्रीव तपस्वी भगवान महावीर स्वामी का यह एक विशेषण भी है ।

६—निर्जरा

ऐसे पवित्र और सात्विक तथा धार्मिक काम, जिनसे आत्मा के माथ बने हुए पुराने कर्म दूर हो जाते हैं और आत्मा पवित्र हो जाती है। निर्जरा के १२ भेद कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं — १ अनशन, २ अनोदरता ३ वृत्तिसंक्षेप, ४ रस त्याग, ५ काय-क्लेश, ६ सलीनता, ७ प्रायश्चित्त, ८ विनय, ९ वैयावृत्य, १० स्वाध्याय, ११ ध्यान और १२ उत्सर्ग ।

७—निर्वद्व

वाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के झगड़ो, क्लेशो, और मोह-ममता से रहित होना। हर प्रकार से अनासक्त और मस्त रहना ।

८—निर्वेद

स्था-पुरुष सवन्धी भोगो की इच्छा का नहीं होना। पूर्ण ब्रह्मचर्य-भावना ही निर्वेद है ।

९—निरवद्य-योग

मन की, वचन की और काया की ऐसी प्रवृत्ति, जो कि निर्दोष हो। मन द्वारा, वचन द्वारा, और काया द्वारा ऐसे काम करना, जिनसे कि व्रतो में; सम्यक्त्व में, चारित्र्य में दोष नहीं आवे, वह निरवद्य योग है ।

१०—निष्काम भावना

जिन सुन्दर विचारों में किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा नहीं होती है, जो विचार-धारा मोह-ममता के कीचड़ से रहित होती है, जिस विचार-प्रवाह में एकान्त रूप से विश्व-हित की भावना ही प्रवाहित होती रहती है, उसे निष्काम-भावना कहते हैं ।

११—नो कषाय

जो स्वयं क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय की श्रेणी में तो नहीं है, किन्तु जो कषाय की श्रेणा को उत्तेजित करता है, कषाय की श्रेणी को वेग देता है और इस प्रकार कषाय का जाल छोटा भाई है, वही नोकषाय

है । नोकराय के ९ भेद हैं, वे इस प्रकार हैं:—१ हास्य २ रति ३ अरति ४ भय ५ शोक ६ जुगुप्सा ७ स्त्री वेद ८ पुरुष वेद ९ नपुंसक वेद ।

प

१—प्रकृति

(१) स्वभाव (२) संसार ।

२—प्रकृति बध

कषाय और योग के कारण से आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह मिलने के लिये आने वाले कर्म-पुद्गलो का जा तरह-तरह का स्वभाव भावनानुसार बनता है, वह प्रकृति बध है ।

प्रकृति बध के आठ भेद कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं

१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय ।

३—प्रत्यभिज्ञान

स्मृति के बल पर किसी प्रत्यक्ष पदार्थ के सम्बन्ध में जा जोड़ रूप ज्ञान होता है, वह प्रत्यभिज्ञान है । जैसे-यह वही तालाब है, जिसका कल देखा था, यह आदमी तो उस मनुष्य के समान है, इत्यादि ।

४—प्रतिक्रमण

जो व्रत, त्याग-प्रत्याख्यान, नियम, समय ग्रहण किये हो, उनमें जो कुछ भी दोष अथवा त्रुटी मूर्खता वश या प्रमाद वश आ गई हो तो व्रत आदि को निर्मल करने के लिये उन दोषों को खेद पूर्वक प्रकट करते हुए, पाप से निवृत्त होना और पुन दोष अथवा त्रुटी को नहा पैदा होने देने की भावना का पोषण करना ही प्रतिक्रमण है ।

५--प्रदेश-बंध

योग और कषाय के कारण से जब कर्म-परमाणु आत्मा की ओर दूध-पानी के समान मिलने के लिए आते हैं, उस समय आने वाले कर्म-परमाणुओं की जो तादाद अथवा समूह होता है, उसे ही प्रदेश बंध कहते हैं ।

मन, वचन और काया की शुभ अथवा अशुभ प्रवृत्ति प्रत्येक क्षण होती रहती है । निद्रा लेना भी एक प्रवृत्ति ही है, अतएव भावनानुसार कर्म-परमाणुओं का आगमन आत्मा की ओर प्रत्येक क्षण होता ही रहता है, और प्रत्येक क्षण- इनकी तादाद अनतानत की सख्या में हा होती है । इसी प्रकार जिन कर्म परमाणुओं का कार्य-काल समाप्त हो जाता है और प्रत्येक क्षण ऐसा होता ही रहता है, इनकी भी तादाद अनतानत रूप से ही होती है ।

इन प्रदेश बंध के परमाणुओं का आठ कर्मों के भिन्न २ स्वभाव के रूप में विभाजन भावनानुसार आत्मा के प्रदेशों के साथ मिलने के समय ही हो जाया करता है । इसी प्रकार इनकी कार्य-काल की अवधि और इनकी भावनानुसार फल देने की शक्ति, दोनों का निर्माण भी उसी समय आत्म-प्रदेशों के साथ मिलने के वख्त ही हो जाया करता है ।

६--प्रमाद

वार्षिक कार्यों के करने में यानी पर-सेवा के कामों में और अपने नैतिक उत्थान के कामों में वेपवाई करना, आलस्य करना और उन्हें निश्चित किये हुए समय में पूरा नहीं करना, “प्रमाद” कहलाता है ।

७--प्रशम

चित्त के विकारों पर नियंत्रण रखना, कोष, मान, माया और लोभ को काबू में करना, विषयो को दवाना तथा नैतिकता का जीवन में विकास करना ही “प्रशम” अवस्था है । सम्यक्त्व के मूल पाँच लक्षणों में से यह पहला लक्षण है ।

८--प्रायश्चित्त

लिए हुए व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, समय में जो कोई दोष अथवा झुटा प्रमाद वश अथवा मूर्खता वश आ गई हो तो उसको स्पष्ट तौर पर गुरु

जन के आगे विनय पूर्वक निवेदन करके उसके लिए क्षमा मागना और व्रत नियम आदि को पुनः पवित्र करने के लिए वे जो कुछ भी दंड दे, उसका सहर्ष पालन करना और आगे भविष्य में वैसे दोष पुनः नहीं करने की भावना करना ही प्रायश्चित्त है ।

९—पदार्थ

शब्दों द्वारा कही जा सकने वाली विस्तृत, जिसका शब्दों द्वारा वयान किया जा सके । “तत्त्व” शब्द का पर्यायवाची शब्द ।

१०—परमाणु

रूपवाला, रस वाला, गंध वाला, स्पर्श वाला आर पुद्गल का एक अंश । यह पुद्गल का इतना सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश है, कि जिसके यदि किसी भी प्रकार से टुकड़े करना चाहे, तो त्रिकाल में भी जिसके दो टुकड़े नहीं हो सके—ऐसा अति सूक्ष्म तम, स्वतंत्र पुद्गल का अंश परमाणु है ।

एक से अधिक परमाणुओं का समूह “देश” पुद्गल कहलाता है । एटम बम, और हाइड्रो एलेक्ट्रिक बम “देश” पुद्गलों के बने हुए होते हैं । देश-पुद्गलों से “परमाणु” पुद्गल को अलग करके केवल “परमाणु” पुद्गल से काम लेने की शक्ति वर्तमान विज्ञान को नहीं प्राप्त हुई है ।

सभी “देश-पुद्गलों” का सम्मिलित नाम “स्कन्ध” पुद्गल समूह है । यह समस्त लोकाकाश में फैला हुआ है ।

११—पर्याय

प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होने वाली नई नई अवस्था अथवा नया नया रूप ही “पर्याय” कहलाता है । छ ही द्रव्यों में प्रत्येक क्षण-द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से कुछ न कुछ फर्क पड़ता ही रहता है, कोई भी क्षण ऐसा नहीं होता कि जिस में कुछ न कुछ फर्क नहीं पड़े, इस प्रकार हर द्रव्य में उत्पन्न होने वाली हर अवस्था ही “पर्याय” है । सिद्धों में भी ज्ञान की पर्यायों में परिवर्तन होता ही रहता है । इसी लिये जगत् को “संसार याने परिवर्तन होते रहने वाला” यह सज्ञा दी गई है ।

१२—परिग्रह

इस के दो भेद हैं—१ भाव परिग्रह है, और दूसरा द्रव्य परिग्रह ।

ममता अथवा मूर्च्छा तो भाव परिग्रह है, और धन-धान्य, पशु-पक्षी; मोटर, मकान, दास-दासी, स्त्री-पुत्र, भाई बन्धु, सोना-चादी, और विभिन्न वैभव सामग्री द्रव्य परिग्रह है ।

१३—परिणाम

फल अथवा नतीजा ।

१४—परिषह

इच्छा पूर्वक लिये हुए व्रतो की रक्षा के लिये, नियम, तप, संयम की रक्षा के लिए और त्याग-प्रत्याख्यान का पवित्रता के साथ पालन करने के लिये जो कष्ट अथवा दुःख आकर पड़े उन्हें शांति के साथ और निर्मलता पूर्वक दृढ़ता के साथ सहन करना ही परिषह है । परिषहों का उत्पत्ति कुद-स्ती कारणों से, मनुष्यों से, पशुओं से और देवताओं से हुआ करती है । परिषह के कुल २२ भेद शास्त्रों में बतलाये गये हैं ।

१५—पत्योपम

काल का माप विशेष जा कि असंख्यात वर्षों का होता है ।

१६—पाप

बुरी बात, जिन बुरे कामों के करने से आत्मा मर कर तिर्यच गति में अथवा नरक गति में एव दुर्गति में जाता हो । पाप के मुख्य १८ भेद कहे गये हैं और इनका फल ८२ प्रकार से-अशुभ रीति से भागा जाता है ।

१७—पांच इन्द्रियाँ

शरीर, मुख, नाक आँख, और कान—ये पांच इन्द्रिया कहलाती हैं ।

१८—पुण्य

भले काम, नैतिकता पूर्ण काम । जिन कामों को करने से आत्मा को अच्छी गति मिले, सुख-सुविधा, यश, सन्मान आदि की प्राप्ति हो; वे काम

पुष्प कहलाते हैं। सक्षेप में पुष्प के ९ भेद किये गये हैं और उनका फल ४२ प्रकार से भोगा जाता है।

१९—पुद्गल

जो द्रव्य अजीव याने जड़ रूप होता हुआ रूप वाला, रस वाला, गंध वाला और वर्ण वाला हो, तथा जो मिलने बिगड़ने, सटने गलने वाला हो, ऐसा पदार्थ—पुद्गल कहलाता है।

हमें नेत्रों द्वारा जो कुछ भी दिखलाई पड़ रहा है, वह सब पुद्गल का ही रूपान्तर है। सूर्य, चन्द्र, तारा, धूप, प्रकाश, छाया, चादनी, शब्द, जल, पृथ्वी, हवा, वनस्पति, पहाड़, जीवों के शरीर, लोहा, साना, चादी, मिट्टी, सभी पुद्गल के ही विभिन्न रूप हैं। सारा स्थूल ब्रह्माण्ड पुद्गलों का ही बना हुआ है। उपरोक्त पदार्थों में विभिन्न जीव—समूह इन्हीं को शरीर बना कर रहते हैं। दृश्यमान सारा मसार पुद्गलों का ही बना हुआ है। पुद्गल तत्त्व को मुख्य रूप से चार भागों में बांटा है। १ स्कन्ध, २ देश, ३ प्रदेश, और ४ परमाणु।

विश्व—व्यापी पुद्गलों का संपूर्ण समूह “स्कन्ध” कहलाता है।

स्कन्ध के हिस्से “देश” कहलाते हैं। परमाणु का स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। देश अथवा स्कन्ध में मिला हुआ “परमाणु” जितना ही अश “प्रदेश” के नाम से बोला जाता है। स्वतंत्र अवस्था में जो परमाणु है, वही सम्मिलित अवस्था में “प्रदेश” के नाम से पुकारा जाता है।

२०—पूर्वधर

ऐसे ज्ञानी महात्मा और सत ऋषि, जो कि महान् ज्ञान के धारक हो। तीर्थंकरों और अरिहतों द्वारा फरमाये हुए विशाल और विस्तृत ज्ञान के धारक “पूर्वधर” कहलाते हैं।

ब

१ बंध

योग और कषाय के कारण से आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म—परमाणुओं का दूध पानी की तरह मिल जाना ही “बंध” कहलाता है। बंध के चार

भेद कहे गये हैं—१ प्रकृति-वध, २-प्रदेश-वध, ३ स्थिति-वध और ४ अन्त-भाग-वध, इनकी व्याख्या इसी कोष में यथास्थान पर दी जा चुकी है ।

२ बहुश्रुत

जिस ज्ञानी पुरुष का, शास्त्रों का वाचन, मनन, चिन्तन और विचारणा खूब ही गहरी, विस्तृत और प्रामाणिक हो, वह “बहुश्रुत” कहलाता है ।

३ वाल

विवेक और व्यवहार से हीन पुरुष, मूर्ख बुद्धि वाला और अनभिज्ञ पुरुष ।

४ वाल तप

“उपरोक्त स्थिति वाले वाल पुरुष” की तपस्या वाल तप कहलाती है । अज्ञान, अविवेक और मिथ्यात्व के आधार से वाल पुरुष की तपस्या “वाल-तप” ही है । वाल-तप शरीर को कष्ट देने वाला मात्र है, इससे आत्म-गुणों का विकास नहीं हो सकता है और न कर्मों की निर्जरा ही हो सकती है, अतएव शास्त्रों में इसे हेय, जघन्य और व्यर्थ कष्ट मात्र ही कहा गया है ।

भ

१ भव्य

जो जीव कभी भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का आराधन कर के मोक्ष जाने की स्वाभाविक शक्ति रखता हो, वह भव्य कहलाता है । भव्य प्राणी के लिये कभी न कभी एक दिन ऐसा अवश्य आता है, जब कि वह पूर्ण सम्यक्त्वी बन कर अवश्य ही मोक्ष में जाता है ।

किन्तु शास्त्रों में ऐसा भी उल्लेख है कि कई एक भव्य आत्माएँ ऐसी भी हैं, जो कि भव्य-गुण वाली होती हुई भी सम्यक्त्व-प्राप्ति का संयोग उन्हें नहीं मिलेगा, और इसलिये वे मुक्त भी नहीं हो सकेंगी ।

२ भाव

आत्मा में समय-समय पर होने वाली विभिन्न प्रकार की विचार-वाय ही “भाव” है । भाव के ५ भेद कहे गये हैं :—१ औपशमिक-भाव, २ क्षायिक-

भाव, ३ क्षायोपशमिक-भाव, ४ औदयिक-भाव और ५ पारिणामिक-भाव ।

१ कर्मों के शान्त रहने की हालत में आत्मा में पैदा होने वाले विचार “औपशमिक-भाव” है ।

२ कर्मों के क्षय हो जाने पर अथवा निर्जरा होने पर आत्मा में पैदा होने वाले विचार “क्षायिक-भाव” है ।

३ कुछ कर्मों के तो उपशम होने पर और कुछ के क्षय होने पर, इस प्रकार मिश्र स्थिति होने पर आत्मा में पैदा होने वाले विचार “क्षायोपशमिक-भाव” है ।

४ कर्मों के उदय होने पर, कर्मों द्वारा अपना फल दिये जाने के समय में आत्मा में पैदा होने वाले विचार “औदयिक-भाव” है ।

५ आत्मा की स्वाभाविक विचारधारा ही “पारिणामिक”-भाव है ।

३ भावाश्रय

आत्मा में उत्पन्न होने वाले अच्छे अथवा बुरे विचार ही, शुभ-अशुभ अध्यवसाय ही, इष्ट-अनिष्ट भावना ही “भावाश्रय” है ।

सात्त्विक, पवित्र और निर्दोष भावना से तो शुभ-भावाश्रय होता है और कषाय से, नो कषाय से, एव अनिष्ट विचार-धारा से अशुभ-भावाश्रय होता है ।

भावाश्रय के बल पर ही कर्म-परमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं और यही द्रव्याश्रय कहलाता है । शुभ द्रव्याश्रय से सुख-सामग्री और वैभव-विपुलता की प्राप्ति होती है, जब कि अशुभ द्रव्याश्रय से दुःख-दरिद्रता एवं वियोग-विपत्ति आदि की प्राप्ति हाती है ।

४ भावना

आत्मा के सुन्दर, सेवामय, अनासक्ति वाले और पवित्र विचार ही भावना कहलाते हैं । शुभ-ध्यान, शुभ-लेश्या, शुभ-अध्यवसाय, ममता-रहित परिणाम, अविचल ईश्वर-भक्ति आदि “भावना” के ही अन्तर्गत समझे जाते हैं ।

स्थूल रूप से भावना के ४ भेद और १२ भेद किये गये हैं, वे इस प्रकार हैं — १ मैत्री-भावना, २ प्रमोद-भावना, ३ करुणा-भावना और ४ माध्यस्थ-भावना ।

१ अनित्य, २ अक्षरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचित्व,
७ आत्मत्व, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लाक-स्वभाव, ११ बोधि-दुर्लभ और
१२ धर्म-भावना ।

५—भाव-शांति

अपनी आत्मा के गुणों में ही आनन्द अनुभव करना, आत्मा के विकास में
ही प्रफुल्लता की अनुभूति होना एवं सांसारिक सुख-सामग्री को हेय, तुच्छ
अनुभव करते हुए उसमें दुःख ही दुःख समझना भाव-शांति है । सांसारिक
सुख-शांति दृव्य-शांति है ।

६—भोग

जो वस्तु एक ही बार भोगी जा सके; जैसे—खाने पीने के पदार्थ, आदि ।

७—भौतिक-सुख

पुद्गलो मवधी सुख, इन्द्रियो सर्वधी सुख, और सब प्रकार का सांसा-
रिक सुख, भौतिक-सुख के ही अन्तर्गत है ।

म

१—मति ज्ञान

पाचो इन्द्रियों का महायता से और बुद्धि की सहायता से जो ज्ञान पैदा
होता है, वह मातज्ञान है । आज कल जितना भी सब प्रकार का साहित्यिक-
ज्ञान उत्पन्न हुआ है, और हा रहा है तथा होगा; वह सब मति ज्ञान के ही
अन्तर्गत समझा जाता है । मति ज्ञान के भेदानुभेद में ३६४ भेद किये गये हैं ।

२—मधुकरी

जैसे भवरा-प्रत्येक फूल से बिना उसे किसी भा प्रकार का कष्ट पहुँचाये
थोड़ा सा शहद (फूल का अण्ड) लेता है और इस प्रकार अनेकानेक फूलों
से—सहज रीति से ही अपनी इच्छा पूरी कर लेता है, वैसे ही अपने जीवन का
अतमय और आदर्श बनाने के लिये जो व्यक्ति थोड़ा थोड़ा बाहार-पानी,

वस्त्र आदि सहज भाव से सुविधा पूर्वक गृहस्थो से ग्रहण करता रहता है, इसें ही 'मधुकरी' कहते हैं ।

३—मन. पर्याय

आत्मा की शक्ति के आधार से ही विना इन्द्रियो और मन की मदद लिए ही दूसरो के विचारो को जान लेना, दूसरो के मन की भावनाओ को समझ लेना ही मन. पर्याय ज्ञान है । यह ज्ञान सिर्फ उच्च चारित्र वाले और दृढ शम्यक्त्वी-मुनिराजो मे से किसी किसी को ही उत्पन्न हुआ करता है । आज कल तो इतना उच्च कोटि का ज्ञान किसी को भी नहीं हो सकता है । इसके दो भेद हैं;—१-ऋजुमति मन पर्याय और २ विपुलमति मनः पर्याय ।

४ मनो-गुप्ति

मन की चंचलता को, अस्त-व्यस्तता को और बुरे विचार-प्रवाह को रोकना, एव इनके स्थान पर सद् विचारो के प्रवाह को प्रवाहित करना "मनोगुप्ति है ।"

५ ममता

किसी पदार्थ के प्रति भेरापन रखना, कुटुम्बी-जनो के मोह में अंधा हो जाना, बाह्य आदर-प्रतिष्ठा-यश-सन्मान-पद की इच्छा रखना और अपने स्वार्थ को ही सब कुछ समझना "ममता" है ।

६ महात्मा

जिसकी आत्मा बुराईयो से और पापो से रहित हो गई हो और जिसके सारे जीवन का समय, प्रत्येक क्षण, परोपकार में, पर-कल्याण मे, पवित्र विचारो में तथा ईश्वर की भक्ति में ही व्यतीत होता हो, वही महात्मा है ।

७ महाव्रत

* जीवन भर के लिये जिस व्रत का परिपालन मन, वचन और काया की पूरी-पूरी सलग्नता के साथ किया जाता हो, कराया जाता हो और कराने की अनुमोदना की जाती हो, ऐसा व्रत "महाव्रत" कहलाता है ।

महाव्रत के पालक “साधु-अथवा साध्वी” ही होते हैं। महाव्रत की साधना तीन करण और तीन योग (मन, वचन, काया से पालना, पलवाना और ऐसी ही अनुमोदना करना) से की जाती है। महाव्रत ‘सर्वविरति’ रूप होता है। इसके पांच भेद हैं — १ पूर्ण अहिंसा २ पूर्ण सत्य ३ पूर्ण-अचौर्य ४ पूर्ण ब्रह्मचर्य और ५ पूर्ण अनासक्त याने निष्परिग्रह।

८—माया

कष्ट, कषाय के चार भेदों में से तीसरा भेद अधिक व्याज लेना, अधिक मुनाफा खोरी ‘माया’ के ही अन्तर्गत है। माया से अक्सर तिर्य्यचगति की प्राप्ति हुआ करती है।

९—मिथ्यात्व

“आत्मा, ईश्वर, पुण्य, पाप” आदि मूलभूत सिद्धान्तों पर जिसका विश्वास बिल्कुल ही न हो, जो इनको केवल ढकोसला समझता हो तथा जिसका ध्येय एक मात्र ससार-सुख को ही भोगना हो वह मिथ्यात्वी कहलाता है और उसकी विचार-धारा मिथ्यात्व कही जाती है।

१०—मिथ्या दृष्टि

जिस आत्माका दृष्टि कोण ऊपर लिखे गये “मिथ्यात्व” की ओर सलग्न हो वह ‘मिथ्या दृष्टि’ कहलाता है।

११—मुक्त

जो आत्मा आठों कर्मों से रहित हो गई हो, जिसमें परिपूर्ण रीति से आत्मा के सभी गुणों का पूरा पूरा विकास हो गया हो और जैन मान्यता-नुसार जो स्वयं ईश्वर रूप हो गई हो वह आत्मा “मुक्त” कही जाती है।

मुक्त आत्मामें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त निर्मलता, निराकारता अनन्त आत्मिक सुख, अखंड अमरत्व, सर्वोच्च विशेषता और निराबाध स्थिति की उत्पत्ति हो जाती है यही ईश्वरत्व है। इस स्थिति को प्राप्त करना हर सांसारिक आत्मा का अंतिम ध्येय है।

१२—मुनि

जा परमार्थी पुरुष अपनी इन्द्रियों और मन पर पूरा पूरा नियंत्रण रखता हुआ, अहिंसा, सत्य, अचाय, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह धर्म का परिपूर्ण राति से पालन करता है, वही “मुनि” है। “ईश्वर-प्राप्ति” नामक साधना का साधक महापुरुष ही मुनि कहलाता है।

१३—मुमुक्षु

मोक्ष की इच्छा करने वाला और मक्ष-पथ का पथिक ही मुमुक्षु है। कपाय-भावना से छुटकारा चाहने वाला “मुमुक्षु” कहा जाता है।

१४—मूढ

जो पुरुष मन ही मन में विषयो का चिन्तन करता रहता है, चित्त द्वारा भोगों की प्राप्ति की इच्छा करना रहता है, वह मूढ है।

१५—मूर्च्छा

विषयो के प्रति अन्वा हो जाना, मोह में डूब जाना, यही “मूर्च्छा” का लक्षण है।

१६—मोह

आत्मा में रहे हुए मुख्य और मूल गुणों को जो कपाय नष्ट कर देता है, वही “मोह” है। सभी कपायों का और विषय-विकारों का सम्मिलित नाम “मोह” ही है।

१७—मोहनीय कर्म

जैसे मदिरा मनुष्य को बेभान कर देती है, स्थान भ्रष्ट करके इधर उधर लुटका देती है, वैसे ही यह कर्म भी हर आत्मा का विषयो में, विकारों में और कपायों में जकड़ देता है। इस कर्म के कारण से आत्मा का चारित्र्य और आत्मा की भावनाएँ पाप पूर्ण हो जाती हैं। इसके बलपर आत्मा भोगों में फँस जाती है। इसके मुख्य दो भेद हैं—१ दर्शन माहनीय और २ चारित्र्य

मोहनीय ।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद पहले लिखे जा चुके हैं । चारित्र मोहनीय के “१६ प्रकार के कषाय और ९ प्रकार के नो कषाय” इस प्रकार कुल २५ भेद होते हैं ।

१८—मोक्ष

आत्मा का आठो कर्मों से छूट जाना ही और पुन कर्मों से लिप्त नहीं होना ही मोक्ष है । आठो कर्मों के क्षय से आत्मा में सभी प्रकार के मूल गुण अपने सर्वोच्च रूप में विकसित हो जाते हैं । तथा सभी प्रकार के सांसारिक झझट और सभी प्रकार के दुर्गुण हमेशा के लिये आत्मा से अलग हो जाते हैं । पूर्ण ईश्वरत्व-प्राप्ति ही “मोक्ष-अवस्था” है ।

मोक्ष-प्राप्ति अथवा ईश्वरत्व-प्राप्ति प्रत्येक आत्मा का स्वाभाविक अर्घि-कार है; तदनुसार हर आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन, चारित्र द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकती है ।

य

१—यतना

विवेक पूर्वक और सावधानी के साथ जीवन-व्यवहार चलाना, यतना है । अपने कर्तव्य का ध्यान रखते हुए, अपने उत्तरदायित्व को स्मृति में रखते हुए और अपनी पद-मर्यादा का ख्याल रखते हुए जीवन-व्यवहार चलाना “यतना” है ।

२—यथाख्यात चारित्र

क्रोध, मान, माया और लोभ; इन चारो कषायों के सर्वथा उपशम होने पर जिस सर्वोच्च चारित्र की प्राप्ति होती है, वह यथाख्यात चारित्र है । ग्यारहवें गुणस्थान में वर्तमान आत्मा को औपशमिक यथाख्यात चारित्र होता है; और १२ वे, १३ वे; तथा १४ वे गुणस्थान में वर्तमान आत्मा का क्षायिक यथाख्यात चारित्र होता है । पाचो चारित्रों में से यही चारित्र सर्वोच्च और श्रेष्ठ है ।

३—योग-प्रवृत्ति

मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों का सम्मिलित नाम “योग-प्रवृत्ति” है। इनकी शुभ-प्रवृत्ति हो तो “शुभ-योग-प्रवृत्ति” और इनकी अशुभ-प्रवृत्ति हो तो “अशुभ योग-प्रवृत्ति” कही जाती है।

योग के मुख्य तीन भेद हैं—१ मनो योग, २ वचन योग और ३ काया योग। इनके पुन उपभेद १५ होते हैं। (१) सत्य मन योग; (२) असत्य मन योग, (३) मिश्र मन योग; (४) व्यवहार मन-योग। (१) सत्य भाषा, (२) असत्य भाषा, (३) मिश्र भाषा, और (४) व्यवहार भाषा (१) औदारिक योग, (२) औदारिक मिश्र योग, (३) वैक्रिय योग (४) वैक्रिय मिश्र योग (५) आहारक योग, (६) आहारक मिश्र योग (७) कर्मण योग।

र

१—रत्न त्रय

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र्य का सम्मिलित नाम “रत्न-त्रय” है।

“आत्मा, ईश्वर, पुण्य पाप” आदि मूल भूत सिद्धांतों पर पूरा पूरा विश्वास करना और सासारिक-सामग्री को अनित्य और अत में दुख देने वाली विश्वास करना सम्यक् दर्शन है।

“सम्यक्-दर्शन” के अनुसार ही जगत् का तथा आत्मिक-सिद्धान्तों का ज्ञान करना अथवा स्वरूप समझना “सम्यक् ज्ञान” है।

“सम्यक् दर्शन” और “सम्यक् ज्ञान” के अनुसार ही अपने जीवन का व्यवहार रखना; जीवन का आचरण रखना, तथा इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार अपने आचरण का क्रमिक विकास करते हुए सर्वोच्च स्थिति को पहुँचना ही “सम्यक् चारित्र्य” है।

सम्यक् दर्शन होने पर ही “ज्ञान और चारित्र्य” की गणना सम्यक् रूप से होती है; अन्यथा-सम्यक् दर्शन के अभाव में “मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र्य” समझा जाता है।

इन तीनों का सम्मिलित रूप से विकास होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हुआ करती है, किसी भी एक के अभाव में मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता है ।

२—रति

मोह के वश से इष्ट पदार्थों में; प्रिय पदार्थों में प्रेम रखना, उनकी वाछा करना, रति है । विषयो से सवधित भौतिक-सुख में उत्सुकता रखना “रति” है । यह नोकषाय का एक भेद है ।

३—रस

इन्द्रियो और मन द्वारा भोगे जाने वाले सासारिक-सुख में जो “एक सुख रूप अनुभूति” होती है, वह रस है । खाने, पीने, देखने, सूँघने, के पदार्थों में तथा स्त्री-पुरुष को परस्पर में और सासारिक विचार-धारा में, इन्द्रियो द्वारा तथा मन द्वारा जो सुख अथवा आनन्द का अनुभव होता है, उसे ही “रस” कहते हैं । स्थूल रूप से “रस” के पाच भेद दूसरे भी कहे गये हैं, वे ये हैं—(१) तीखा (२) कड़ुआ (३) कषायला (४) खट्टा और (५) मीठा ।

४—राग

माया और लोभ के सम्मिलित संयोग से आत्मा में जो विचार-धारा उत्पन्न होती है, वही “राग” है । इन्द्रियो के तथा मन के इष्ट एवं प्रिय पदार्थों में जो एक प्रकार का मोह-भाव, अथवा उत्सुकता भाव या वाछा-भाव पैदा होता है, वही “राग” भाव है ।

राग-भाव में कपट और लालच का समिश्रण रहता है ।

५—राजस्

गृहस्थाश्रम और राज्य-व्यवस्था को चलाने के समय में जिस ढंग की मनोवृत्ति होती है, तथा जैसा जीवन का आचरण होता है, एवं जैसी जैसी कषाय की प्रवृत्ति होती है, वह सब “राजस्” भावना के अन्तर्गत समझा जाता है । प्रकृति से सम्बन्धित सासारिक आत्मा के वैदिक साहित्य में तान गुण बताये गये हैं:—१ तामस्, २ राजस् और (३) सात्त्विक ।

कृष्ण लेश्या वाला और नील लेश्या वाला “तामस्” प्रकृति का होता है । कापोत लेश्या वाला और कुछ कुछ तेजो लेश्या वाला “राजस्” प्रकृति का होता है । इसा प्रकार कुछ कुछ तेजा लेश्या वाला और पद्म लेश्या वाला “सात्त्विक” प्रकृति का होता है ।

जा आत्मा “राजस्, तामस् और सात्त्विक”, तीनों गुणों अतीत होता है, इनसे रहित हो जाना है, वह जैन-परिभाषा में “शुक्ल लेश्या” वाला कहा जाता है, जिसे वेदान्त में “परब्रह्म” कहते हैं ।

६—राजू

दूरी आर विस्तीर्णता मापने का एक माप दंड, जो कि करोडों और अरबों माइलों वाला होता है । खगोल विज्ञान वाले जैसे आलोक-वर्ष” नामक दूराका माप-दंड निर्धारित करते हैं, वैसा हा किन्तु उससे ज्यादा बड़ा यह माप-दंड है । विशेष उल्लेख इसी पुस्तक की भूमिका में देखे ।

७—रूप

(१) सौन्दर्य,

(२) पुद्गलो का एक घर्म, जो कि आखों आदि इन्द्रियों द्वारा अथवा ज्ञान द्वारा देखा जाता है और जाना जाता है ।

(३) रूप के ५ भेद किये गये हैं :—

(१) काला, (२) नीला, (३) लाल, (४) पीला और (५) सफेद ।

इन पाँचों के समिश्रण से सैंकड़ों प्रकार का रूप-रंग तैयार किया जा सकता है ।

८—रूपी

रूप वाला, केवल पुद्गल ही रूपी होता है, बाका के सब द्रव्य रूप रहित ही होते हैं । रूपी दो प्रकार के होते हैं —

१ स्थूल रूपी २ सूक्ष्म रूपी ।

जो पुद्गल आखों आदि इन्द्रियों द्वारा देखा जा सके, वह तो स्थूल रूपी है, और जो पुद्गल आखों आदि इन्द्रियों द्वारा नहीं देखा जाकर केवल आत्मा की

व्याख्याकोष]

शक्ति से ही याने अवधि ज्ञान, मन पर्याय ज्ञान, और केवल ज्ञान द्वारा जाना जा सकता हो, वह सूक्ष्म रूपी होता है ।

पहाड, नदी, सूर्य, चन्द्र, तारे, वृक्ष, जल, अग्नि, हवा, वनस्पति, शब्द, गंध, खाने पीने की वस्तुएं, मिट्टी, छाया वृष, आदि तो स्थूल रूपी पुद्गल हैं; और कर्म परमाणु, आहारक शरीर परमाणु, तैजस शरीर परमाणु इत्यादि त्रिभिन्न प्रकार के परमाणु सूक्ष्म रूपी पुद्गल कहलाते हैं ।

९—रौद्र ध्यान

हिंसा, निर्दयता, जुल्म, अत्याचार, शोषण, भयकरता आदि दुष्ट आचरणों और नीच कृत्यों का ध्यान करना, इनका विचार करना रौद्र ध्यान है !

ल

१—लक्षण

जिस विशेष चिह्न के आधार से किसी की पहिचान की जाय, जो विशेष चिह्न उसी पदार्थ में पाया जाय तथा अन्य में नहीं पाया जाय, ऐसे असाधारण धर्म को—विशेष चिह्न को “लक्षण” कहा जाता है, जैसे कि आत्मा का लक्षण ज्ञान, पुद्गल का लक्षण रूप, अग्नि का लक्षण उष्णता आदि ।

२—लालसा

तीव्र इच्छा । ऐसी महती अभिलाषा कि जिसकी पूर्ति करने के लिये व्यग्र हो जाना । ऐसी असाधारण कामना कि जिसको परिपूर्ण करने के लिये अग्र हो जाना ।

३—लेश्या

योग और कषाय के संयोग से आत्मा में जो विचारों की विशेष-विशेष तरंग उत्पन्न हुआ करती है उन्हें ही लेश्या कहते हैं । यदि कषाय की कलुषित अवस्था बहुत ही तीव्र और भयानक हुई तो लेश्या की तरंगें भी बहुत ही अतिवृद्ध और विकृष्ट होंगी । इसके विपरीत यदि कषाय की स्थिति सर्वथा नहीं

रही और केवल योग की सर्वोच्च अवस्था ही रही तो उस समय लेश्या की तरंगें अत्यंत विशुद्ध और प्रगस्त ही होगी । योग और कषाय के अभाव में लेश्या का भी अभाव हो जाता है ।

लेश्या के ६ भेद हैं — १ कृष्ण २ नील ३ कापोत ४ तेजो ५ पद्म और ६ शुक्ल ।

१ कृष्ण लेश्या में हिंसा, क्रोध, द्वेष, निर्दयता, वैर और दुष्टाचरण की प्रधानता होती है ।

२ नील में आलस्य, मद बुद्धि, माया, भोग-भावना, कायरता और अहंकार की प्रधानता होती है ।

३ कापोत में शोक, पर निन्दा एवं कषाय की स्थिति बराबर बनी रहती है । कषाय का दबाव अपेक्षाकृत कम हो जाता है ।

४ तेजो लेश्या में विद्या, प्रेम, दया, विवेक, हिताहित की समझ और सहानुभूति की भावना रहती है ।

५ पद्मलेश्या में क्षमा, त्याग, देव-गुरु-धर्म में भक्ति, निष्कपटता और सदैव प्रसन्न भावना बनी रहती है ।

६ शुक्ल लेश्या में राग द्वेष का सर्वथा विनाश हो जाता है, शोक और निन्दा से परे स्थिति हो जाती है एवं परमात्म-भाव के दर्शन हो जाते हैं ।

प्रथम तीन लेश्याओं में कषाय की स्थिति न्यूनाधिक रूप से बराबर बनी रहती हैं जबकि चौथी और पाचवी लेश्या में कषाय का क्षय और उपशम अच्छी मात्रा में प्रारम्भ हो जाता है

छठी लेश्या में कषाय का सर्वथा क्षय हो जाता है ।

४—लोक

जहाँ तक छ द्रव्यों की स्थिति है, वह सारा क्षेत्र लोक कहलाता है । लोक की लंबाई में ऊँचे से नीचे तक १४ राजू तक की मर्यादा कही गई है, क्योंकि चौड़ाई में केवल सात राजू तक की मर्यादा बतलाई है । इस क्षेत्र-फल के अतिरिक्त शेष आकाश में छ द्रव्यों का अभाव है अतएव उसे लोक

नहीं कहकर अलोकाकाश की संज्ञा दी गई है जो कि शून्य रूप ही है और जिसके क्षेत्रफल की मर्यादा का माप कोई भी यहाँ तक कि ईश्वर भी नहीं निकाल सकते हैं उसका क्षेत्रफल अनंतानंत राजू प्रमाण है ।

लोक के तीन भाग किये गये हैं :—उच्च लोक, मध्य लोक और नीचा-लोक ।

५—लोकाकाश

आकाश लोक और अलोक दोनों स्थानों पर हैं ! लोक मर्यादित आकाश को अथवा छ' द्रव्यों से संयुक्त आकाश को लोकाकाश कहते हैं और छः द्रव्यों से रहित आकाश को अलोकाकाश कहा जाता है । लोकाकाश के द्रव्यों का एक भी परमाणु अथवा प्रदेश अलोकाकाश में नहीं जा सकता है, क्योंकि घर्मास्तिकाय का वहाँ पर अभाव होने से किसी भी दशा में गति अथवा स्थिति नहीं हो सकती है ।

व

१—व्यामोह

कपाय और मोह के उदय से जीव की ऐसी मूर्च्छित अवस्था जिसमें कि केवल भोगों का ही ध्यान रहे, पुद्गल-सवधी सुखों का ही ख्याल रहे और आत्मा के हिताहित का विचार सर्वथा ही नहीं रहे ।

२—वचन गुप्ति

भाषा के ऊपर नियन्त्रण रखना, घातक और अनिष्ट भाषा का परित्याग करते हुए शिष्ट, मधुर और सत्य एवं आवश्यक भाषा ही बोलना, वचन-गुप्ति है ।

३—वाचाल

बहुत बोलने वाला । आवश्यकता और अन-आवश्यकता का ख्याल नहीं रखते हुए बहुत अधिक बोलने वाला ।

४—वासना

कपाय के कारण से आत्मा में जो अनिष्ट और नाचें आदतों की जड़ें जमे

जाती है, आत्मा में जो कुसंस्कार दृढीभूत हो जाते हैं, उन्हें ही “वासना” शब्द द्वारा पुकारा जाता है ।

५—विकथा

जो कथा नैतिकता, चारित्र्य, और उच्च आचरण के विरुद्ध हो, जिस कथा के कहने से नैतिकता, चारित्र्य और उच्च आचरण में दोष आता हो अथवा पतन की शुरुआत होती हो, उसे “विकथा” कहते हैं । “विकथा” विपरीत कथा, घातक कथा ।

विकथा के चार भेद कहे गये हैं :— १ स्त्री विकथा, २ भोजन विकथा ३ देश विकथा और ४ राजविकथा ।

६—विकार

अच्छी वात में बुरी वात का पैदा हो जाना ही “विकार” कहलाता है । सम्यक् दर्शन का विकार “मिथ्या दर्शन” है, सम्यक्-ज्ञान का विकार “मिथ्या-ज्ञान” है और सम्यक् चारित्र्य का विकार “इन्द्रिय-भाग, कषाय का उदय, और सासारिक सामग्री में ही शक्ति का अपव्यय करना” है । इन्द्रियो के भोग पदार्थों के लिहाज से विकारों के भेद २४० कहे गये हैं ।

७—विपाक-शक्ति

कषाय के कारण से कर्मों में जो फल देने की शक्ति पैदा होती है, उसे ही विपाक शक्ति कहते हैं ।

जिस तरह कोई लड्डू ज्यादा मीठा होता है और कोई थोड़ा, कोई अधिक कड़वा होता है तो कोई कम, इसी प्रकार कोई ज्यादा तीखा होता है तो कोई अल्प, इत्यादि अनेक प्रकार के रस वाले होते हैं, उसी तरह से वधे हुए कर्म-परमाणुओं में भी अनेक तरह का फल अथवा रस देखा जाता है, किसी का रस-फल ज्यादा शुभ देखा जाता है, तो किसी का कम, किसी का रस-फल अधिक अशुभ देखा जाता है, तो किसी का अल्प । इत्यादि रूप से कर्मों की जो फल-शक्ति है, वही “विपाक-शक्ति” के नाम से पुकारी जाती है । कर्मों के मूल भेद आठ कहे गये हैं, तदनुसार “विपाक-शक्ति” भी आठ प्रकार की है ।

८—विरक्त

जो आत्मा-इन्द्रियो के भोगों से, और सासारिक सुखों से, तथा मोह को पैदा करने वाली बातों से अथवा वातावरण से दूर ही रहे, वह “विरक्त” कहलाता है ।

९—वियोग

किसी भी वस्तु का एक बार अथवा अधिक बार सयोग होकर, तत्पश्चात् उसका सवध छूट जाना, “वियोग” कहलाता है सवध-विच्छेद ही “वियोग” है ।

१०—विराघना

नीर्यकर, गणधर, स्थविर, आचार्य, बहुश्रुत आदि की आज्ञा के विपरात चलना, शास्त्र-मर्यादा के खिलाफ आचरण का रखना “विराघना” है ।

विराघना मिथ्यात्व का ही रूप है, जो कि आत्मा के लिये अहितकर है ।

११—विवेक

हित और अहित का भान होना, अच्छे और बुरे की पहचान होना, व्यवहार योग्य और अव्यवहार योग्य बातों का ज्ञान होना ।

१२—विषय

इन्द्रियों के भोग और परिभोग पदार्थ ही विषय कहलाते हैं । मन द्वारा भोग और परिभोग पदार्थों की जो मधुर कल्पना और भोग-कल्पना की जाती है, वही इस संबंध में “मन का विषय” कहा जा सकता है इन्द्रियों के विषय इस प्रकार हैं —

१—कान के लिये.—जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द ।

२—आंख के लिये.—देखी जाने वाली वस्तुओं का रूप—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद । नाटक आदि का अन्तर्गत इसमें हो गया है ।

३—नाक के लिये.—सुगंध और दुर्गंध ।

४—जिह्वा इन्द्रिय के लिये.—खट्वा, मीठा; कड़वा, कपायला और चीखा ।

५—शरीर के लिये :—ठंडा, गरम, रुखा, चिकना; भारी, हलका, खर-दरा और सुहाला । इस प्रकार पाचो इन्द्रियों के कुल २३ विषय हैं ।

१३—वीतरागता

वीतरागता के दो भेद हैं; १ औपशमिक वीतरागता और २ क्षायिक वीतरागता ।

जहाँ मोहनीय कर्म के २८ ही भेद, याने दर्शन मोहनीय के ३, कपाय के १६ और नो कपाय के ९, इस प्रकार कुल २८ ही प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से आत हो जाय; उस अवस्था को औपशमिक वीतरागता कहते हैं, और यह अवस्था ११ वे गुणस्थान की मानी जाती है ।

जहाँ उपरोक्त २८ ही प्रवृत्तियों का जड़ मूल से आत्यंतिक क्षय हो जाता है, जो फिर कभी भी पुनः उत्पन्न होने वाली नहीं है, ऐसी क्षायिक अवस्था को “क्षायिक वीतरागता” कहते हैं । यह अवस्था बारहवे गुणस्थान से प्रारंभ हो जाती है जो कि मोक्ष-प्राप्ति के बाद भी बराबर कायम रहती है । क्षायिक वीतरागता ही अरिहत अवस्था है, जो कि सिद्ध अवस्था के रूप में परिणित हुआ करती है । औपशमिक-वीतरागता अस्थायी होती है;—जो कि शीघ्र ही पुनः कर्मों के उदय होते ही अवीतरागता के रूप में परिणित हो जाती है ।

राग और द्वेष पर विजय प्राप्त करना ही वीतरागता है । माया और लोभ से राग की उत्पत्ति होती है; तथा क्रोध और मान से द्वेष की उत्पत्ति हुआ करती है ।

१४—वीतराग समय

बारहवे गुणस्थान में रहे हुए आत्मा का संयम औपशमिक वीतराग समय है । तथा बारहवे, तेरहवे और चौदहवें गुणस्थान में रहे हुए आत्मा को

का संघम क्षायिक वीतराग समय है। वीतराग-समय का ही दूसरा नाम “यथाख्यात चारित्र” है।

११—वृत्ति

व्यवहार अथवा स्वभाव।

१६—वेतरणी नदी

नरक से संबन्धित नदी; जिसके लिये उल्लेख है कि, जिसमें खून, पीड़ा, हड्डी, मांस आदि दुर्गन्धित और बीभत्स पदार्थ ही भरे पड़े हैं, जिसके जलस्तर प्राणी बहुत ही तीक्ष्ण पीड़ा पहुँचाने वाले हैं! और जिसको पार करते समय पापी जीव को नाना विधि घोर कष्ट एवं तीक्ष्ण पीड़ाएँ सहन करनी पड़ती हैं।

१७—वेदनीय-कर्म

जिस कर्म के कारण से ससार में जीव को सुख-अनुभव करने का अथवा दुःख-अनुभव करने का प्रसंग प्राप्त हो, वह वेदनीय कर्म है।

इसके दो भेद हैं, १ साता वेदनीय और २ असाता वेदनीय।

१८—वैभव

सभी प्रकार की विशाल और विस्तृत पैमाने पर सासारिक सुख-सम्पत्ति, धन, मकान, यश आदि वैभव के ही अन्तर्गत है।

श

१—शब्द

कान इन्द्रिय का विषय है, यह शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है। यह पौद्गलिक है, रूपी है, अनित्य है। क्षण भर से सम्पूर्ण लौकिक में फैल जाने की शक्ति रखने वाला है।

२—श्रद्धा

“विश्वास” के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सम्यक् दर्शन और अज्ञान का एक ही अर्थ होता है। “आत्मा, ईश्वर, प्राण, पुण्य” आदि मूल-तत्त्व आस्तिक सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास करना श्रद्धा है।

श्रद्धा के पांच लक्षण हैं—१ प्रशम, २ सवेग, ३ निर्वेद, ४ अनुकंपा, और ५ आस्तिकता ।

३—श्रावक

जो मनुष्य श्रद्धा के साथ जिन वचनों को सुनता हो, उन पर विश्वास करता हो तथा शक्ति के अनुसार व्रत-नियमों की परिपालना करता हो, और अपनी श्रद्धा को निर्दोष रखता हो, वही श्रावक कहलाता है । श्रावक के १२ व्रत और २१ गुण होते हैं ।

४—श्राविका

“श्रावक” शब्द में उल्लिखित गुणों वाली और वैसी ही श्रद्धा वाली कथा तदनुसार आचरण करने वाली, महिला, “श्राविका” है ।

५—शील

“ब्रह्मचर्य धर्म” शील कहलाता है । मन, वचन, और काया से, शुद्ध और निर्दोष ब्रह्मचर्य पालना ही शील है ।

६—श्रुत-ज्ञान

शास्त्रों के सुनने से, विविध साहित्य के पढ़ने से, चिन्तन से मनन से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह श्रुत ज्ञान है । चौदह पूर्वों का ज्ञान भी श्रुत ज्ञान के ही अन्तर्गत है । आज कल का उपलब्ध संपूर्ण ज्ञान, मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान के ही अन्तर्गत आता है ।

७—शुक्ल-ध्यान

सर्व श्रेष्ठ ध्यान, इस ध्यान में केवल विशुद्ध आत्म तत्त्व का और ईश्वर तत्त्व का एव तटस्थ भाव से लोक का गभीर, अनुभव एव चिन्तन मनन होता है । स्थितप्रज्ञरूप से और अनासक्त भाव से असाधारण सुन्दर विचारों का प्रवाह चलता रहता है । सुक्लकोटि के महात्मा का ही इस ध्यान का प्राप्ति हो सकती है । इसके ४ भेद कहे गये हैं—१—पृथक्

व्याख्या कोष]

वितर्क सविचारे, २ एकत्व वितर्क अविचार, ३ सूक्ष्म क्रिया-अप्रतिपाति और ४ व्युपरत क्रिया अनिवृत्ति ।

८—शुभ-ध्यान

श्रेष्ठ, आदर्श, सात्त्विक विचार-प्रवाह को शुभ-ध्यान कहते हैं । धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान को “शुभ-ध्यान” के अन्तर्गत गिना जा सकता है ।

९—शुभ-योग

मन, वचन, और काया की अच्छी प्रवृत्ति को, निर्दोष भाषा-शैली को और सात्त्विक विचारों को ही शुभ योग कहते हैं । मन शुभ योग, वचन शुभ योग, और काया शुभ-योग, ये तीन इसके भेद कहे जाते हैं ! शुभ-योग का विस्तृत और विकसित रूप ही पाच समिति एव तीन गुप्ति है ।

१०—शुभ-लेश्या

“लेश्या” का स्वरूप पहले लिखा जा चुका है । छ लेश्याओं में से कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्याएँ तो अशुभ हैं और तेजो, पद्म आर शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएँ कही जाती हैं ।

ष

१—षट्-काय

पृथ्वी काय, अप काय, तेज काय, वायु काय, वनस्पति काय और अस्त्र काय, ये षट्-काय कहलाते हैं । प्रथम से पाँचवें तक एकेन्द्रिय जीव ही हैं । इनके केवल शरीर ही होता है । अस्त्र काय में दो इन्द्रिय जीव से पाँच इन्द्रिय वाले जीवों की तथा मन सञ्ज्ञा वाले जीवों की गणना की जाती है ।

२—षट् द्रव्य

- १ घर्मास्तिकाय, २ अघर्मास्तिकाय,
- ३ आकाशास्तिकाय, ४ काल द्रव्य,
- ५ जीवास्तिकाय, और ६ पुद्गलास्तिकाय ।

इन छ. ही द्रव्यों का समूह “षट्-द्रव्य” कहलाता है। इन छ. ही द्रव्यों की सामान्य परिभाषा यथास्थान पर इसी कोश में दे दी गई है।

स

१—सम्यक्त्व

नव तत्त्वों पर, षट्-द्रव्यों पर, जिन-वचनों पर, एवं “आत्मा, ईश्वर, पुण्य, पाप” आदि आस्तिक सिद्धान्तों पर पूरा पूरा विश्वास करना ही सम्यक्त्व है !

सम्यक्त्व के साधारण तौर पर दो भेद हैं—

१. व्यवहार सम्यक्त्व (२) निश्चय सम्यक्त्व ! निश्चय सम्यक्त्व के पांच भेद हैं:—

१ सास्वादन सम्यक्त्व, २ औपशयिक—सम्यक्त्व, ३ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, ४ वेदक सम्यक्त्व और ५ क्षायिकसम्यक्त्व ।

(१) बाह्य लक्षणों को देखकर याने किसी के देव, गुरु और धर्म के प्रति विश्वास को देख कर उसके विश्वास को सम्यक्त्व के नाम से कहना—व्यवहार सम्यक्त्व है !

(२) निश्चित और निश्चय रूप से देव, गुरु और धर्म पर विश्वास होना; अचल और अडोल श्रद्धा होना—निश्चय सम्यक्त्व है ।

(३) उपशम सम्यक्त्व से गिरते समय एव मिथ्यात्व का ओर आते समय; जब तक मिथ्यात्व नहीं प्राप्त हो जाय, तब तक मध्यवर्ती समय में जीव के जो परिणाम होते हैं—उसे ही सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं ।

(४) अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया और लोभ, सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय, इन सात मोहनीय प्रकृतियों के उपशम से होने वाले जीव के परिणाम को औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं ।

(५) उपरोक्त सातों प्रकृतियों में से कुछ के उपशम होने पर एव कुछ के क्षय होने पर जो परिणाम जीव के होते हैं, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं ।

(६) क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व क्षण में जो परिणाम जीव के होते हैं; उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं ।

(७) उपरोक्त सातो प्रकृतियों का जड़ मूल से नाश होने पर ग्राने आत्यंतिक क्षय होने पर, जो परिणाम जीव के होते हैं, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं ।

२—सम्यक् दर्शन

जो सम्यक्त्व की व्याख्या है, वही व्याख्या सम्यक् दर्शन की भी समझना चाहिये । सम्यक् दर्शन दो प्रकार से पैदा होता है — (१) स्वभाव से (२) परनिमित्त से !

(१) अनन्त काल से यह जीव नाना जीव-योनियों में भटक रहा है और अनन्त दुःख उठाता रहा है, तदनुसार भटकने से और दुःख उठाने से कर्मों की निर्जरा होती रहती है, और इस कारण से दैव-योग से माहनीय कर्म के हल्का पड़ जाने पर जीव को बिना प्रयत्न के ही धर्म-मार्ग की रुचि और श्रद्धा पैदा हो जाया करती है, यही स्वभाव जनित सम्यक् दर्शन है ।

(२) पर के उपदेश से, पर-प्रेरणा से; सासारिक अनित्य पदार्थों को देख कर उन द्वारा उत्पन्न वैराग्य से, आदि कारणों से जो सम्यक् दर्शन पैदा होता है, वह पर-निमित्त जनित सम्यक् दर्शन है ।

३—सम्यक् ज्ञान

सम्यक् दर्शन उत्पन्न होने के बाद जीव का ज्ञान “सम्यक् ज्ञान” कहा जाता है ।

सम्यक् ज्ञान के पाँचो भेदों का “मति, श्रुति, अवधि, मनःप्रयाय और केवल” का स्वरूप यथास्थान पर लिखा जा चुका है । ज्ञान ही आत्मा का असाधारण और अभिन्न मूल लक्षण है । ज्ञान की विकृति को मिथ्या ज्ञान अथवा अज्ञान कहा जाता है । ज्ञान में विकृति मोह और कषाय से पैदा हुआ करती है ।

४—समाधि

मन, वचन और काया की प्रवृत्तिमय चंचलता को हटा कर इन्हे

१२—सौध्वी

वह आदर्श महिला, जो कि पाच समिति और तीन गुप्ति का निर्दोष राति से परिपालना करती हुई अपने जीवन में ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना करती हो।

१३ साधु

वह आदर्श पुरुष; जो कि पाच समिति और तीन गुप्ति का निर्दोष राति से परिपालना करता हुआ अपने जीवन में ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना करता हो।

१४—सामायिक

अमुक समय के लिये अथवा जीवन पर्यन्त के लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना करते हुए सदोष प्रवृत्ति का त्याग करके निर्दोष व्यवहार का आराधना ही “सामायिक” है। सामायिक दो प्रकार की कही गई है —

(१) अमुक समय तक के लिये मर्यादित समय की; यह सामायिक गृहस्थो के लिये कही गई है। इसमें दो करण और तीन योग से पाप की निवृत्ति की जाती है।

(२) जो सामायिक जीवन पर्यन्त के लिये ग्रहण की जाती है; वह साधु-सामायिक कहलाती है और यह तीन करण और तीन योग द्वारा ग्रहण की जाती है।

१५—सावद्य-योग

मन, वचन और काया की दोष वाली प्रवृत्ति; एवं पापमय व्यवहार ही सावद्य-योग है।

(१) मन द्वारा अनिष्ट विचार किया जाना और पर के लिये हानिकारक विचारों को ही सोचते रहना “मन-सावद्य-योग” है।

(२) पर को हानि पहुंचानेवाली भाषा बोलना, झूठ बोलना, मर्मघातक शब्द बोलना; अनीतिपूर्ण बोलना, “वचन-सावद्य-योग” है।

(३) शरीर द्वारा पर को हानि पहुंचानेवाली प्रवृत्ति करना, हिंसा, चोरी, मत्थन, परिग्रह संग्रह आदि ढंग की पापपूर्ण प्रवृत्ति करना, गरीबों का

आस्था कोष]

ओषण करना; गैर-जबाबदारी के साथ अदिवेकपूर्ण कार्य करना, “काय सावध-योग” है ।

१६—सिद्ध

जो महापुरुष “संवर और निर्जरा” की आराधना करके आठों ही कमों का परिपूर्ण क्षय कर देते हैं और यथास्यात चारित्र के बल पर अरिहंत होकर मोक्ष में जाते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं । इन्हे ही ईश्वर और परमात्मा कहा जाता है ।

पन्द्रह प्रकार से सिद्ध होते हैं, और वे इस प्रकार हैं —

(१) तीर्थंकर होकर जा सिद्ध होते हैं; वे तीर्थंकर सिद्ध हैं; जैसे कि—ऋषभ, महावीर आदि ।

(२) सामान्य केवली होकर जो सिद्ध होते हैं; वे अतीर्थंकर सिद्ध हैं — जैसे कि—जबू स्वामी आदि ।

(३) चतुर्विध सघ की स्थापना होने के बाद जो सिद्ध होते हैं, वे तीर्थ सिद्ध हैं । जैसे कि — गौतम आदि गणधर ।

(४) चतुर्विध सघ की स्थापना से पूर्व ही जो सिद्ध होते हैं, वे अतीर्थ सिद्ध हैं; जैसे कि “मरुदेवी” आदि ।

(५) गृहस्थ के वेष में ही जिन्होंने सिद्धि पाई है, वे “गृहस्थलिंग सिद्ध” हैं, जैसे कि भरत चक्रवर्ती आदि ।

(६) सन्यासी आदि अन्य वेष द्वारा मुक्ति पानेवाले “अन्यलिंग-सिद्ध” कहलाते हैं । जैसे कि “बल्कल चोरी-साधु” आदि ।

(७) जैन-परम्परा के अनुसार वेष धारण करते हुए मोक्ष पाने वाले “स्वलिंग सिद्ध” हैं, जैसे कि—गजसुकुमार आदि !

(८) “स्त्रीलिंग” में सिद्ध होने वाले “स्त्रीलिंग सिद्ध” हैं, जैसे कि चन्दन वाला आदि ।

(९) “पुरुषलिंग” में सिद्ध होने वाले “पुरुषलिंग सिद्ध” हैं, जैसे कि गौतम आदि !

(१०) “नपुंसक लिंग” में सिद्ध होने वाले “नपुंसक लिंग-सिद्ध” हैं, जैसे कि भीष्म आदि ।

(११) किसी भा अनित्य पदार्थ को देख कर विचार करते करते ज्ञान प्राप्त हुआ और तत्पश्चात् केवल ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त हुए हो, ऐसे “प्रत्येक बुद्ध” सिद्ध कहलाते हैं, जैसे करकडु राजा ।

(१२) स्वयमेव ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त किया हो, ऐसे “स्वयंबुद्ध सिद्ध” कहलाते हैं जैसे कपिल आदि ।

(१३) गुरु उपदेश से ज्ञानी होकर सिद्ध हुए, वे “बुद्ध-बोधित सिद्ध” कहलाते हैं, जैसे अर्जुन माली आदि ।

(१४) एक समय में एक ही मोक्ष जाने वाले “एक सिद्ध” कहलाते हैं, जैसे महावीर स्वामी आदि ।

(१५) एक समय में अनेक मुक्त होने वाले “अनेक सिद्ध” कहलाते हैं, जैसे ऋषभदेव स्वामी आदि । ये उपरोक्त भेद ससारी स्थिति तक ही हैं, सिद्ध होने के पश्चात् मोक्ष में पहुँच जाने के बाद किसी भी प्रकार का भेद वा अन्तर नष्ट रह जाता है ।

१७—सूत्र

अनेक शब्दों द्वारा कहे जाने वाले, विस्तृत और गभीर अर्थवाले वाक्यों को बुद्धिमाना के साथ उसके संपूर्ण अर्थ की रक्षा करते हुए अति थोड़े शब्दों में ही, न्यून से न्यून शब्दों में ही गूँथ देना अथवा सग्रथित कर देना “सूत्र-रचना” है । ऐसी शब्द रचना सूत्र कहलाती है, जो कि अति थोड़े शब्दों वाली होती हुई भी विस्तृत और गभीर अर्थ रखती हो ।

संपूर्ण जैन-आगम शब्द-रचना की शैली से अति सूक्ष्म होते हुए भी अर्थ के दृष्टिकोण से विस्तृत और गभीर है, इसीलिए इनका एक सज्ञा सूत्र भी समाज में प्रसिद्ध और रूढ़ हो गई है ।

१८—संत

महती शांति को धारण करने वाला ऋषि-मुनि संत कहलाता है

१९—सयति

पाचों इन्द्रियो और मन के विकारो पर पूरी तरह से विजय प्राप्त करने वाला मुनि अथवा आदर्श पुरुष 'सयति' कहलाता है ।

२०—सयम

पाँचो इन्द्रियो और मन के विकारो पर पूरी तरह से अथवा वच्छा तरह से विजय प्राप्त कर लेना ही सयम है । अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, का त्याग करना भी 'सयम' ही कहलाता है ।

२१—सयमासयम

श्रावक और श्राविकाओ का चारित्र्य 'सयमासयम' ही कहलाता है ।

२२—संयोग

पुण्य के उदय से प्राप्त होनेवाला योग अथवा अच्छा प्रसंग ।

२३—संलेखना

यह एक विशेष प्रकार की जीवन-पर्यंत की पाप-दोषों की स्पष्ट वार-खुली आलोचना और प्रायश्चित्त है । जब जीवन का अंत अति निकट वापस जान लिया जाता है, तब इसका आचरण किया जाता है । इसमें सभी प्रकारके आहार, ममता और परिग्रह से पूर्णतया सबंध विच्छेद कर लिया जाता है, निर्दोष स्थान पर विधि अनुसार शय्या बिछाकर शेष जीवन पर्यंत के दिवसों आहार आदि का त्याग कर गुरु आदि के सम्मुख जीवन भर के पापों का साफ साफ वयान किया जाता है, उनके लिए क्षमा और पूरा पूरा खेद प्रकट किया जाता है । जीव-मात्र के साथ क्षमा मांगते हुए उनसे मैत्रा संबंध जोड़ा जाता है । तीन कारणों और तीन योग से आहार आदि सभी प्रवृत्तियों का त्याग करके शेष जीवन में ईश्वर-भजन और आत्म-चितन में पूरी पूरी तरह से सलग्न हो जाना पड़ता है । मृत्यु के प्रति सर्वथा अनासक्त और निरदोष भावना रखते हुए समय व्यतीत करना पड़ता है । यही संलेखना व्रत है । इसके पांच दाप हैं जो कि जानने योग्य हैं किन्तु आचरण योग्य नहीं हैं । वे इस प्रकार हैं —

(१) सलेखना के जीवन में न त। इस लोक सबधी सुख-वन, राज्य और ऋद्धि की कामना करे ।

(२) और न परलोक सबधी देवता आदि से सबधित, सुख की भावना करे ।

(३) यश आदि के लिये विशेष जीवित रहने की भावना भी नहीं रखे ।

(४) सलेखना से जनित कष्ट उपसर्ग आदि से छुटकारा पाने के लिये घोर मृत्यु की कामना भी नहीं करे ।

(५) मेरी संलेखना तपस्या सच्ची हो तो मुझे आगे पांचो इन्द्रियो के भोगों की और सुख की प्राप्ति होवे ऐसा नियाणा भा नहीं करे ।

२४—सवर

आते हुए नवीन कर्म को रोकने वाले आत्मा के परिणाम को “भाव-सवर” कहते हैं और कर्म-पुद्गलो की रुकावट को “द्रव्य संवर” कहते हैं !

सवर के सत्तावन भेद कहे गये हैं; वे इस प्रकार हैं:—

पाच समिति, तीन गुप्ति, बाइस परिपह, दस प्रकार का यति धर्म, बारह भावना, और पाच प्रकार का चारित्र, इस प्रकार ५७ भेद हैं ।

२५—सवेग

सासारिक भोग, सुख-सामग्री के प्रति उनके घातक परिणामों पर विश्वास करते हुए मोक्ष की अभिलाषा रखना “सवेग” है ।

२६—संस्कृति

देशगत, अथवा जाति गत, अथवा धर्म गत सपूर्ण व्यवहार, विचार, जीवन-प्रणालि, और सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का सम्मिलित नाम ही “संस्कृति” है । जैसे कि भारतीय संस्कृति, जैन संस्कृति आदि ।

२७—स्थविर

दार्ढ्य कालीन दीक्षित एवं वृद्ध, अनुभवी और योग्य साधु “स्थविर” कहलाते हैं ।

२८—स्थायर

जो जीव एकेन्द्रिय है और केवल शरीर नामक इन्द्रिय से ही अपना सारा जीवन-व्यवहार चला लेते हैं, वे जाव स्थावर कहलाते हैं । स्थावर के ५ भेद हैं:—१ पृथ्वी काय, २ अप काय, ३ तेज काय, ४ वायु काय, ५ वनस्पति काय, ।

२९—स्थित प्रज्ञ

जिसकी बुद्धि, मन, और इन्द्रियाँ चंचल नहों होती हो, जो विषय और विकार द्वारा आकर्षित नहीं होता हो, जो सदैव विना यश-कीर्ति, और सन्मान की इच्छा रखे ही अनासक्त भाव से स्व-पर-हित में सलग्न रहता हो, वही स्थित प्रज्ञ कहलाता है ।

३०—स्थिति बंध

आत्मा के प्रदेशों के साथ द्वय पानी की तरह मिले हुए कर्म-प्रदेशों का आत्मा के साथ अमुक समय तक बने रहना, आत्म-प्रदेशों के साथ मर्यादित समय तक घुले मिले रहना अथवा बंधे रहना ही स्थिति बंध है । जैसे औषधि का बना हुआ लड्डू कई महीने तक रह सकता है; कोई छः महीने तक और कोई साल भर तक; वैसे ही कोई कर्म अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, तो कोई ७० करोड़ करोड़ी सागरोपम तक रहता है; तो कोई वर्ष तक । इसी को स्थिति बंध कहते हैं ।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय की, चारों की उत्कृष्ट स्थिति तीस करोड़ करोड़ी सागरोपम की है । मोहनीय की ७० करोड़ करोड़ी सागरोपम की है । नाम, गोत्र कर्म की बीस करोड़ करोड़ी सागरोपम की है और आयु की तेतीस सागरोपम की है ।

जघन्य स्थिति इस प्रकार की है:—वेदनीय की बारह मुहूर्त की; नाम-गोत्र की आठ मुहूर्त की और शेष पाँच कर्मों की अन्तर्मुहूर्त का है ।

३१—स्पर्श

शरीर इन्द्रिय का घर्मे और सुख, स्पर्श कहलाता है, और उसके आठ भेद हैं, वे इस प्रकार हैं:—१ गुरु, २ लघु, ३ मृदु, ४ खर, ५ शीत, ६ उष्ण, ७ स्निग्ध, और ८ रुक्ष ।

३२—स्मृति

पाचो इन्द्रियो और मन द्वारा जाने हुए एवं अनुभव किये हुए पदार्थ का याद आ जाना ही "स्मृति" कहल्युती है । स्मृति मतिज्ञान का ही भेद है ।

३३—स्याद्वाद

एकान्त एक दृष्टि कोण से ही पदार्थों का विवेचन, ज्ञान और अनुभव नहीं करते हुए अनेक दृष्टि कोणों से पदार्थों का, और द्रव्यों का विवेचन करना, उनका ज्ञान करना और उनका अनुभव करना ही "स्याद्वाद" है ।

स्याद्वाद को अपेक्षा वाद, अनेकान्त वाद भी कहते हैं । इसके सात भागें "अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य" इन तीन शब्दों के आधार से बनते हैं । ज्ञान और नय का सम्मिलित नाम ही स्याद्वाद है । स्याद्वाद के सबध में विशेष इसी पुस्तक की भूमिका से समझना चाहिये ।

क्षेत्र

१—क्षेत्र

क्षेत्र के दो भेद हैं:—१ द्रव्य क्षेत्र और २ भाव क्षेत्र ।

(१) भौतिक पदार्थों और जड़ द्रव्यों की पृष्ठ-भूमि को ख्याल में रखकर कहा जाने वाला विवेचन प्रणालि "द्रव्य-क्षेत्र" से सबधित मानी जाती है ।

(२) आत्मा से सबधित पृष्ठ भूमि को ख्याल में रखकर कही जाने वाली विवेचन प्रणालि "भाव-क्षेत्र" के नाम से बोली जाती है ।

त्र

१—त्रस

जो जीव भूख, प्यास, सर्दी, गरमी आदि से अपनी रक्षा करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता हो, वह त्रस कहलाता है ।

त्रस के ४ भेद हैं—१ दो इन्द्रिय जीव-२ तीन इन्द्रिय जीव, ३ चार इन्द्रिय जीव और ४ पाच इन्द्रिय जीव !

शरीर और जीभ वाले जीव दो इन्द्रिय जीव हैं, जैसे केचुआ, जोक और शख आदि । शरीर, जीभ और नाक वाले जीव तीन इन्द्रिय जीव हैं, जैसे कि चींटी, खटमल, जूँ आदि । शरीर, जीभ, नाक और श्राँख वाले जीव चार इन्द्रिय हैं, जैसे कि बिच्छू, भौरा, मक्खी, मच्छर आदि । पचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं, एक तो मन वाले; जो कि सजी कहलाते हैं और दूसरे बिना मन वाले, जो कि असजी कहलाते हैं ।

पचेन्द्रिय जीव के शरीर, जीभ, नाक, आख और कान-ये पाँचो इन्द्रियाँ होती हैं ।

संजी जीवो में नारकीय जीव, देवता, मनुष्य, और पशु पक्षी, तथा जल-चर पंचेन्द्रिय जीव माने जाते हैं ।

ज्ञ

१—ज्ञान

जिस शक्ति द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाना जाता हो, पदार्थों का निश्चय किया जाता है, वह ज्ञान है । ज्ञान आत्मा का मूल और अभिन्न लक्षण है ।

मिथ्या दृष्टि का ज्ञान “अज्ञान” कहा जाता है और सम्यक्-दृष्टि का ज्ञान “सम्यक् ज्ञान” बोला जाता है ।

ज्ञान के पाँच भेद हैं—१ मति ज्ञान, २ श्रुति ज्ञान ३ अवधि ज्ञान, ४ मन. पर्याय ज्ञान और ५ केवल ज्ञान । इनका स्वरूप यथा स्थान पर लिखा जा चुका है ।

अज्ञान के ३ भेद हैं—१ मति अज्ञान, २ श्रुति-अज्ञान और ३ कुअवधि अथवा विपरीत अवधि ज्ञान ।

सम्यक् ज्ञान का ही नाम—प्रमाण है । प्रमाण के दो भेद किये हैं— १ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष ।

उपरोक्त पाँचो भेद प्रत्यक्ष के ही समझना चाहिये । इसी प्रकार परोक्ष के भी जो पाँच भेद-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम किये जाते हैं उनका भी मति ज्ञान और श्रुति ज्ञान में अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए ।



